अमूर्त्त चिन्तन

(चिन्तन अचिन्तन का)

युवाचार्य महाप्रज्ञ

तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन

संपादक

मुनि दुलहराज

संकलक

समणी स्थितप्रज्ञा

प्रकाशन सहयोग श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महिला मण्डल, बम्बई (वृहत्तर) के आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित ।

प्रथम संस्करण : जनवरी, १९८८

मूल्य : बाईस रुपये/प्रकाशक : तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)/मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६ ।

AMURTA CHINTAN

Yuvacharya Mahaprajna

Re. 22.00

आशीर्वचन

मनुष्य की जीवन-शैली उसके चिन्तन पर निर्भर है। उसकी शरीर-संरचना, कार्यपद्धति और व्यक्तित्व की निर्मिति का आधार भी उसका चिन्तन है। वह जैसा सोचता है, वैसा वन जाता है। उसकी वृत्तियो, नीतियों और व्यवहारो पर भी उसके चिंतन का प्रभाव रहता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्ल सिमोंटोन के अनुसार पॉजिटिव थिंकिग के प्रभाव वहुत आश्चर्यकारक होते है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि मनुष्य जो कुछ सोचे, पूरे मन से सोचे और समझपूर्वक सोचे। यह पूर्ण एवं सुविचारित सोच मनुष्य के व्यक्तित्व का वहुत वड़ा हिस्सा है।

विचारो के आधार पर व्यक्तित्व परिवर्तन की वात कोई माने, न माने, हम अपना अभिप्राय किसी पर थोपना नही चाहते। पर जिन लोगो को यह विश्वास न हो, वे युवाचार्य महाप्रज्ञ की अनुभूत कृति **'अमूर्त्त चिन्तन'** पढ़े और अपनी धारणाओ के जगल को काटकर अनुभवो की नई पौध उगाएं।

आत्महीनता से उपजी कुंठाओ और विकृतियों को तोड़कर संतुलित जीवन जीने के लिए अनुप्रेक्षा और भावना का प्रयोग अमोघ सिद्ध हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक मे यही सव कुछ रूपायित है। अपनी सुवोधता और वैज्ञानिकता के आवार पर यह पुस्तक किसी भी वर्ग की प्रवुद्ध पीढी को आगे वढ़ाने मे समर्थ है।

महाप्रज्ञजी का साहित्य उत्तरोत्तर अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। इस साहित्य के पाठक अपनी ज्ञान चेतना और अनुभव चेतना पर आए आवरण को तोड़कर अपने भीतर एक नए मनुष्य को जन्म देने मे सफल हों, यही इस लोकप्रियता की सार्थकता है।

अणुव्रत भवन, नई दिल्ली
११ जनवरी, १९८८

-आचार्य तुलसी

प्रस्तुति

हमारे जगत् का अर्थ है—इन्द्रिय चेतना और मूर्त पदार्थ का गठवंधन हमारा ज्ञान इन्द्रियो की परिधि मे केन्द्रित है। जो पदार्थ है, वह शब्द, रूप गंध, रस और स्पर्श की परिधि मे अवस्थित है। पांच इन्द्रियां और ये पाच विषय इतना छोटा सा है—हमारा जगत्। वास्तव मे यह जगत् इतना छोटा नही है। यह वहुत वडा है। इन्द्रियो की शक्ति वहुत सीमित है। वे मूर्त पदार्थ को जानती है, पर उन्ही को जो स्थूल है। परमाणु मूर्त है। इन्द्रियां उन्हे नही जान सकती। अनन्त परमाणु मिले। एक स्कध वन गया। उसकी परिणति सूक्ष्म है। इन्द्रियां उसे भी नही जान सकती। इन्द्रियां केवल उसी पदार्थ को जानती है जो अनन्त-अनन्त परमाणुओ से वना हुआ स्कंध है, और जिसकी परिणति स्थूल हो गई है। वे सारे मूर्त जगत् को भी नही जानती तव अमूर्त्त जगत् को जानने का तो प्रश्न ही नही उठता।

अमूर्त्त तत्व शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श से अतीत होते हैं। उनके परमाणु (प्रदेश) पुद्गल के परमाणुओ से भिन्न है। इसीलिए एक इन्द्रिय-ज्ञानी का अमूर्त्त को जानने का प्रयत्न सफल नही होता। वह परम अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है। सामान्य अतीन्द्रिय ज्ञानी भी उसे नही जान सकता। परम अतीन्द्रिय ज्ञानी ही उसे जान सकता है।

धर्म का पहला विन्दु है—अतीन्द्रिय चेतना। इन्द्रिय चेतना वाला धर्म का मूल्य नही आंक सकता। धार्मिक वही होता है, जो मूर्त्त के साथ अमूर्त्त का भी मूल्याकन करता है। मनुष्य सामाजिक है। वह समाज से वनता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह सचाई है। अस्तित्व की दृष्टि से यह सत्य नही है।

अस्तित्व की दृष्टि से वह अकेला है। सामाजिक दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य सहयोग का जीवन जीता है। एक दूसरे को आश्वासन और शरण देता है। किन्तु वास्तविक सचाई इससे भिन्न है। प्रत्येक आत्मा अपने ही सत्-आचरण से अपने आपको त्राण दे सकती है, अपना त्राण वन सकती है। इस प्रकार हमारा व्यक्तित्व व्यावहारिक सचाइयो और वास्तविक सचाइयों का योग है।

व्यावहारिक सचाइयो का चिन्तन से सीधा सम्वन्ध जुडता है। आन्तरिक सचाइयो का क्षेत्र परमार्थ है, वह चिन्तन मे परे है। यह विपर्य-

मर्यादा है चिन्तन और अचिन्तन की, मूर्त्त और अमूर्त्त की। परमार्थ का भी चिन्तन की भूमिका पर अवतरण होता है। फिर भी वह अपने अमूर्त्त रूप को बनाए रखता है। मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो के क्षेत्र बहुत विशाल हैं, पर इन्द्रियज्ञानी की परिधि मे जीने वालो के लिए अमूर्त्त का क्षेत्र बहुत बड़ा नही है। इसीलिए वे मूर्त्त चिन्तन को जितना महत्व देते है, उतना अमूर्त्त चिन्तन को नही देते। परमार्थ का सूर्य प्रायः स्वार्थ के बादलो से ढका रहता है। जिन मनुष्यो ने तमस् से ज्योति की ओर प्रस्थान किया अथवा जो लोग उस दिशा मे प्रस्थान करना चाहते है, उनके लिए मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर जाना अनिवार्य है। उस अनिवार्यता को प्रस्तुत पुस्तक मे आकार दिया गया है।

इस पुस्तक के संकलन मे समणी स्थितप्रज्ञा ने बहुत श्रम किया है। अनेक पुस्तकों मे बिखरे हुए विषयो को सकलित कर एक उपयोगिता निर्मित की है। विभिन्न कारणो से मानसिक कठिनाइयां भुगतने वाले लोगो के लिए यह एक समाधान है और जो मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य बनाए रखना चाहते हैं, उनके लिए यह एक संजीवन है। मुनि दुलहराज जी ने इसका संपादन कर प्राचीन परंपरा से प्राप्त अनुप्रेक्षा को नए संदर्भ मे सजोया है। इससे पाठक को बहुत आश्वासन मिल सकेगा।

आचार्यश्री तुलसी ने प्रेक्षाध्यान के प्रति अपनी जो तन्मयता प्रगट की है, जिस प्रकार जन-जन को उसकी ओर मोड़ने का प्रयत्न किया है, उसकी सार्थकता सिद्ध होगी और उनका सार्थक आशीर्वाद जन-जन तक पहुच सकेगा।

—युवाचार्य महाप्रज्ञ

८.१.८८
अणुव्रत भवन
नई दिल्ली—१

अनुक्रम

अनुप्रेक्षा : प्रयोग और पद्धति

अनुप्रेक्षा और भावना

ध्यान का अर्थ है प्रेक्षा, देखना। उसकी समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयो का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिन्तन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित होता है, इसलिए उस चिन्तन या अभ्यास को भावना कहा जाता है।

जिस व्यक्ति को भावना का अभ्यास हो जाता है उसमे ध्यान की योग्यता आ जाती है। ध्यान की योग्यता के लिए चार भावनाओं का अभ्यास आवश्यक है :

१. ज्ञान भावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से जानने का अभ्यास।

२. दर्शन भावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव मे देखने का अभ्यास।

३. चारित्र भावना—राग-द्वेप और मोह से शून्य समत्वपूर्ण आचरण का अभ्यास।

४. वैराग्य भावना—अनासक्ति, अनाकाक्षा और अभय का अभ्यास।

मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है, उसी रूप से उसका सस्कार निर्मित हो जाता है। यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। इसे 'जप' भी कहा जा सकता है। आत्मा की भावना करने वाला आत्मा मे स्थित हो जाता है। 'सोऽहं' के जप का यही मर्म है। 'अर्हम्' की भावना करने वाले मे 'अर्हम्' होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कोई व्यक्ति भक्ति से भावित होता है, कोई ब्रह्मचर्य से और कोई सत्संग से। अनेक व्यक्ति नाना भावनाओं से भावित होते है। जो किसी भी कुशल कर्म से अपने को भावित करता है, उसकी भावना उसे लक्ष्य की ओर ले जाती है।

साधनाकाल मे ध्यान के बाद स्वाध्याय और स्वाध्याय के बाद फिर ध्यान करना चाहिए। स्वाध्याय की सीमा मे जप, भावना और अनुप्रेक्षा—इन सबका समावेश होता है। यथासमय और यथाशक्ति इन सबका प्रयोग आवश्यक है। ध्यान शतक मे बताया गया है कि ध्यान को संपन्न कर अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास करना चाहिए। ध्यान मे होने वाले विविध अनुभवो मे चित्त का कही लगाव न हो, इस दृष्टि से अनुप्रेक्षा के अभ्यास का बहुत महत्व है। धर्मध्यान के पश्चात् चार अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास किया

जाता है—

१. एकत्व अनुप्रेक्षा
२. अनित्य अनुप्रेक्षा
३ अशरण अनुप्रेक्षा
४ ससार अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा

प्रेक्षा-ध्यान का दूसरा अग है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—ध्यान मे जो कुछ हमने देखा, उसके परिणामो पर विचार करना। 'अनु' का अर्थ है—बाद मे होने वाला। ध्यान मे जो देखा, प्रेक्षा मे जो देखा, देखने के बाद उसकी प्रेक्षा करना, परिणामो पर विचार करना, यह है अनुप्रेक्षा। 'अनु' अर्थात् बाद मे, प्रेक्षा अर्थात् विचार करना। जैसे—हमने देखा कि शरीर के अमुक भाग मे स्पन्दन हो रहा है। परमाणु आ रहे है, जा रहे है। परमाणुओ का उपचय हो रहा है, अपचय हो रहा है। परमाणु घट रहे है, बढ रहे है। यह सारा देखा। अब सोचना है, उसका परिणाम क्या होगा? हम अनित्य अनुप्रेक्षा करेगे कि जहा परमाणुओ का स्पन्दन है, आना-जाना है, वह नित्य नही हो सकता। अनित्य होगा। हम समझ लेगे कि शरीर अनित्य है। शरीर अनित्य है—इसे जानने का आधार क्या है? इसे जानने का आधार है प्रेक्षा। जब हमने प्रेक्षा मे यह देखा कि शरीर में स्पन्दन है, कंपन है, गति है, परमाणुओ का आना-जाना है, परमाणुओ का चय-अपचय है, इसका अर्थ है कि वह अनित्यधर्मा है। इस अनित्यता का अनुभव करना, विचार करना, चिन्तन करना—यह है अनित्य अनुप्रेक्षा।

जीवन-विज्ञान का एक महत्वपूर्ण प्रयोग है—अनुप्रेक्षा। सचाइयो को ज्ञात करने के लिए प्रेक्षा बहुत महत्वपूर्ण है, किन्तु आदतो को बदलने के लिए अनुप्रेक्षा को 'सजेस्टोलॉजी' कहा जा सकता है। अनेक वैज्ञानिक इस पद्धति का प्रयोग करते है। चिकित्सा के क्षेत्र मे इसका प्रयोग हो रहा है। 'सजेशन' दो प्रकार से दिया जा सकता है। स्वयं व्यक्ति स्वयं को सजेशन (सुझाव) देता है या अन्य व्यक्ति के सजेशन को स्वयं सुनता है। दोनों प्रकार प्रचलित है। इन सुझावो के द्वारा अकल्पित बातें घटित हो जाती है।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग सुझाव पद्धति का प्रयोग है। यह 'आटोसजेशन'—स्वयं को स्वय के द्वारा सुझाव देने की पद्धति है।

एक आदमी यदि प्रतिदिन सप्ताह तक यह सुझाव दे कि मैं बीमार हूं, तो निश्चित ही वह बीमार हो जाएगा। दूसरा व्यक्ति यदि यह सजेशन देता है कि मै स्वस्थ हूं, मैं स्वस्थ हूं तो वह स्वास्थ्य का अनुभव करने लग जाएगा। सुझाव की पद्धति को समझकर सुझाव दे, बार-बार सुझाव दें तो

स्वास्थ्य बढता चला जाएगा।

अनुप्रेक्षा की पद्धति स्वभाव परिवर्तन की अचूक पद्धति है। इसके द्वारा जटिलतम आदत को बदला जा सकता है। आदत चाहे शराब पीने की हो, तम्बाकू सेवन की हो, चोरी की हो, झूठ और कपट की हो, बुरे आचरण और बुरे व्यवहार की हो, अनुप्रेक्षा पद्धति से उसमे परिवर्तन किया जा सकता है। जीवन-विज्ञान की पद्धति मे 'प्रेक्षा', 'अनुप्रेक्षा' के प्रयोग कराए जाते है। पढाया कुछ भी नही जाता। न कोई पुस्तक, न कोई भाषा, न कोई साहित्य, न कोई शोध या समीक्षा, न इतिहास, न गणित, न भूगोल, न विज्ञान। कुछ भी नही। केवल प्रयोग और केवल प्रयोग। प्रयोग के लिए साधन चाहिए। ये साधन बाहर से उपलब्ध करने की जरूरत नही है। ये अपने पास है शरीर, वाणी, श्वास और वर्ण (रंग)—ये सब हमारे पास है। बस, केवल इनका प्रयोग करना है। कहा और कैसे प्रयोग करना है, यह सीखना पडता है। हमारे पास सब कुछ है। केवल अपेक्षा है सही संयोजन की। उनका कब, कहा, कैसे संयोजन किया जाए। जो व्यक्ति इसको जान लेता है वह अपने भीतर की शक्तियो का, बिजली और रसायनो का, श्वास का सही संयोजन कर जीवन की अनेक समस्याओ को हल करना जान लेता है।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण है असत् से बचने के लिए। सारा जप का विकास इसी आधार पर हुआ है। अनुप्रेक्षा के सिद्धांत के आधार पर जप का विकास हुआ है। इष्ट का जप करो, मन्त्र का जप करो, क्योकि शुभ भाव और शुभ विचार तुम्हारे मन मे रहेगा तो अशुभ भाव को जागने का मौका नही मिलेगा। इसीलिए मन्त्र का आलम्बन लिया गया। कुछ लोग अध्यात्म साधना के क्षेत्र मे मन्त्र की उपयोगिता नही मानते। पर हमारा विश्वास है कि मन्त्र की भी बहुत बड़ी उपयोगिता है, उसे नकारा नही जा सकता, अस्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि हम सीधे वीतराग तो बन नही सकते। सीधे छलाग वाली बात कम घटित होती है। कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है कि सीधी छलाग लगा सकता है। कोई-कोई ऐसा हो सकता है कि छत पर से सीधे नीचे छलाग लगा सकता है, पर हर कोई लगाने लग जाये तो फिर सीढ़ियो की जरूरत क्या है? फिर सीढ़िया लगानी निरर्थक है। पर सब छलागे लगाने लग जाएगे तो शायद हॉस्पीटल मे स्थान भी खाली नही मिलेगा। बडी मुसीबत पैदा हो जाएगी। छलाग की बात सार्वजनिक बात नही हो सकती। कदाचित हो सकती है, अपवाद स्वरूप हो सकती है सीधे वीतरागता की भूमिका मे चले जाने की बात एक छलाग की बात है हमे सीढियो के सहारे चलना पड़ेगा। आदमी सीढ़ी के सहारे चढेगा, ऊपर पहुचेगा। सीढ़ियो मे दोनो बाते होती है। एक ही सीढ़ी बनी हुई है। उससे ऊपर भी चढ़ा जा सकता है, नीचे भी आया जा सकता है। ऐसा नही होता

कि ऊपर जाने के लिए सीढिया अलग बनती है और नीचे आने के लिए सीढिया अलग बनती है। उसी सीढी से ऊपर चढा जा सकता है और उसी सीढी से नीचे आया जा सकता है। हमारी एक ही भावधारा है। उसी भावधारा से ऊपर चढा जा सकता है और उसी भावधारा से नीचे उतरा जा सकता है। हमारी भावधारा जब सत् के साथ जुडती है तब हम ऊपर चढ सकते है, हमारा आरोहण हो सकता है। ज्यो-ही भावधारा असत् के साथ जुड़ती है तब अवरोहण शुरू हो जाता है, आदमी नीचे उतर आता है। जप का विकास, मन्त्र का विकास, इसी भावना के आधार पर हुआ था कि एक ऐसा आलम्बन बना रहे जिससे बुरे भावो को आने का अवसर कम से कम मिले।

भ्रान्तियों का विघटन

मिथ्या कल्पनाओ को तोडने के लिए प्रेक्षा-ध्यान पद्धति मे अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है। दो शब्द है। एक है प्रेक्षा और एक है अनुप्रेक्षा। मैं बहुत दिनो से सोचता था कि प्रेक्षा के पीछे 'अनु' का प्रयोग क्यो किया गया है? इसे सोचते-सोचते जो एक बात सूझी वह यह है कि जो सचाई है, उसे देखना, उसका विमर्श करना अनुप्रेक्षा है। सचाई को देखो। उसे अपनी धारणा से मत देखो। मछली ने धारणा बना ली कि आदमी वह होता है जिसका सिर नीचे और पैर ऊपर होते है। इसी धारणा से वह आदमी को देखती थी। यह अनुप्रेक्षा नही है। अपनी धारणा से मत देखो। सस्कार की दृष्टि से मत देखो। काल्पनिक दृष्टि से मत देखो। केवल सचाई को देखो, वास्तविकता को देखो। यथार्थ को देखो। जो सत्य है, जो घटना घटित हो रही है, उसी को देखो। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—सत्य के प्रति अनुप्रेक्षा अर्थात् यथार्थ के प्रति अनुप्रेक्षा, वस्तु के प्रति अनुप्रेक्षा। उधारी धारणा से काम मत लो, किन्तु जो घटना है, जो वास्तविकता है, जो सचाई है, उसी को देखो। इस प्रकार अनुप्रेक्षा का तात्पर्य है कि हम अपनी धारणाओ को एक बार निकाल दे। अपनी पूर्व-मान्यताओ को छोड दे और फिर जो सचाई है, यथार्थ है, उसको देखे। प्रेक्षा-ध्यान पद्धति मे इस अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है कि हम रूढियो को, सस्कारों को, धारणाओं को छोडकर, वास्तव मे सचाई को देखना सीख सके। यह सबसे बडी कठिनाई है कि मनुष्य सचाई को नही देखता। वह सबसे पहले अपनी धारणाओ का चश्मा लगा लेता है और बाद मे देखता है। यदि वह ठीक नही जचता है तो वह उसे तोडने-मरोडने का प्रयत्न करता है।

अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त सत्य के लिए समर्पित हो जाने का सिद्धान्त है। सत्य के लिए पूर्णरूपेण समर्पित हो जाओ। अपनी किसी भी धारणा को महत्त्व मत दो। जो सचाई है उसे ग्रहण करो, स्वीकार करो

यह है अनुप्रेक्षा।

सुना होगा, हिमालय के बर्फ पर साधक नग्न होकर बैठा है। चारों ओर बर्फ ही बर्फ है। वह गर्मी का प्रयोग आरम्भ करता है। घंटा बीतता है और साधक के शरीर से पसीना चूने लगता है। बर्फ पर पसीना चूने लग जाता है। यह प्राकृतिक घटना नही है। यदि प्राकृतिक घटना होती तो एक ही आदमी के शरीर से पसीना नही चूता। वहां जितने आदमी होगे, सबके शरीर से पसीना चूएगा। पर एक ही आदमी के शरीर से पसीना चूता है और सब सर्दी मे ठिठुरते है। यह प्राकृतिक घटना नही है। यह ध्वनि का प्रयोग है, संकल्प का प्रयोग है और भावना का प्रयोग है। यह भावनात्मक परिवर्तन है, प्राकृतिक परिवर्तन नही है।

गर्मी के दिन है। भयंकर गर्मी पड़ रही है। लूए चल रही है। साधक सर्दी की भावना करता है, सर्दी का सकल्प करता है और उसके शरीर मे सर्दी व्याप्त हो जाती है। वह ठिठुरने लगता है। वह कबल ओढ़ता है, फिर भी ठिठुरन समाप्त नही होती। यह प्राकृतिक परिवर्तन नही है, भावनात्मक परिवर्तन है।

एक आदमी आज भी जीवित है जो प्रति शुक्रवार को क्रॉस पर चढ़ता है। उसके दोनो हाथो मे घाव हो जाते है। रक्त बहने लग जाता है। हृदय से भी रक्त बहने लगता है। शुक्रवार को ही ऐसा होता है। यह भावनात्मक परिवर्तन है। वह व्यक्ति ईसा मसीह का संकल्प करता है और ऐसा घटित हो जाता है।

पैर मे बिवाई फटती है, पीड़ा होती है। अभी बिवाई फटने का मौसम तो नही है किन्तु आप भावनात्मक प्रयोग करे। बिवाई फटे या न फटे, दर्द प्रारंभ हो जाएगा। यदि भावना से दर्द हो सकता है तो भावना से दर्द मिट भी सकता है। दोनो बाते घटित हो सकती है।

भावना

'कटकात् कंटकमुद्धरेत्'—काटे से काटा निकालने की नीति साधना के क्षेत्र मे भी लागू होती है। चित्त को वासनाओ से मुक्त करना साधक का लक्ष्य होता है, पर पहले ही चरण मे दीर्घकालीन वासनाओ को एक साथ निर्मूल नही किया जा सकता। उन्हे निरस्त करने के लिए नई वासनाओं की सृष्टि करनी होती है। वे नई वासनाए यथार्थपरक होती है, इसलिए उनका असत् से सम्बन्धित वासनाओ पर दबाव पड़ता है और वे उनसे अभिभूत हो जाती है।

वासना का ही दूसरा नाम भावना है। शास्त्रीयज्ञान या शब्दज्ञान का जो सहारा लिया जाता है, वह वासना है। इसे भावना, जप, धारणा;

सस्कार, अनुप्रेक्षा और अर्थचिता भी कहा जाता है और ये सब स्वाध्याय के ही प्रकार है।

जैन साधना पद्धति मे 'भावनायोग' शब्द का व्यवहार हुआ है। भावना मे मन आत्मा या सत्य से युक्त होता है, इसलिए यह योग है। भावना मे ज्ञान और अभ्यास—इन दोनो के लिए अवकाश है।

भावना का अर्थ है—सविपय ध्यान। यही इसकी परिभापा है। जब आपके मन मे कोई विपय है, आपने कोई ध्येय चुना है, आप सविपय ध्यान कर रहे है, यह है भावना। भावना, सविपय ध्यान और जप मे कोई अन्तर नही है। तीनो एक है। अपनी उपयोगिता के आधार पर भिन्न-भिन्न नामो का चुनाव हुआ है। तात्पर्य मे कोई अन्तर नही है। जप का अर्थ यह है कि जो जप्य है, जिसका जप करना है, उस जप्य वस्तु के प्रति व्यक्ति का तन्मय और एकाग्र हो जाना। भावना का अर्थ है—भाव्य व्यक्ति या वस्तु के प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। धारणा का अर्थ भी यही है। जिसकी धारणा करनी है उसके प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। सविपय ध्यान भी यही है। विपय के प्रति या ध्येय के प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। जप, भावना, धारणा और सविपय ध्यान—चारो एक कोटि के है। इनमे तात्पर्य-भेद नही है, नाम-भेद है केवल।

भावना नौका है। भगवान् महावीर ने कहा—जिसकी आत्मा भावना-योग से विशुद्ध होती है, वह जल मे नौका की तरह है। वह जब चाहे पार पहुच सकती है। अब इस नौका का उपयोग कैसे हो? वह प्रश्न शेप रहता है। भावना से भावित होना आवश्यक होता है। आप भावित नही होते तब तक वह स्थिति नही बनती। आगमों मे 'भावितात्मा' शब्द आता है। भावितात्मा होने के बाद जो होना होता है, वह हो जाता है। यह सारा एकाग्रता का चमत्कार है। हम जो भी होना चाहते है, हो जाते है। जो घटित करना चाहते है, वह घटित हो जाता है। जिस रूप मे मन को बदलना चाहते है, बदल लेते है। मन एक आकार का होता है। उसमे असख्य पर्याय है। वह भिन्न-भिन्न आकारो मे बदलता है। हम जैसा चाहते है, उसी प्रकार का आकार वह लेना शुरू कर देता है। यह मन की विशेपता है। तन्मयता और एकाग्रता के साथ हमने जो भावना की वैसा ही होना होता है। उसमे कोई अन्तर नही आता। प्रश्न है एकाग्रता का, स्थिरता का। मन बदलता है तो साथ-साथ शरीर भी बदलता है। स्व-सम्मोहन का प्रयोग, ऑटो-सजेशन, अपने आपको सूचना देना, यह अपने आप भावना के द्वारा सम्मोहित हो जाना है। शरीर-प्रेक्षा के द्वारा शरीर के भीतर देखना, फिर संकल्प-शक्ति और भावना के प्रयोग द्वारा बदलने की भावना को अवचेतन मन तक पहुचा देना। यह है रूपान्तरण की प्रक्रिया।

प्रत्येक कोशिका में ज्ञान-केन्द्र है। प्रत्येक कोशिका मे प्रकाश-केन्द्र है, बिजली का कारखाना है। हर कोशिका का अपना एक कारखाना है विद्युत् का, शक्ति का। वे कोशिकाएं अपने ढंग से काम करती हैं। उनको बदलना है, उनको नया जन्म देना है, उनको नया रास्ता देना है तो आपको अपनी भावना को उन तक पहुंचाना होगा।

जब तक हमारी भावना उन तक नही पहुचती तब तक हम नही बदल सकते। उदाहरण लें—एक आदमी अपनी क्रोध की आदत को बदलना चाहता है। सकल्प करता है—मैं क्रोध नही करूगा। बार-बार संकल्प करता है, पर सफल नही होता। संकल्प तो करता है, पर गुस्सा वैसे ही आ जाता है। इससे तो ऐसा लगता है कि यह प्रयोग सार्थक नही है, यह उपाय कारगर नही है। मैं बदलना चाहता हूं फिर भी नही बदलता हूं। कितने ही लोग बुरे काम करते हैं और पछताते हैं। फिर सोचते हैं, फिर ऐसा नही करूंगा। पर ठीक समय आता है, काम हो जाता है। गुस्सा भी आता है, वासना भी सताती है, वृत्तियां भी सताती है। सब अपने समय पर सताने लगते हैं। शराबी शराब को छोड़ने का संकल्प करता है, तम्बाकू का व्यसनी तम्बाकू को छोड़ने का संकल्प करता है, सोचता है, सेवन नही करूंगा, पर समय आता है तो भीतर में ऐसी प्रबल मांग जागती है कि उसका संकल्प धरा का धरा रह जाता है। संकल्प भंग हो जाता है। ऐसा क्यों होता है ? इसलिए होता है कि हम अपने संकल्प को वहां तक पहुंचा नही पाते। बाहर ही बाहर मे देखते है। हम बहुत अभ्यासी है बाहरी बात मे। बाहर को देखते है और सारी कल्पना बाहर ही करते है।

परिवर्तन की प्रक्रिया का दूसरा सूत्र है—भावना का प्रयोग, संकल्प-शक्ति का प्रयोग, अप्रभावित रहने का प्रयोग। यह संतुलन का प्रयोग होता है तो जीवन मे समता घटित होती है और आदमी सौ कदम आगे बढ जाता है।

साधक ध्यान के पूर्व और ध्यान के बाद भावनाओ के अभ्यास का सतत स्मरण करता रहे। उनसे एक शक्ति मिलती है, धीरे-धीरे मन तदनुरूप परिणत होता है, मिथ्या धारणाओ से मुक्त होकर सत्य की दिशा मे अनुगमन होता है और एक दिन स्वय को तथानुरूप प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। भावना और ध्यान के सहयोग से मजिल सुसाध्य हो जाती है। साधक इन दोनो की अपेक्षा को गौण न समझे। सभी धर्मो ने भावना का अवलम्बन लिया है।

भावनाए विविध हो सकती है। जिनमे चित्त की विशुद्धि होती है वे सारी भावनाएं है। आज की भाषा मे भावना का अर्थ है—ब्रेन वाशिंग। इसका अर्थ है—मस्तिष्क की धुलाई। राजनीति के क्षेत्र मे ब्रेन वाशिंग की प्रक्रिया बहुत प्रचलित है। इसका प्रयोजन है, पुराने विचारो की धुलाई कर उनके स्थान पर नए विचारों को भर देना। यह बहुत प्रचलित

प्रक्रिया है। इसका प्रयोग प्रत्येक राष्ट्र करता है।

ओटोजेनिक चिकित्सा पद्धति

संकल्प-शक्ति के विकास के लिए एक और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—सुझाव का, सजेशन या ओटो-सजेशन का। यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। पश्चिम के लोगो ने एक चिकित्सा की प्रणाली का विकास किया है—ओटोजेनिक चिकित्सा पद्धति। इस पद्धति मे स्वतः प्रभाव डालने वाली बात होती है। वे कल्पना करते है और कल्पना के सहारे वैसा अनुभव करते है। इस ओटोजेनिक प्रणाली को योग की भाषा मे भावात्मक प्रयोग कहा जा सकता है। हमारे यहां भावना का प्रयोग चलता था कि हम वैसा अनुभव करे। आप भावना का प्रयोग करे कि यह हाथ ऊपर उठ रहा है। अपने आप उठेगा और अपने आप सिर पर लग जाएगा। आप उठाने का प्रयत्न नहीं करेगे। अपने आप उठेगा और सिर पर लग जाएगा। आप भावना करे कि हाथ भारी हो गया है। आपका हाथ बहुत भारी बन जाएगा। कल्पना करें कि हाथ हलका हो गया है, हलका हो जाएगा। आप भावना करें कि हाथ ठंडा हो रहा है, ठडा हो जाएगा। भावना करे कि हाथ गर्म हो रहा है, हाथ गर्म हो जाएगा। भावना हमारी चेतना को और वातावरण को बदलती है। यह ठीक भावना का प्रयोग है—ओटोजेनिक चिकित्सा पद्धति। इस पद्धति के द्वारा रोगी अपने आप अपने को स्वस्थ करता है। दूसरे मार्ग-दर्शक की बहुत जरूरत नही होती। मात्र वह तो कही-कही सुझाव देता है। रोगी स्वयं अपनी चिकित्सा कर लेता है।

हम भावना को और भावना के प्रयोगो को भूल गए। सुझाव का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक आदमी पीड़ित है किसी भी अवयव की पीडा से। घुटने का दर्द, कमर का दर्द, गर्दन का दर्द—ये तीन स्थान बहुत ज्यादा दर्द के है। भारतीय लोग इनसे पीडित है। ये खास स्थान है। दर्द है, शरीर प्रेक्षा का प्रयोग कर रहे है, उसे देख रहे है। इसके साथ भावना का प्रयोग करे। जहां दर्द है वहा हाथ टिका दे। उसे देखना शुरू कर दे। ध्यान उस पर केन्द्रित कर दे। अंगुली का निर्देश और ध्यान वहा पर केन्द्रित है। दीर्घ-श्वास ले, ध्यान वही टिका रहे, बीच-बीच मे सुझाव दे कि अवयव स्वस्थ हो रहा है। आप प्रयोग करके देखे कि परिणाम क्या आता है! कितना अद्भुत परिणाम आता है! भावना के द्वारा, सुझाव के द्वारा हमारी चेतना बदलना शुरू कर देती है। चेतना मे परिवर्तन होना शुरू हो जाता है। हम आदतों को बदल सकते है। जटिल से जटिल आदत को भावना के प्रयोग के द्वारा बदला जा सकता है। जिस आदत को बदलने मे हजारो उपदेश और हजारों शिक्षाएं काम नही करती, भावना के द्वारा व्यक्ति स्वयं को बदल सकता है

और अपनी चेतना को एकदम नए ढाचे मे ढाल सकता है।

ब्रेन वाशिंग का मुख्य साधन—भावना

भावना मस्तिष्क की धुलाई करने का बहुत बडा साधन है। एक ही बात को बार-बार दोहराते जाएं, उसकी पुनरावृत्ति करते जाएं, ऐसा करते-करते एक क्षण ऐसा आता है कि पुराने विचार छूट जाते है और नए विचार चित्त मे जम जाते है। जब तक हमारी यह धारणा जमी हुई है कि सुख-दुःख देने वाला तीसरा व्यक्ति है, तब तक आदमी का रूपान्तरण नही होता। भावना-योग के द्वारा जब इस विचार की धुलाई हो जाती है, इस विचार को उखाड दिया जाता है, तब सुख-दुःख की कोई भी घटना घटित होने पर आदमी यह नही मानेगा कि सुख-दुःख देने वाला स्वयं के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति है। आदमी फिर यही सोचेगा, मैंने ऐसा ही कोई कृत्य किया है, कोई ऐसा आचरण किया है, उसी का यह परिणाम सामने आ रहा है। पूरी दृष्टि अपनी सीमा मे चली जाएगी। भावना-योग एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है परिवर्तन की, दृष्टि को बदलने की।

प्रश्न होता है, क्या एक बात को बार-बार दोहराने से संस्कार धुल जाता है? नाजियों का यह प्रसिद्ध सूत्र था—एक झूठ को हजार बार दोहराओ वह सच हो जाएगा। हजार बार दोहराने से एक झूठ सच बन सकता है तो क्या हजार-लाख बार दोहराने से सच सच नही बनेगा? आवृत्ति का भी अपना महत्त्व है। आज विज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि सूक्ष्म तथ्य को पकड़ने के लिए आवृत्ति पर ही ध्यान देना होता है। किस-किस फ्रीक्वेन्सी में क्या-क्या पकड़ा जा सकता है, वह जानता है।

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन की जन्म-शताब्दी मनाई जाने वाली थी। लिंकन से मिलते-जुलते व्यक्ति को उसकी भूमिका निभाने के लिए चुना गया। उसने वर्ष भर यात्रा की। लिंकन का पार्ट अदा किया। वह संस्कार इतना सघन हो गया कि वह अपने आप को लिंकन समझने लगा। वर्ष पूरा हो गया, किन्तु उसका सपना नही टूटा। लोगों ने बहुत समझाया कि तुम लिंकन नही हो। लेकिन वह किसी तरह इसको स्वीकार करने के लिए राजी नही हुआ। कुछ लोगो ने कहा, जैसे लिंकन को गोली मारी वैसे ही इसको भी गोली मार दो। अन्ततोगत्वा एक मशीन का निर्माण किया गया, जो असल को प्रकट कर सके। वह मशीन पर खडा हुआ। उसने सोचा, सब कहते है—तू लिंकन नही है, कह दू और उससे पीछा छुडा लू। वह बोला—मै लिंकन नही हूं, किन्तु मशीन ने बताया कि तू लिंकन है, वह फेल हो गई। भावना का इतना गहरा असर हुआ कि लिंकन न होते हुए भी लिंकनाभास अवचेतन मे पैठ गया। इसलिए यह अपेक्षित है

कि साधक भावना के साथ-साथ सचाई के दर्शन से पराङ्मुख न हो। वह ध्यान के अभ्यास के साथ-साथ भावना का अनुशीलन करता रहे।

मंत्र-सिद्धि कैसे ?

समूचा आकाश ध्वनियो के प्रकंपनो से भरा पडा है। पर हमारा कान या अन्य यंत्र सभी ध्वनियो को नही पकड पाते। सभी अमुक-अमुक ध्वनि-प्रकपनो को ही पकड पाते है। यह भी आवृत्ति के सिद्धान्त पर ही फलित होता है। तरंग-दैर्घ्य और तरंगों की ह्रस्वता, लम्बी तरंगे और छोटी तरगे, वेवलेंग्थ को पकड़ना और आवृत्तियो को पकडना—ये दोनों तथ्य जब ज्ञात हो जाते है तब भावना का मूल्य अपने आप समझ मे आ जाता है। हम भावना की कितनी आवृत्तियां करते है, किस तरंग की लम्बाई-चौड़ाई के साथ करते है, उतनी ही हमारे संस्कारो की धुलाई होती जाती है। मंत्र-विज्ञान का यही सिद्धान्त है। यदि मन्त्र का प्रयोग करने वाला यह नहीं जानता कि किस मंत्र का किस आवृत्ति मे उच्चारण होना चाहिए, कितनी तरंग के साथ होना चाहिए, तो मन्त्र बहुत इष्टकारक नहीं होता। वह लाभदायी नही होता। मन्त्र का देवता होता है। मन्त्र का छद होता है और मंत्र का विनियोजक होता है। उसके विनियोग मे वे सारी बातें आती है। अनुभवी मन्त्र-साधक अपने शिष्य को बताता है—मन्त्र का उच्चारण किस लय मे करना चाहिए ? कितनी बार करना चाहिए ? कैसे करना चाहिए ? जब तक मन्त्र-साधक उच्चारण के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, त्वरित आदि भेद-प्रभेदो को पूर्णरूप से नही जान लेता तब तक मन्त्र का जप इष्ट परिणाम दायक नही बनता। साधक बिना इनका ज्ञान किए दस वर्ष भी मन्त्र-जाप मे लगा रहे, उसे कोई लाभ नही हो सकता। मन्त्र-जाप से जो विद्युत्-ऊर्जा पैदा होनी चाहिए, वह नही होती और मन्त्र सिद्ध भी नही होता।

भावना का प्रयोग इसी आधार पर किया जाता है कि बार-बार उस भावना की आवृत्तियां करे, तरगे पैदा करे और ऐसा करते रहे। करते-करते एक बिन्दु ऐसा आता है जहा पहुच कर पुराने सस्कार उखड़ जाते हैं और नए संस्कार जम जाते है। यह चमत्कार का भी मार्ग है और आत्मा के रूपान्तरण का भी मार्ग है।

भावना-प्रयोग का चमत्कार

मन्त्र-प्रयोग को भावना का प्रयोग भी कहा जा सकता है। यह उससे भिन्न नही। यह है सम्मोहन का प्रयोग तो है ही। जिस व्यक्ति ने अपनी प्राणशक्ति को प्रखर किया है, वह यदि सामने वाले व्यक्ति को कुछ भी सुझाव देता है तो सामने वाले व्यक्ति की जागृत चेतना सो जाती है और तब वह

प्रत्येक सुझाव को वैसे ही मानने लग जाता है। बड़ी विचित्र बात है। बड़ा चमत्कार है। सुझाव देने वाला व्यक्ति सामने वाले व्यक्ति के हाथ में आम देकर कहता है तुम अंगारा खा रहे हो। न उसे आम के रस का स्वाद आएगा और न और कुछ। वह अंगारे का ही अनुभव करेगा। सम्मोहन का प्रयोग करने वाला कहेगा, अंगारे से तुम्हारा मुंह जल रहा है, फफोले उठ रहे हैं। सम्मोहित व्यक्ति का मुंह जलने लगेगा, फफोले उठ जाएंगे। जैसे जलने के फफोले उठते हैं, वैसे ही आम खाने में फफोले उठ जाएंगे। क्या यह कोई कम चमत्कार है। हिप्नोटिज्म का प्रयोग करने वाले इस प्रकार की अनेक आश्चर्यकारी बातें प्रस्तुत करते हैं।

रोग से जितने आदमी दुःखी नहीं होते, उतने आदमी दुःखी होते हैं रोग के मानसिक चिन्तन से। यह सूत्र स्वास्थ्य पर भी लागू होता है। दवाइयों से जितने आदमी स्वस्थ नहीं होते उतने स्वस्थ होते हैं स्वास्थ्य के चिन्तन से।

एक बीमार डॉक्टर के पास आया। उसकी बीमारी भयंकर थी। डॉक्टर ने उसे इन्जेक्शन देकर कहा—यह इन्जेक्शन बहुत शक्ति देने वाला है। इससे तुम शीघ्र ही शक्ति प्राप्त कर लोगे। ऐसा इन्जेक्शन भाग्य से ही मिलता है। तुम भाग्यशाली हो।

इन्जेक्शन की प्रशंसा ने काम करना प्रारंभ कर दिया। बीमार स्वस्थ हो गया। बीमार के मित्र ने डॉक्टर से पूछा कि वह इन्जेक्शन क्या था जो इतनी शीघ्रता से असर कर गया? डॉक्टर ने कहा—बीमार पर ज्यादा प्रभाव डालती है—भावना। मैंने केवल पानी का इन्जेक्शन दिया था। किन्तु बीमार के मन पर उस इन्जेक्शन ने इतना प्रभाव जमा डाला कि वह पानी का इन्जेक्शन भी उसके लिए संजीवनी बूटी बन गया।

डॉक्टर ने दूसरा परीक्षण और किया। एक रोगी को बहुत कीमती दवा देते हुए कहा—यह साधारण-सी दवा है, ले लो। जब इससे बढ़िया दवा आयेगी तब और दे दूंगा। रोगी दवा लेता गया, कोई असर नहीं हुआ। यह भी भावना का ही प्रतिफलन है।

कोरी राख से लाभ हो जाता है और हीरे के भस्म से भी कोई लाभ नहीं होता।

एक वैद्य ने जुकाम के लिए दवाई दी। रोगी ने पूछा—क्या नाम है औषधि का? वैद्य ने कहा—यह है महाप्रतापलंकेश्वरी रस। नाम सुनते ही रोगी ने सोचा—कितनी मूल्यवान् होगी यह औषधि? इतना बड़ा और अच्छा नाम है तो गुण भी ऐसे ही होंगे। 'रस' भी है, 'प्रताप' भी है और 'लंकेश्वरी' भी है। तीनों एक साथ हैं। औषधि का सेवन किया। रोगी स्वस्थ हो गया। मैंने पूछा—वैद्यजी! इतना बिगड़ा हुआ जुकाम था वह आपकी

इस औषधि से ठीक हो गया। आखिर औषधि क्या है? 'रस' है तो पारद इसमें अवश्य ही होगा तथा 'प्रताप' और 'लंकेश्वरी' है तो कोई तेज धातु का योग होना चाहिए।

वैद्य ने मुस्कराते हुए कहा—मुनिजी! औषधि का फारमूला मैं बताना नही चाहता, पर आपको बताए देता हूं। उसमें दो चीजें है—राख और कालीमिर्च। राख लकड़ी की नही, अरण्य के उपलों की। बस, यही इस औषधि का फारमूला है।

नाम का असर भी गजब का होता है। उससे बडी-बडी बीमारियां मिट जाती है। औषधि का यदि छोटा-सा नाम रख दें, उसकी गुण गाथा न गाए तो लेने वाला सोचता है—सामान्य-सी औषधि है। बीमारी बडी है। उसमें यह क्या असर ला सकेगी?

फ्रास की एक घटना है। एक अमेरिकी युवक वहा आया। एक परिवार के साथ ठहरा। परिवार के साथ उसका गाढ सम्पर्क हो गया। उस परिवार मे एक वयस्क कन्या थी। युवक का उसके साथ सम्पर्क बढा। दोनों प्रेमसूत्र मे बंध गए। अब विवाह का प्रश्न सामने आया। युवक ने कहा—'अभी मैं विवाह नही कर सकता। जब तक मै अपने पैरो पर खडा न हो जाऊ तब तक यह भार मै वहन नही कर सकता। मैं आर्थिक दृष्टि से स्वतत्र होकर ही विवाह करूंगा, पहले नही।' लडकी ने स्वीकार कर लिया। युवक अमेरिका चला गया। लड़की फ्रांस मे ही रही। लडकी के मन मे एक विचार आया—पाच-सात वर्ष बाद जब वह युवक मेरे साथ शादी करने आयेगा, तब यह न हो जाए कि मेरा रूप-रंग फीका पड जाए, मेरे यौवन का उभार शिथिल हो जाए। उसने प्रतिदिन भावना प्रारंभ की। वह एक काच के सामने खडी हो जाती और यह भावना करती—'आज जैसी हूं, वैसी ही रहूं।' इस भावना मे तन्मय, एकाग्र हो जाती। पन्द्रह वर्ष बीत गए। युवक अपने पैरो पर खडा हुआ। उसकी आर्थिक स्थिति सुधरी। वह आत्म-निर्भर हो गया। युवती की स्मृति उसे पल-पल रहती थी। वह फ्रास आया। उसके मन मे अनेक विकल्प उठ रहे थे। उसने सोचा—लडकी की स्थिति क्या हुई होगी? वह कैसे होगी? क्या होगा उसका रूप-रंग? वह लडकी से मिला। उसने पाया कि लडकी के शरीर का लावण्य, उसकी सुन्दरता और कमनीयता वैसी ही है जैसी पन्द्रह वर्ष पहले थी। रत्ती भर भी अन्तर नही था। वह विवाह-सूत्र मे बंध गया। दोनो प्रसन्न हुए। यह भावना का चमत्कार था।

यह भावना-योग है। जो व्यक्ति जिस प्रकार की भावना से अपने-आपको भावित करता है, वह उसी रूप मे बदल जाता है। न जाने दुनिया मे कितने प्रयोग ऐसे होते है जो भावना के होते है। जैन परम्परा मे भावना का विशेष महत्त्व है। इसे आप आध्यात्मिक मूल्य दे या न दें, यह आप जाने,

किन्तु यह तथ्य स्पष्ट है कि भावना के आधार पर व्यक्ति वनता-विगडता है ।

जापान मे ध्यान सम्प्रदाय (झेन) के साधक भावना के अनेक प्रयोग करते है । वे अखाड़े मे उत्तर जाते है और भयकर खूखार वैल के साथ लडते है । वे निहत्थे उतरते है अखाडे मे । उनके पास कुछ भी नही होता । लाठी भी नही होती । वैल दौडता हुआ सामने आता है । उसे लाल झडिया दिखाई जाती है । लाल कपडा देखते ही वैल भडक उठता है । वह पूरे वेग से व्यक्ति की ओर झपटता है । वह भयकर रूप से आक्रमण करता है । एकदम पतला-दुवला साधक भावना और सकल्प के सहारे उस वैल को परास्त कर भूमि पर पटक देता है । उसकी भावना होती है—'मै वैल के साथ लडूगा । मैं वैल को अवश्य परास्त करूगा ।' इस भावना के सहारे वह इतनी शक्ति अर्जित कर लेता है कि वह भयकर और आक्रामक वैल को शात कर देता है, मानों कि वह वकरी हो गया है । यह प्रयोग आज भी हो रहा है, अतीत मे ही होता था, ऐसी वात नही है । आज भी कुछ व्यक्ति इसका प्रयोग करते है ।

एक मठ था । वहा अनेक छोटे-वडे साधक साधना का अभ्यास करते थे । वहा एक दगल (कुश्ती) का आयोजन रखा । दो पहलवान आमत्रित किये गए । एक तगडा और वलिष्ठ था । दूसरा पतला और कम शक्तिशाली था । दंगल प्रारभ हुआ । वलिष्ठ पहलवान ने पतले-दुवले पहलवान को चित्त कर दिया । साधको के मन मे एक विकल्प उठा । उन्होने पतले पहलवान को सहयोग देना चाहा । कुछेक साधक आख मूदकर इस भावना मे तन्मय हो गए कि इसकी विजय होनी ही चाहिए । यह पतला पहलवान जीतना ही चाहिए । कुछ समय वीता । सबके देखते-देखते दुवले-पतले पहलवान ने उस तगडे पहलवान को पछाड़ दिया । वह उसकी छाती पर जा वैठा ।

भावना दूसरो तक पहुंचाई जा सकती है । दूसरो पर भी उसका प्रभाव डाला जा सकता है । दूसरो की कठिनाइयो को शात करना, रोग मिटाना, दूसरो का हृदय-परिवर्तन करना, दूसरो के विचारो को वदलना—ये सारे भावना के ही प्रयोग है । भावना के द्वारा ये किये जा सकते है । भावना के माध्यम से स्वयं को वदला जा सकता है, दूसरो को वदला जा सकता है, आस-पास के व्यक्ति को वदला जा सकता है, वातावरण को वदला जा सकता है । एक व्यक्ति का शरीर दुर्वल है, शरीर को स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती है । एक का मस्तिष्क दुर्वल है, उसे स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती है । एक व्यक्ति की आखे कमजोर है, हृदय दुर्वल है, भावना अपवित्र है—इन सवको स्वस्थ करने के लिए भावना की जा सकती है । अनगिनत भावनाए की जा सकती है । अनगिनत सकल्प किए जा सकते है । आज के चिकित्सक, विशेषकर जर्मनी के चिकित्सक, रोगी को दवा की अपेक्षा 'ऑटो सजेशन' के द्वारा रोग मुक्त करने का प्रयत्न करते है । वे कहते है—

जगल मे चले जाओ। वहां किसी वृक्ष के नीचे वैठकर समाधिस्थ हो जाओ और अपने आपको यह सुझाव दो कि 'मै स्वस्थ हूं', 'मै स्वस्थ हो रहा हूं।' उसका मानना है कि इस पद्धति से व्यक्ति रोग-मुक्त होकर स्वस्थ हो जाता है।

यह तो सामान्य वात है। जव हम साधना की दृष्टि मे विचार करें तो हमे किस प्रकार की भावना करनी चाहिए, इसका भी महत्त्व हमारे समक्ष आ जाता है।

जो व्यक्ति साधना के क्षेत्र मे प्रवेश करता है, उसे सवसे पहले ज्ञान-भावना से अपने आपको भावित करना होगा। भावना का अर्थ विचारो की आवृत्ति नही है। भावना का अर्थ है—विचारो की स्थापना, विचारो का दृढीकरण। एक ही वात को आप वार-वार दोहराते रहे, वह भावना वन जाएगी। आप उससे भावित हो जाएगे। आप ठीक वैसे ही करने लग जाएंगे। एक आदमी दिन मे दस-पन्द्रह वार दरवाजा खोलता है, वद करता है। वह उस क्रिया से भावित होता है, प्रभावित होता जाता है। जैसे ही वह घर मे प्रवेश करता है, काम हो या न हो, उसका ध्यान उसी क्रिया की ओर जाता है। वह दरवाजा खोले या न खोले, किन्तु उसकी स्मृति उसी क्रिया मे संलग्न हो जाती है। क्योकि वह उससे भावित हो गया। व्यक्ति दोनो से प्रभावित होता है—विचार से भी प्रभावित होता है और कार्य से भी प्रभावित होता है। विचार और कार्य को दोहराना भावना का मूल है।

प्रश्न है कि भावना के द्वारा हम अपने-आपको कैसे वदल सकते है? प्रक्रिया इस प्रकार है—सवसे पहले आप अपने ध्येय का चुनाव करे। आप यह निर्णय करे कि मुझे अव यह वनना है, यह करना है। मुझे कवि वनना है, दार्शनिक वनना है, लेखक वनना है साहित्यकार वनना है—कुछ भी वनना है। जो वनना है, वह ध्येय हो गया। जो ध्येय वना है उसकी क्रियान्विति के लिए आप भावना का अभ्यास करे। अभ्यास कव और कैसे करें—यह प्रश्न होता है। आप एकान्त मे चले जाएं। शरीर को शिथिल कर वैठ जाएं। मन भी शिथिल हो, तनाव न हो, आकुल-व्याकुल न हो। यह प्रारम्भिक स्थिति है। यह आवश्यक है। जो ध्येय हमने चुना है, वह स्थूल मन से हटकर अवचेतन मन मे नही पहुंचेगा तव तक 'होने की' भावना सफल नही होगी। आप कह सकते है—'हमने ऐसी भावनाएं की, भावनाओ का अभ्यास किया, पर हम सफल नही हुए।' कही समझने की भूल हो रही है। भावना का तात्पर्य है—चेतन मन को सुला देना और अवचेतन मन को जागृत कर देना। चेतन मन के विकल्प को अवचेतन मन की धरोहर वना देना, अवचेतन मन मे उसे स्थापित कर देना, यह है भावना। यह है भावना का अभ्यास। जव तक अपनी वात अवचेतन

मन तक नही पहुचेगी, आप हजार वार, दस हजार वार प्रयत्न करें, शब्द दोहराते जाएं, सफलता नही मिलेगी। आप सफल नही होगे। इसमें सफल होने के लिए आपको शरीर का विसर्जन करना होगा, शरीर को बिलकुल शिथिल कर देना होगा। चेतन मन को भी शांत करना होगा। उसके वाद अपने ध्येय को दोहराते रहे, पहले मध्य आवाज मे, फिर तेज आवाज मे। यह क्रम दस मिनट तक चलता रहे। इससे कम समय मे सफलता असम्भव है। प्रतिदिन इस क्रम से दोहराते रहे। यह ध्यान मे रखे कि क्रम कही टूटे नहीं। अपने ध्येय के अनुसार ही आचरण करे। निश्चित ही आप लक्ष्य तक पहुंच जाएगे। काल की अवधि मे कुछ अन्तर हो सकता है, पर सफलता निश्चित है। कोई भी आदमी भावना के विना सच्चा धार्मिक नही वन सकता और ध्यान की उच्च स्थिति मे भी नही जा सकता। शारीरिक, वौद्धिक, मानसिक तथा सभी प्रकार के विकास के लिए भावना का सर्वोपरि महत्त्व है।

एक लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमे अनेक उपक्रम करने होते हैं। मान लीजिए कि हमे निर्मोह वनना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमें मोह की समस्त वस्तुओ को मिटाना होगा। जो भी वस्तु मोह उत्पन्न करती है, मन को मूढ वनाती है, उसका निराकरण करना होगा। ध्येय का अर्थ ही है भावना।

भावना का वैज्ञानिक स्वरूप

भावना का अभ्यास वहुत सूक्ष्म वात है। जव तक भावना का अभ्यास नही होगा, जव तक मन परम से भावित नही होगा, तव तक शक्तियों का विकास नही होगा। भाविअप्पा—भावितात्मा शब्द जैन आगमो का महत्वपूर्ण शब्द है। उसके पीछे रहस्यमयी भावना छिपी हुई है। जो भावितात्मा होता है वह अपनी भावना के अनुसार काम करने मे सक्षम होता है। भावना का अर्थ केवल कुछ सोच लेना मात्र नही है। उसका अर्थ है—हमारे ज्ञान-तन्तुओ को तथा कोशिकाओ को अपने वशवर्ती कर लेना, उन पर अपनी भावना को अकित कर देना।

हमारे शरीर मे अरवो-खरवो न्यूरॉन्स है, जीव-कोशिकाएं हैं। ये न्यूरॉन हमारी अनेक प्रवृत्तियो का नियमन करते हैं। ये नियामक है। जो सकल्प न्यूरॉन तक पहुच जाता है वह सफल हो जाता है। न्यूरॉन वडे-वडे काम सपादित करते है। इनकी कार्यप्रणाली को समझना वहुत ही कठिन है। अरवो-खरवो की सख्या मे ये ज्ञान-तन्तु हमारे मस्तिष्क मे विखरे पडे हैं। इनका मन की शक्ति के जागरण मे वहुत वड़ा उपयोग है।

प्राकृतिक चिकित्सा वाले कहते है कि कोष्ठवद्धता हो तो पहले स्थिर वैठकर ध्यानस्थ हो जाओ और ज्ञान-तन्तुओ को सूचना दो कि शौच साफ

हो रहा है, पेट साफ हो रहा है । ज्ञान-तन्तु वैसा ही आचारण करने लग जाएंगे। मानसिक विकास के क्षेत्र मे स्वतः-सूचना या सूचनाओं का बहुत बडा महत्व है। सम्मोहन की प्रक्रिया भी आश्चर्यकारी है। इसकी पृष्ठभूमि मे ज्ञान-तन्तुओ का ही चमत्कार है। इन ज्ञान-तन्तुओं में विचित्र क्षमताएं हैं, जिनकी हम कल्पना भी नही कर सकते । सम्मोहन का प्रयोग सूचना के आधार पर चलता है। सूचना के आधार पर शारीरिक अवयव भी उसी प्रकार काम करने लग जाते है। जव सूचनाओं के आधार पर ज्ञान-तन्तु काम करने मे तत्पर रहते हैं तव हम उनसे लाभ क्यो नही उठाए ? अपने-आप सूचना दे। पुराने को वदलने के लिए, नए को घटित करने के लिए सूचनाएं दे। उन तन्तुओ के साथ आत्मीयता स्थापित करें। आप जो होना चाहेंगे, वह अवस्था घटित होने लगेगी। परिणमन प्रारंभ हो जाएगा। मन की शक्ति का विकास होने लगेगा।

मन की शक्ति के जागरण की यह एक प्रक्रिया है। इसे हम समझें।

भावना

अनित्य भावना

यह शरीर अनित्य है। यह यौवन अनित्य है। शरीर की सुन्दरता का अभिमान हो सकता है। यौवन का अभिमान हो सकता है। यह परिवार का संयोग अनित्य है। अपने परिवार का अभिमान हो सकता है। यह वैभव, यह सपदा अनित्य है। सम्पदा का अहंकार हो सकता है। इष्ट का संयोग भी अनित्य है। ये सब अनित्य हैं। और क्या ? जीवन भी अनित्य है। जब अनित्यता का यह अनुचिंतन सामने रहता है, बार-बार चेतना मे उभरता है तब अहंकार के प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। जिस व्यक्ति को अनित्यता का अनुभव नही होता, उसमे क्रोध आने का बहुत अवकाश रहता है। जिसकी चेतना मे यह बात जम गई कि सयोग अनित्य है, पदार्थ नश्वर है, तब पदार्थ के चले जाने पर भी वह दु.खी नही होगा।

हमारे व्यावहारिक जीवन मे भी अनित्य अनुप्रेक्षा का बहुत बडा महत्त्व है। जिस व्यक्ति के चित्त मे यह संस्कार पुष्ट बन जाता है कि सब पदार्थ अनित्य हैं, फिर उस व्यक्ति के मन मे विवाद बढ़ने वाली बाते समाप्त हो जाती हैं। वह-घटना को जान लेता है, भोगता नही। ध्यान करने वाले में और ध्यान नहीं करने वाले मे यही अन्तर है। ध्यान करने वाला व्यक्ति घटना को जानता है, भोगता नही। ध्यान नही करने वाला व्यक्ति घटना को जानता नही, भोगता है। घटना को जानने वाला व्यवहार को अमृतमय बना देता है, मधुर बना देता है। घटना को भोगने वाला स्वयं दु ख पाता है और सारे वातावरण मे दु ख के परमाणुओ को बिखेर देता है, सारा वातावरण दु.खपूर्ण बन जाता है। तब दुःख उसी तक सीमित नही रहता, विस्तृत हो जाता है।

शरीर के यथाभूत स्वभाव और उसकी क्रियाओं का निरीक्षण करने वाला उसके भीतर होने वाले विभिन्न स्रावो को देखने लग जाता है।

शरीर-दर्शन के अभ्यास से शरीर में घटित होने वाली अवस्थाए स्पष्ट होने लग जाती है। भगवान महावीर ने कहा—'तुम इस शरीर को देखो। यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जाएगा। विनाश और विध्वस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाएं होती है।' शरीर की अनित्यता के अनुचिंतन से शरीर के प्रति होने वाली गहन आसक्ति से मुक्ति पायी जा सकती है। शरीर की आसक्ति ही सब आसक्तियो का मूल है।

उसके टूट जाने पर अन्य पदार्थों मे होने वाली आसक्तियां अपने आप टूटने लग जाती है।

जैसे-जैसे 'इमं सरीरं अणिच्चं' की ध्वनि और भावना शक्तिशाली होती जाएगी और इनकी तरगे प्रवल होगी तो पूर्वगत संस्कार की तरगों को समाप्त कर देगी, विनष्ट कर देगी। यदि यह वात हमारी समझ मे आ जाये तो फिर कोई कारण नही है कि 'इमं सरीरं अणिच्चं' दोहराते-दोहराते हम ऊव जाए, या निराश हो जाएं। हम वोलकर प्रकंपन पैदा करते है। परन्तु ये प्रकपन इतने कारगर नही होते। इसलिए वार-वार कहा जाता है कि मन को एकाग्र करो, मन को साथ-साथ जोड़े रखे। तन्मयता रखो। इसका मतलव है कि कोरा वाणी का प्रकंपन उतना काम नही करता। जव भावना के प्रकपन उसके साथ जुडते है तो वे अधिक शक्तिशाली हो जाते है। वे शक्तिशाली प्रकंपन पहले के प्रकपनों को नष्ट कर देते हैं।

अनित्य अनुप्रेक्षा : एक वैज्ञानिक प्रक्रिया

जो कुछ भी दृश्य है, वह शाश्वत नहीं है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। वुद्ध ने कहा—सव क्षणिक है। एक समय से अधिक कोई नही ठहरता। साधक की दृष्टि अगर खुल जाये तो उसे सत्य का दर्शन संसार का प्रत्येक पदार्थ दे सकता है, वही उसका गुरु हो सकता है। एक शिष्य वर्षों तक आचार्य के पास रहा, परन्तु उसकी दृष्टि नही खुली। शिष्य हताश हो गया। गुरु ने कहा—'अव तू यहां से जा, यहां नही सीख सकेगा।' वह आश्रम से चला आया। एक पीपल के वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। एक पत्ता टूट कर नीचे गिरा और दृष्टि मिल गई। गुरु के पास आया और वोला—घटना घट गयी। गुरु ने पूछा—कैसे? वृक्ष के नीचे वैठा था। पत्ता गिरा और अचानक मुझे स्मरण हो आया कि मुझे भी गिरना है, मरना है। गुरु ने कहा—'वस, उसे ही नमस्कार करना था, वही पत्ता तेरा गुरु है।'

भरत चक्रवर्ती अपने काच-महल मे सिंहासन पर स्थित शरीर का अवलोकन कर रहे थे। अचानक उन्हे शरीर के परिवर्तन का वोध हुआ। यह वही शरीर है जो वचपन मे था और अव जवानी मे है पर कितना वदल गया। सव कुछ परिवर्तन हो रहा है, किन्तु इस परिवर्तन के पीछे जो एक अपरिवर्तनीय सत्ता है, वह जैसे पहले थी अव भी वैसी ही है और आगे भी वैसी ही रहेगी। दृष्टि उपलब्ध हो गई। एक के अनित्य का दर्शन सवकी अनित्यता का दर्शन है। जैसे यह शरीर वदल रहा है वैसे ही पुद्गलो का परिवर्तन चल रहा है। वे इस चिंतन की गहराई मे डूवे और सवोधि—केवलज्ञान को उपलब्ध हो गए।

कारलाइल के जीवन मे भी ऐसी ही घटना घटी। वह अस्मी वर्ष की अवस्था पार कर चुका था। अनेक वार बाथरूम मे गया था। किन्तु जो घटना उस दिन घटी, वह कभी नही घटी। स्नान के बाद शरीर को पोंछते-पोंछते देखता है, वह शरीर कितना वदल गया। जीर्ण हो गया। किन्तु भीतर जो जानने और देखने वाला है वह जीर्ण नही हुआ, वह वैसा ही है। परिवर्तनीय के साथ अपरिवर्तनीय की झांकी मिल गई।

वैज्ञानिक कहते है सात साल मे पूरा शरीर वदल जाता है। सत्तर वर्ष की अवस्था मे दस वार सव कुछ नया उत्पन्न हो जाता है। लेकिन इस परिवर्तन की ओर दृष्टि वहुत कम जाती है। साधक के पास सवसे निकट शरीर है और भी जड-चेतन जगत् जो निकट है, वह उसे एक विशिष्ट दृष्टि से देखे और अनुभव करे कि यह जगत् उसके लिए एक वडी प्रशिक्षण-शाला है जो निरंतर प्रशिक्षण दे रही है। अनित्य भावना मे क्षण-क्षण वदलते हुए इस जगत् का और स्वयं के निकट जो है उसका दर्शन करे। केवल संकल्प न दोहराये कि सव कुछ अनित्य है, अनित्य है किन्तु उसका अनुभव करे और उसके साथ अन्त स्थित अपरिवर्तनीय आत्मा की झलक भी पाये।

विसंबंध की चेतना

अनुप्रेक्षा का पहला सूत्र है—अनित्य अनुप्रेक्षा। संसार मे जो भी है, सारा अनित्य है। कोई संवध शाश्वत नही है। जितने सयोग है वे सारे वियोग वाले है—'संयोगाः विप्रयोगान्ताः'। अगर इस सचाई तक पहुच जाते है, तो अशाश्वत को शाश्वत मानने की भ्रांति खण्डित हो जाती है और पदार्थ के वियोग से होने वाले सारे असतोष समाप्त हो जाते है। उससे नई आदत और नए सस्कार का निर्माण होता है। जैसे पदार्थ के संवन्ध से एक आसक्ति का सस्कार वनता है। वह संस्कार पदार्थ के चले जाने पर दुख देता है वैसे ही पदार्थ के विसवंध का संस्कार अनुप्रेक्षा के द्वारा निर्मित हो जाए, तो आदमी कभी सतप्त नही होगा। वियोग पहला छोर है, संयोग दूसरा छोर है। वियोग पहला द्वार है, सयोग दूसरा द्वार है। ये दोनो सचाइया एक साथ प्रतीत होने लग जाए। सम्वन्ध की भाति विसम्वन्ध की आदत भी निर्मित हो जाए, तो आदमी पदार्थ के जगत् मे घटित होने वाली यथार्थ की समस्याओ का यथार्थ की भूमिका पर खड़े होकर सामना कर सकता है।

मन पर मैल तव जमता है जव हम अनित्य को नित्य मानकर चलते है। सयोग को शाश्वत और विजातीय को सजातीय मानकर चलते है। हम इस वात को सिद्धात से और व्यवहार से भी जानते है कि पदार्थ अनित्य है;

संयोग अनित्य है। जो पदार्थ प्राप्त है वह अवश्य नष्ट होगा। जो संयोग मिला है, उसका निश्चित ही वियोग होगा। पदार्थ अनित्य है, पदार्थ का संयोग अनित्य है और पदार्थ विजातीय है। चेतना का गुण-धर्म पदार्थ से भिन्न है। हम इन सब तत्त्वो को जानते है, किंतु पदार्थ को नित्य मानकर व्यवहार करते है, पदार्थ के संयोग को शाश्वत मानकर चलते है और पदार्थ को सजातीय मानते है, अपना मानते है। हम इसे जानते नही, केवल मानते है। जानने और मानने मे बहुत बड़ा अन्तर है। जिस दिन हम मानने की अवस्था को पार कर जानने की स्थिति मे पहुच जायेगे तब हमारे लिए पदार्थ पदार्थ मात्र होगा और चेतन चेतन होगा। पदार्थ का उपयोग हो सकता है, पदार्थ का सयोग हो सकता है, किन्तु पदार्थ शाश्वत नही हो सकता। अशाश्वत को शाश्वत मानने का आरोप, विजातीय को सजातीय मानने का आरोप, केवल मानने के कारण ही होता है। यदि जान लिया जाता है तो सारे आरोप नष्ट हो जाते है। जब तक मन पर मोह या मूर्च्छा का मैल जमा रहता है, तब तक व्यक्ति सब कुछ मानता चला जाता है, जानता कुछ भी नही है। पदार्थ के मूल स्वरूप को जाने बिना उसे जाना नही जा सकता।

मनुष्य नाम और रूप के चक्कर मे पडकर सब कुछ मानता चला जा रहा है और यह झूठा दंभ भरता है कि वह सब कुछ जानता है। हम व्यक्तियो को नाम से जानते है। हमने नाम का एक चौखटा बना रखा है। उस चौखटे मे जो आकृति आती है उसे हम अमुक नाम से जान लेते है। नाम और आकृति को हटा दे, फिर हम कुछ नही जान पाते। हमारा भ्रम मान्यता के आधार पर पल रहा है। गहराई मे हम उतरकर देखे। सारा ससार मानने की कारा मे बन्दी है। जानने की बात उससे बहुत दूर है। जिस दिन प्रेक्षा-ध्यान सिद्ध होगा, मत्र की आराधना सिद्ध होगी और शक्ति-केन्द्र से ज्ञान-केन्द्र तक मन को ले जाने या प्राणधारा को प्रवाहित करने की स्थिति बनेगी तब हम कह सकेंगे कि हम जानते है। तब मानने की बात छूट जाएगी। उस भूमिका मे पहुचकर हम कह सकेंगे कि हम जानते है, मानते नही। जब जानने की बात प्राप्त हो जाएगी तब शरीर भी छूट जाएगा। शरीर के छूटने पर, शरीर पर बनी ममत्व-ग्रंथि के टूटने पर ममत्व टूटने लगेगा। शरीर के छूटने का अर्थ शरीर से अलग होना नही है, किन्तु शरीर के साथ जो ममकार है वह छूट जाएगा, वह ढीला पड जाएगा।

अनुप्रेक्षा के माध्यम से भ्रान्तियो और विपर्ययो को तोडा जा सकता है। अनुप्रेक्षा के द्वारा मन पर जमे मैल को काटा जा सकता है। अनुप्रेक्षा के द्वारा मानने की भूमिका से उठकर जानने की भूमिका तक पहुचा जा सकता है।

दृष्टिकोण का परिवर्तन

शरीर अनित्य है, इस सचाई मे भी आनन्द का अनुभव होता है। शरीर चयापचयधर्मा है, कभी इसका चय होता है और कभी अपचय होता है। कभी यह पुष्ट होता है और कभी यह क्षीण होता है। शरीर क्षीण होता है, इसमे भी सचाई का वोध होता है। यह शरीर विपरिणामधर्मा है, विविध परिवर्तनों मे से गुजरता है। कभी इस पर सर्दी का प्रभाव होता है, कभी गर्मी का तो कभी आधी-तूफान का। कभी यह वीमारी की यातना झेलता है, तो कभी परिस्थितियो से पीड़ित होता है। कभी कुछ, कभी कुछ घटित होता है। अनेक-अनेक परिवर्तनों मे से यह गुजरता है। वीमारी हमें प्रिय नहीं होती, किन्तु वीमारी की सचाई का अनुभव करना हमे सचमुच प्रिय होगा। वीमारी—यह सचाई हमे सचमुच सत्य की ओर ले जाती है, यथार्थ की ओर ले जाती है।

यह शरीर है। इसमे मृत्यु घटित होती है, इसमे वुढ़ापा आता है; आदमी मर जाता है। मृत्यु का अनुभव करना भी वहुत बड़ा आनन्द है। इस अनित्य अनुप्रेक्षा के द्वारा हम जीते जी मरना सीख लेते हैं। और जो आदमी मरना सीख लेता है, वह सारी कठिनाइयों का पार पा जाता है। दुनिया में सवसे बडा भय है मौत का। यह अन्तिम वात है।

शासन-तत्र ने दण्डशक्ति का विकास किया है। विविध प्रकार के दण्ड उपयोग मे लाये जाते है—वांधना, जेल में डाल देना, हाथों में हथकडिया और पैरों मे वेडियां डालना, मारना, पीटना। उसके पास भी अन्तिम दण्ड है—फांसी की सजा, मौत की सजा।

जो आदमी जीते जी मरना सीख लेता है, मृत्यु का साक्षात्कार कर लेता है, मृत्यु का अनुभव कर लेता है, अपने शरीर को शिथिल वनाकर सारे अवयवो को मृतवत् करना सीख जाता है, सचमुच वह आदमी सारी समस्याओं का, सभी प्रकार के भयो का और सारी कठिनाइयो का पार पा लेता है।

हम अनित्य की अनुप्रेक्षा करते है। उस अनुप्रेक्षा मे से ही सचाइयों को देखते है, आनन्द को निकालते हैं और अपने भीतर की गहराइयो मे जाने का प्रयत्न करते है, उसकी साधना करते है। यह सारा दृष्टिकोण का ही परिवर्तन है। अन्यथा यदि किसी को कहा जाए कि तुम मृत्यु का अनुभव करो तो वह सोचेगा कि कैसी मूर्खता की वात कह रहा है? जीने की वात करे तो वह अच्छी भी लग सकती है, किन्तु यह तो मौत की वात कर रहा है। वुरी वात है। जीने की वात अच्छी लगती है। मौत की वात वुरी लगती है। लोग इसे अपशकुन मान लेते हैं, बुरा मान लेते है। किन्तु साधक ऐसा नही मान सकते। वे मौत की वात को अच्छा मानते है। इसीलिए इसे अपने अभ्यास का अग वनाकर साधना चलाते है। अनित्य अनुप्रेक्षा से यह दृष्टि का

परिवर्तन घटित होता है।

श्रुतज्ञान का प्रयोग—अनित्य अनुप्रेक्षा

शरीर में कंपन हो रहे है। वे निरन्तर होते है, यह जानना प्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा मे यह जानना होता है कि वे कंपन अनित्य हैं। कंपन स्थायी नही होते। वे है क्षणभंगुर, क्षणिक। एक क्षण में कंपन हुआ और दूसरे क्षण में मिट गया। कंपन अनित्य होता है। शरीर में होने वाले सारे कम्पन अनित्य हैं। शरीर मे बीमारी हुई, वह भी अनित्य है। इस प्रकार की अनुप्रेक्षा करते-करते उस बिन्दु पर पहुच जाते है, जहा जाने पर मूर्च्छा का चक्र टूट जाता है।

भगवान् महावीर ने दीक्षा लेने से पूर्व छह महीनो तक अनित्य अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया था। सामान्यतः यही सोचा जाता है कि भगवान् तो भगवान् के रूप मे ही जन्मे थे। कोई भी आदमी भगवान् बनकर नही जन्मता। आदमी आदमी के ढंग से ही जन्मता है, आदमी के ढंग से ही आगे बढता है। महावीर ने अभ्यास किया, प्रयोग किये और चलते-चलते भगवान् बन गये। महावीर भगवान् बनने की योग्यता लेकर जन्मे थे, पर जन्मते ही भगवान नही बने थे। इसीलिए माना जाता है कि प्रत्येक तीर्थंकर जन्म के समय द्रव्य-तीर्थंकर होता है और फिर साधना से ज्ञान प्राप्त कर भाव-तीर्थंकर बनता है। जब केवलज्ञान के द्वारा सचाई को प्रकट करते है, तभी वे भाव-तीर्थंकर होते है। महावीर भी भगवान के रूप मे नही जन्मे थे। वे आदमी की तरह ही जन्मे थे, किंतु चेतना को विकसित कर भगवान बन गए। हर आदमी भगवान बन सकता है। महावीर ने यह कभी नही कहा कि केवल महावीर ही भगवान बन सकता है और शेष सारे भक्त ही बने रहेंगे, भगवान नही बनेंगे। यह भेद महावीर ने कभी नही किया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान बन सकता है। भगवान, भगवान बना रहे और भक्त, भक्त बना रहे, यह बात चितन मे नही बैठती और उचित भी नही लगती। राजा, राजा बना रहे और रंक, रंक बना रहे, यह चितन आज के युग को मान्य नही है। आज तो यह चितन मान्य है कि समानता के आधार पर सबको विकास का अवसर मिलना चाहिए। भगवान महावीर ने इसी भावना से कहा—प्रत्येक आदमी भगवान बन सकता है।

अनित्य अनुप्रेक्षा एक प्रयोग है श्रुतज्ञान का, आत्मज्ञान का। जब श्रुतज्ञान की लगाम हाथ मे होती है तो फिर मन का घोड़ा हमे कोई दुःख नही दे सकता। श्रुतज्ञान के द्वारा हमे मन को एकाग्र बनाना है, मन को वश में करना है। इसका अर्थ यह है कि हम मन के दास न बने, किंतु मन को अपना दास बनाए। हम मन के आज्ञाकारी सेवक न बने, किन्तु मन को अपना आज्ञाकारी सेवक बनाएं। जो मन में आया, वह करने वाला मन का दास

होता है। समझदार आदमी वह होता है, जो मनमें आया, उस पर चिंतन किया कि यह करना चाहिए या नही, पूरे चिंतन के बाद जब यह निर्णय हो जाए कि वैसा करना उचित है तो मन की बात भी मानी जा सकती है। इसका अर्थ होगा कि हमारे हाथ मे घोड़े की लगाम है और हम उसे चला रहे है। हमारे से अलग घोड़ा नही चल रहा है। जब लगाम हाथ से छूट जाती है तब आदमी व्यामोह मे फस जाता है।

जब श्रुत की लगाम हाथ से छूट जाती है तब आदमी आंखो वाला होते हुए भी अन्धा बन जाता है। मन की स्थिति विचित्र बन जाती है। उसकी भूमिका भी भिन्न हो जाती है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इस मन के घोड़े को ठीक रास्ते पर चलाने के लिए हमारे हाथ मे मजबूत लगाम हो। यह लगाम है अनुप्रेक्षा, श्रुतज्ञान, आत्मचिंतन, आत्मबोध की। अपने विषय मे जानना, अपने विषय में सोचना, अपने बारे मे चिंतन करना और गहराई में उतरकर अपने आपका अनुभव करना—यह है अनुप्रेक्षा। प्रेक्षा के साथ अनुप्रेक्षा का योग होता है तो मन का घोडा सदा राजमार्ग पर चलने लग जाता है और फिर यह प्रश्न नही रहता कि मन चचल है।

अशरण भावना

मनुष्य अपूर्ण है। वह अपूर्ण है, इसलिए बाह्य वस्तुओं के द्वारा पूर्ण होने का प्रयत्न करता है। उसे दुःख, अशान्ति, दरिद्रता आदि अनेक समस्याओं का सामना करना पडता है। वह उस संघर्ष मे विजयी होने के लिए दूसरों का सहारा चाहता है, त्राण और शरण की अपेक्षा रखता है। सामाजिक जीवन मे त्राण और शरण मिलती भी है किन्तु यह तात्कालिक सत्य है। त्रैकालिक सत्य यह है कि अपने पुरुषार्थ पर आदमी निश्चित रूप से भरोसा कर सकता है। वस्तुतः त्राण या शरण अपने पुरुषार्थ में ही निहित है, अन्यत्र नही। इस अन्तिम सचाई के आधार पर स्वयं मे स्वय का त्राण खोजना और दूसरों के त्राणदान मे एकान्तिक व आत्यन्तिक कल्पना न करना अशरण भावना है। इस भावना से भावित मनुष्य का कर्त्तव्य प्रबल हो उठता है और दूसरो के द्वारा विश्वासघात होने पर उसका धैर्य विचलित नही होता।

जो अपने अस्तित्व को नहीं जानता, वह कही भी सुरक्षित नही हो सकता। धन, पदार्थ और परिवार—ये सब अस्तित्व से भिन्न है। जो भिन्न है, वह कभी भी त्राण नही दे सकता।

भगवान महावीर ने कहा—अशरण को शरण और शरण को अशरण मानने वाला भटक जाता है। अपनी सुरक्षा अपने अस्तित्व में है। स्वयं की शरण मे आना ही अशरण अनुप्रेक्षा का मूल मर्म है।

ध्यान साधक बहुत जागरूक रहता है। वह भ्रांतियो को तोड़ता रहता है। यह एक बहुत बड़ी भ्रांति है कि आदमी हर एक को शरण मान लेता है। व्यवहार मे ऐसा मानना पड़ता है, पर यह अन्तिम सचाई नही है। हर एक चीज त्राण नही होती। हमारा यह विवेक स्पष्ट होना चाहिए कि हम व्यवहार को अन्तिम सचाई न मानें। व्यवहार व्यवहार होता है और यथार्थ यथार्थ होता है। व्यवहार की सचाई व्यवहार की सचाई होती है। और वास्तविकता की सचाई वास्तविकता की सचाई होती हैं। व्यवहार की सचाई इतनी-सी है कि जब तक दोनो का स्वार्थ जुडा रहता है तब तक एक-दूसरे के लिए त्राण या शरण बने रहते है। जहा स्वार्थ को धक्का लगा कि त्राण समाप्त हो जाता है, शरण समाप्त हो जाती है। वह पश्चात्ताप करता है—अरे, मैंने इसके पालन-पोषण के लिए कितना किया, आज यह मेरे साथ ऐसा व्यवहार कर रहा है? उस व्यवहार के कारण कोई दुःखी नहीं होता; दुःखी होता है नियम की विस्मृति के कारण। व्यक्ति जब व्यवहार

को, पदार्थ को और व्यक्ति को अन्तिम सत्य मान लेता है, त्राण मान लेता है तब उसे दुःखी होना पड़ता है। यह है अशरण अनुप्रेक्षा। व्यवहार मे अनेक पदार्थो को त्राण मानते चले, किन्तु सचाई को न भूले कि वास्तविक या अन्तिम त्राण अपना ज्ञान, अपना दर्शन, अपना आचरण तथा अपना व्यवहार होता है। दूसरे मे त्राण देने की क्षमता नही है।

अशरण : एक सचाई

यह भावना हमारे उन संस्कारो पर प्रहार करती है जो वाहर का सहारा ताकते है। यदि मनुष्य की समझ मे यह तथ्य आ जाए कि अंततः मेरा शरण कोई नही है, तव सहज ही वाह्य वस्तु-जगत् की पकड़ ढीली हो जाती है। आदमी धन, परिवार, स्त्री, पुत्र, मित्र, मकान आदि सवको पकड़ता है। वह समझता है कि अन्त मे कोई-न कोई मुझे अवलम्बन देगा। यह भ्रम ही संग्रह का हेतु वनता है। धर्म कहता है—'कोई त्राण नही है। छोडो अपनी पकड। क्यो व्यर्थ ममत्व, मोह और पाप का सग्रह करते हो। वस, सिर्फ पकड छोड दो। जीवन से भागने की जरूरत नही। वाल्मीकि ने जव इस सत्य को जाना तव वह एक क्षण मे उससे मुक्त हो गया। अनाथी मुनि ने जव देखा—कोई मुझे रोग से मुक्त नही कर पा रहा है। सव असफल हो गए। तब दृष्टि भीतर की तरफ मुडी और देखा—जो है, रोग उससे दूर है, मृत्यु उससे दूर है, सव कुछ उससे दूर है तो क्यो नही उसे ही अपना शरण बनाऊं। वह उसकी खोज मे चला गया। सम्राट् श्रेणिक ने कहा—'मैं तुम्हारा मालिक वनूगा।' अनाथी मुनि ने कहा—'तुम मेरे मालिक क्या वनोगे? पहले अपने खुद के मालिक वनो। अभी जिनके मालिक हो उनके गुलाम भी हो। मैने मालिक खोजा, वह अपने भीतर है। जिस दिन तुम भी खोज लोगे, मालकियत टूट जाएगी और एक नई मालकियत का जन्म होगा।'

डेनमार्क के एक विचारक ने लिखा है—'असली चिन्ता तो तव पकड़ती है जव तुम्हे लगता है कि पैर के नीचे से जमीन खिसक गई। यही एक ऐसा क्षण है जो भविष्य का फैसला करता है। किन्तु यदि इसके पूर्व मे सचाई का प्रत्यक्ष अनुभव नही किया हुआ हो तो प्रायः व्यक्ति भविष्य को अन्धकार-पूर्ण वना लेते है। वे मरते क्षण मे शरीर को छोड रहे है किन्तु वासना अपने ही लोगो और वस्तुओ के आस-पास चील की तरह मंडराती रह जाती है और प्राणी मर कर पुन. उनके ही इर्द-गिर्द पैदा हो जाता है। महावीर, वुद्ध आदि ने कहा है—'अपनी ही शरण मे जाओ।' **धम्मं सरणं पवज्जामि**—स्वभाव की शरण खोजो। साधक वाहर से अत्राण को देखे और भीतर जो है, उसे देखे। वह सदा है, उसी को पकडने से त्राण पाया जा सकता है। उसकी स्मृति एक क्षण भी विस्मृत न हो। यह सुरति—स्मृति

योग है। गुरु नानक ने कहा है, जो उसे नही भूलता, वही वस्तुतः महान् है। वही सच्ची सम्पत्ति है जो हमारे साथ जा सकती है।

स्वस्थ समाज की संरचना

महावीर ने अशरण का सूत्र दिया। उन्होंने किसी को शरण नहीं वतलाया। उन्होने कहा—**'असरणं सरणं मन्नमाणे वाले लुप्पई'**—अशरण को शरण मानने वाला अज्ञानी मनुष्य नष्ट हो जाता है। शरण कोई है ही नही। जो दूसरा है, वह शरण कैसे होगा ? आत्मा का शुद्ध स्वरूप है—अर्हत्। आत्मा का सिद्ध स्वरूप है—सिद्ध। आत्मा का साधक रूप है—साधु। आत्मा का चैतन्यमय रूप है—धर्म। कोई दूसरा शरण नही है, अपनी आत्मा ही शरण है। **'नाणं सरणं मे', 'दसणं सरणं मे' 'चरित्तं सरणं मे'** ज्ञान शरण है, दर्शन शरण है, चारित्र शरण है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र (वीतरागता) की त्रिपुटी है—अर्हत्।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी है—सिद्ध।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी की साधना है—साधु।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी का आचरण है—धर्म।

ये सव आत्मा से भिन्न नही हैं। हम इस भ्रान्ति को तोड दें कि हम किसी दूसरे की शरण मे जा रहे है। हम अपनी ही शरण मे जा रहे हैं, अपने अस्तित्व की शरण मे जा रहे हैं।

जो व्यक्ति इस अनुप्रेक्षा का, इस स्वस्थ चितन का अनुसरण करता है वह असामाजिक नही होता, अव्यावहारिक नही होता। व्यवहार मे जितना परिष्कार आता है, समाज मे जितना सुधार आता है, क्राति और भलाई आती है, वह ऐसे व्यक्तियों के द्वारा ही आ सकती है। मूर्च्छा में रहने वाले समाज का सुधार नही कर सकते, समाज की भलाई नही कर सकते और वे सामाजिक क्रांति भी नही कर सकते। वे समाज को उन्नति के शिखर पर नही ले जा सकते। वे कैसे ले जाएंगे ? जिस व्यक्ति मे पदार्थ के प्रति सघन मूर्च्छा है, जो पदार्थ को नित्य मानता है, वह पदार्थ के लिए इतने सघर्ष करता है कि वह समूचे समाज को लड़ाई मे ढकेल देता है। जिस व्यक्ति मे केवल सामाजिकता का ही संस्कार है, समुदाय का ही सस्कार है, वह समुदाय के साथ इतना अन्धा होकर चलता है और यह सोचता है कि जो सवको होगा, वह मुझे होगा। यह सामुदायिकता एक सघन अन्धकार मे ले जाने की दिशा वन जाती है। जो व्यक्ति दूसरो मे ही अपना त्राण और शरण खोजता है वह अपने आप मे शून्य हो जाता है। वह सोचता है—यह मुझे वचा लेगा। वह दूसरो के पीछे-पीछे चलता है। वह स्वयं कभी अपने पैरो पर खडे होने का प्रयत्न नही करता। यदि ये सचाइयां सामाजिक व्यक्ति मे आ जाएं तो समाज का चित्र

नया हो जाता है। उसका ऐसा रूप बन जाता है, जैसा कभी नही बना था। आध्यात्मिक भूमिका पर जिस समाज की संरचना होगी और इन सचाइयो के आधार पर जिस समाज का ढाचा खड़ा होगा, वह एक क्रांतिकारी, व्यवस्थित, शांतिप्रिय और मैत्री-प्रधान समाज होगा।

भव भावना

इस दुनिया में सब प्राणी समान नही है और सब मनुष्य भी समान नही हैं। सबकी बुद्धि, वैभव और क्षमता भिन्न-भिन्न है। जिसके पास ये साधन होते है, उसका मन गर्व से भर जाता है और जिसके पास ये नही होते है, उसमे हीन भावना पनपती है। इस दोहरी बीमारी की चिकित्सा भव-भावना है। यह संसार परिवर्तनशील है। इसमे कोई भी व्यक्ति निरन्तर एक स्थिति मे नही रहता। एक जन्म मे एक व्यक्ति अनेक स्थितियो का अनुभव कर लेता है। अनेक जन्मो मे तो वह न जाने क्या-क्या अनुभव करता है। जो व्यक्ति इस परिवर्तन की भावना से भावित होता है, उसके मन मे गर्व या हीन भावना की बीमारी पैदा नही होती।

आज के वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार करते है कि विश्व मे पदार्थ सर्वथा नष्ट नही होते, केवल परिवर्तन होता रहता है। धार्मिक सदा से ही यह कहते आए है कि जीव और अजीव, चेतन और जड़—ये दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं। यह सम्पूर्ण विश्व इन दोनो की सृष्टि है। ये दोनो अनादि है। संसारी आत्मा विजातीय तत्व से सर्वथा मुक्त नही होता, उसे संसार मे भ्रमण करना होता है। भव-भावना मैं साधक यह देखता है, अनुभव करता है कि मैं इस संसार में कब से भ्रमण कर रहा हूं। ऐसी कोई योनि नही है जहा मैं जन्मा नही हू। मैं प्रत्येक गति मे अनेकश: उत्पन्न हो चुका हूं। क्या मैं इस प्रकार भ्रमण करता रहूंगा? वह योनियों मे विविध कष्टो को देखता है। वह इस भव-भ्रमण के बन्धन को तोड़ना चाहता है। राग और द्वेष भव-भ्रमण के मुख्य हेतु है। जब तक ये विद्यमान रहते हैं तब तक आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रगट नही होती। विविध योनियो मे विविध रूपो मे भव-भ्रमण का चिन्तन करना भव-भावना है।

संसार : एक अनुचिन्तन

संसार अनुप्रेक्षा का अर्थ है—संसार की नाना परिणतियो को जानना विवध परिवर्तनो को जानना, जन्म और मृत्यु के चक्र से बराबर परिचित रहना।

कोई भी द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के चक्र से मुक्त नही है। जिसका अस्तित्व है वह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, फिर उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। उत्पन्न और विनाश का क्रम

चलता रहता है। इसी क्रम का नाम संसार है। परमाणु-स्कंध परिवर्तित होते रहते है। वे एक अवस्था को छोडकर दूसरी अवस्था मे चले जाते है। जीव भी बदलते रहते हैं। वे कभी जन्म लेते है और कभी मरते है। वे कभी मनुष्य होते है और कभी पशु। एक जीवन मे भी अनेक अवस्थाएं होती है। इस समूचे परिवर्तन-चक्र का अनुचिंतन साधक को मुक्ति की ओर ले जाता है।

आत्मा का मौलिक स्वरूप चेतना है। उसके दो उपयोग है—देखना और जानना। हमारी चेतना शुद्ध स्वरूप मे हमे उपलब्ध नहीं है, इसलिए हमारा दर्शन और ज्ञान निरुद्ध है, आवृत है। जो दर्शन का आवारक है उसे दर्शनावरण और जो ज्ञान का आवारक है उसे ज्ञानावरण कहा जाता है। यह आवरण अपने ही मोह के द्वारा डाला गया है। हम केवल जानते नही है और केवल देखते नही है। जानने-देखने के साथ-साथ प्रियता या अप्रियता का भाव बनता है। वह राग या द्वेष को उत्तेजित करता है। राग और द्वेष मोह को उत्पन्न करते है। मोह ज्ञान और दर्शन को निरुद्ध करता है। यह चक्र चलता रहता है। उस चक्र को तोडने का एक ही उपाय है। वह है ज्ञाताभाव या द्रष्टा-भाव, केवल जानना और केवल देखना। जो केवल जानता-देखता है, वह अपने अस्तित्व का उपयोग करता है। जो जानने-देखने के साथ प्रियता-अप्रियता का भाव उत्पन्न करता है, वह अपने अस्तित्व से हटकर मूर्च्छा में चला जाता है। कुछ लोग मूर्च्छा को तोड़ने मे स्वयं जागृत हो जाते है। जो स्वयं जागृत नही होते उन्हे श्रद्धा के बल पर जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है। भगवान महावीर ने कहा 'हे अद्रष्टा! तुम्हारा दर्शन तुम्हारे ही मोह के द्वारा निरुद्ध है, इसलिए तुम सत्यको नही देख पा रहे हो। तुम सत्य को नही देख पा रहे हो, इसलिए तुम उस पर श्रद्धा करो जो द्रष्टा द्वारा तुम्हे बताया जा रहा है।' अनुप्रेक्षा का आधार द्रष्टा के द्वारा प्रदत्त बोध है। उसका कार्य है, अनुचिन्तन करते-करते उस बोध का प्रत्यक्षीकरण और चित्त का रूपान्तरण।

संसार अनुप्रेक्षा की निष्पत्ति

मोह का सर्वथा नाश होने पर राग-द्वेष का मूलोच्छेद हो जाता है, तृष्णा नष्ट हो जाती है। तृष्णा के अभाव मे दुःख नष्ट हो जाता है। तृष्णा का जन्मदाता लोभ है। लोभ सभी पापो का निमित्त और सद्गुणो का विनाशक है।

अलोभ का अर्थ है अकिंचनता। जिसका अपना कुछ भी नही, वह अकिंचन है। अकिंचन की अवस्था मे होने वाला आनन्द अनिर्वचनीय और आत्मगम्य होता है। एक योगी ने कहा है—

अकिंचनोऽहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत्।
योगिगम्यमिदं प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः ॥

अपने आपको अकिंचनता की अनुभूति में रखो। उस स्थिति में तुम तीन लोक के अधिपति बन जाओगे। यह परमात्मा का योगिगम्य रहस्य है।

एकत्व भावना

आदमी अपने वाहरी वातावरण मे अकेला नही है। वह सामुदायिक जीवन जीता है और सवके वीच मे रहता है, किन्तु वह सव वातो में सामुदायिक नही है। सामुदायिक जीवन के प्रवाह से आने वाली समस्याओ से अपने मन को खाली वही रख सकता है जिसे व्यावहारिक सम्वन्धो के वीच अपने अस्तित्व की अनुभूति होती है। वह वाहरी समस्याओ का सामना करते हुए भी अपने अन्तस् मे समस्या से मुक्त रहता है। वाहर के वातावरण मे, समुदाय के वीच में रहते हुए भी वह अन्तस् मे अकेला रहता है और वाहरी जीवन मे व्यस्त रहते हुए भी वह अन्तस् मे व्यस्तता से मुक्त रहता है।

सामाजिक प्राणी सहयोग लेता है और सहयोग देता है। वह अकेला जीवन नही जी सकता। सवका सहयोग लेता है तो समाज चलता है। सामाजिक जीवन जीते हुए भी लोग इस सचाई को भूल जाते है कि अन्ततः व्यक्ति अकेला है। ध्यान करने वाले साधक को इस सचाई से वहुत परिचित रहना है। इस अनुप्रेक्षा को वार-वार दोहराना है। जिसका यह आलम्वन पुष्ट हो जाता है—आत्मा अकेली है, व्यक्ति अकेला है—उसे सहयोग न मिलने पर भी कोई कष्ट नही होगा, क्योकि उसका चित्त इस भावना से पूर्णरूपेण भावित है। वह परिस्थिति के आने पर भी टूटेगा नही। यदि यह भावना चित्त मे स्थित नही है, और व्यक्ति सुनता है कि सबने उसका साथ छोड़ दिया है, तो वह विक्षिप्त वन जाएगा, पागल हो जाएगा। ऐसा इसलिए होता है कि वह व्यक्ति अटल सचाई को विस्मृत किए चलता है। वह उस सचाई का पालन नही करता, अनुभव नही करता। यदि चित्त सचाई से भावित रहे तो ऐसी घटना घटने पर भी आदमी विचलित नहीं होता, व संभला रहता है।

जव सव साथ मे कार्य करते थे, वह आश्चर्य की वात नहीं है। अव सव विछुड़ गए या सहयोग खींच लिया, यह भी आश्चर्य की वात नहीं है। आश्चर्य की वात यह है कि ऐसी घटनाएं प्रति दिन घटती रहती हैं, फिर भी आदमी आंख मूंदकर सचाई की अवहेलना करता जा रहा है। 'मैं अकेला हूं'—यह है एकत्व अनुप्रेक्षा। आसक्ति द्वैत मे पैदा होती है अद्वैत की भावना पुष्ट होने पर वह विलीन हो जाती है। उपनिषद् का स्वर है—**'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'**—जो एकत्व को देखता है उसे क्या मोह होगा

और क्या शोक होगा ?

एकत्व की भावना का दृढ अभ्यास करने पर शरीर, उपकरण आदि पर होने वाली आसक्ति क्षीण हो जाती है। संयोग हमारी व्यावहारिक सचाई है। हम उसका अतिक्रमण नही कर सकते, किन्तु इस वास्तविकता को भी नही भुला सकते कि अन्ततः आत्मा उन सबसे भिन्न है। इस भेद-ज्ञान की अनुभूति को पुष्ट कर साधक देह मे रहते हुए भी देह के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

'एगो मे सासओ अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।'

ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा शाश्वत है। यही मै हूं। शेष सायोगिक पदार्थ मेरे से भिन्न है। वे 'मै' नही हूं।

दूसरों के साथ अपने को इतना संयुक्त न करें कि जिससे स्वय के होने का पता ही न चले। इस एकत्व भावना मे साधक अपने को समस्त संयोगों से पृथक् देखता है। प्लोटिस ने कहा है—'अकेले की अकेले के लिए उडान है।' नमि राजर्षि ने कहा—'सयोग ही दुःख है। दो मे शब्द होते है, अकेले मे नही। रानिया चदन घिस रही थी। चूडियो के शब्द कानो मे चुभ रहे थे। नमि राजर्षि ने कहा—बन्द करो। रानिया हाथ मे एक-एक चूडी रख चन्दन घिसने लगी। शब्द बन्द हो गया। नमि राजर्षि ने पूछा—'क्या चन्दन घिसना बन्द कर दिया ?' उत्तर मिला—'नही, घिसा जा रहा है।' तो शब्द क्यो नही हो रहा है, नमि ने पूछा। तब कहा—हाथ मे एक-एक चूडी है। एक चूडी कभी शब्द नही करती। यह सुनते ही तत्क्षण वे प्रतिबुद्ध हो गये और साधना के पथ पर चल पडे। साधक सर्वत्र स्वयं अकेले का अनुभव करे। यह सिर्फ कल्पना के स्तर पर ही नही, वस्तुतः जो अस्तित्व है, वह एक है, अकेला है। जिस दिन एकत्व की अनुभूति मे निमज्जन होने लगता है, शान्ति उस दिन स्वयं ही उसके द्वार खटखटाने लगती है।

अकेला कौन ?

आचार्य भिक्षु ने एक महत्वपूर्ण सूत्र दिया था। उन्होने कहा—'गण मे रहूं निरदाव अकेलो, किण स्यू ही नही बाधू जीललो—'मै गण-समुदाय मै रहूगा, पर अकेला रहूंगा। किसी के साथ गठ-बंधन नही करूंगा।' संघ मे रहते हुए अकेले रहना—एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यह साधना का परम रहस्य है। हम सर्वथा अकेले नही हो सकते। व्यक्ति सोच सकता है कि वह जंगल मे जाकर तो अकेला हो सकता है। कभी नही हो सकता। जगल मे जाने वाला तो इतनी भीड से घिर जाता है कि गाव मे रहने वाला भी नही

घिरता। हम अकेले कैसे हो सकते हैं, जब हमने अपने भीतर हजारों-हजारो संस्कार पाल रखे है। मस्तिष्क मे इतनी भीड़ है कि जिसका अन्दाजा नही लगाया जा सकता। इतना होने पर हम कही भी चले जाएं, क्या अकेले हो सकते हैं? अकेला होने का अवकाश ही प्राप्त नही है। जब तक यह मस्तिष्क खाली नही हो जाता तब तक आदमी अकेला नही हो सकता, कभी नही हो सकता।

अकेला होने का एकमात्र उपाय है—इस सचाई को स्वीकार करना कि संयोग मात्र संयोग है। ये शरीर, कपडे, मकान सब संयोग हैं। क्रोध आदि कषाय तथा बीमारिया—ये सब संयोग हैं। ये स्वभाव नही, विभाव हैं।

आदमी अकेला तब होता है जब ममकार और अहंकार का बन्धन टूट जाता है, आत्मा की सन्निधि प्राप्त हो जाती है। जब अकेलेपन का अनुभव गहरा होता चला जाता है, तब यह सचाई प्रत्यक्ष हो जाती है कि 'मै अकेला हूं'। इस परिप्रेक्ष्य मे एक प्रश्न उभरकर आता है कि क्या इस चिंतन से सारे पारिवारिक सम्बन्ध टूट नही जायेगे? यह प्रश्न उभर सकता है किन्तु हम एकागी दृष्टिकोण से विचार न करें। जीवन-यात्रा को चलाने के लिए व्यवहार की भूमिका पर यह बात भी जरूरी है कि 'मैं अकेला नहीं हूं। मेरे साथ अनेक सम्बन्ध जुड़े हुए हैं। मेरे साथ परिवार का, गाव का, राष्ट्र का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। मैं इन सूक्ष्म धागों से बधा हुआ हूं।' एक ओर व्यवहार की भूमिका पर आदमी अपने आपको हजारों-हजारो धागो से बधा अनुभव करे और अध्यात्म की भूमिक पर उन धागो मे मुक्त अनुभव करे। दोनो स्थितियां साथ-साथ चले। दोनो का सामंजस्य हो। व्यवहार की दृष्टि भी चले और निश्चय की दृष्टि, प्रेक्षा की दृष्टि भी चले। जो सामाजिक जीवन जीता है उसे इन धागो मे बधा रहना पडता है। किन्तु केवल इसी मे रह जाए और आध्यात्मिक चेतना न जगा पाए तो मूर्च्छा इतनी सघन हो जाती है और वे धागे मजबूत रस्से बन जाते है, फिर उनमे छूटना सरल नही होता।

अनुप्रेक्षा के द्वारा हम अपनी चेतना को जगाएं और अपने आप मे यह अनुभव करे—'मैं अकेला हूं', 'मैं चेतन हूं।' 'यह शरीर अचेतन है।'

मै अकेला हूं

बुढापा भी एक समस्या है। मैं मानता हूं कि यह बहुत बडा समाधान भी है। हमारा एक सूत्र है—एकत्व की अनुभूति का। महावीर ने कहा, 'तुम अकेले हो, कोई तुम्हारा नही है।' यह तथ्य हृदयगम नही होता। जब तक आदमी जवान होता है, परिवार के पालन-पोषण मे लगा रहता है, परिवार की ओर से उसे असीम प्यार मिलता है, स्नेह मिलता है और सभी

उसे आशाभरी दृष्टि से देखते है, उसे सम्मान और आदर देते है, तब तक वह कभी अनुभव नही कर पाता कि वह अकेला है। यह अनुभव होता ही नही। वह कहता है, 'मै कैसे मान लू कि मैं अकेला हूं'। यह मेरा परिवार मेरे बिना एक क्षण भी जी नही सकता। मेरे माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी-पुत्री मेरे बिना नही रह सकते। ऐसी स्थिति मे अकेलेपन का सूत्र उसे प्रतिकूल लगता है। किन्तु जब वह बूढा होता है, सबको उससे प्राप्त होने वाले स्वार्थ बन्द हो जाते है, किसी के लिए वह काम का आदमी नही रहता, निकम्मा हो जाता है, आकर्षण के सारे धागे टूट जाते है, कोई कहना नही मानता, कोई सम्मान नही देता, तब वह सोचता है—अरे! बड़ा विचित्र संसार है! यहा कोई किसी का नही है। प्रत्येक व्यक्ति अकेला है। मै अकेला हूं, मेरा कोई नही—यह अनुभूति इतनी तीव्र होती है कि वह सोचता है—आज मेरा कोई सहायक नही रहा, पूछने वाला नही रहा। सब मेरी उपेक्षा करते है। सब मेरी बात टाल देते है। वास्तव मे मैं अकेला हू। प्रत्येक बूढे व्यक्ति के साथ ऐसा अधिक या न्यून मात्रा में घटित होता है। अगर बूढा आदमी उस स्थिति को एक अवसर मान ले तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। अन्यथा हर स्थिति उसे बहुत दुखी बना देती है। बुढापा बहुत बडी समस्या है और दुखी होने का बहुत बडा अवसर है। किन्तु बुढापा सुख से कट सकता है यदि बूढे व्यक्ति मे थोडी-सी आध्यात्मिक चेतना जागृत कर दी जाए और 'मै अकेला हूं'—यह भावना उसके आत्मगत हो जाये। इस सचाई को समझने का यह अनमोल अवसर है। बहुत बड़ा सत्य उसके लिए उद्घाटित हो जाता है कि वास्तव मे मनुष्य अकेला है। ये जोड़ने वाले जो धागे है, अभिन्नता का भ्रम पैदा करने वाली ये जो अपेक्षाएं है, ये सब मोह के गर्त मे ढकेलने वाली है। इन्हे तोड़ने का यह अवसर है। इनके टूट जाने पर जो शुद्ध 'मैं' है वह बच जाता है और 'मैं अकेला हूं' यह स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है। ऐसी स्थिति मे जो यथार्थ 'मैं' था, वह बच गया, शेप सारे विलीन हो गये।

जब आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट हो जाता है, अन्यत्व की अनुप्रेक्षा अनुभव मे उतर आती है तब पहली बार उसे अनुभव होता है कि 'मैं अकेला हूं'। तब एकत्व की अनुप्रेक्षा, एकत्व का चिन्तन फूट पडता है। वह सोचता है—मैं अकेला हूं। जब शरीर भी मेरा नही है तब दूसरा फिर मेरा कौन होगा? मैने जिसे स्वजन मान रखा है, वह मेरा कैसे होगा? यह दूर की बात है। मेरे सबसे निकट है—शरीर। जब शरीर भी मेरा नहीं है तब वह (स्वजन) मेरा कैसे होगा? वह स्व कैसे होगा? वह भी तो पराया ही है। जब परत्व की बुद्धि जागी तो एक भ्रम और भाग गया। जिसको स्व माना था, उसके प्रति राग सचित कर रखा था और जिसको स्व नही माना, पर

माना, उसके प्रति द्वेष सचित कर रखा था। पराए के प्रति कोई राग नही होता। जो अपना है, उसके प्रति राग होता है। स्व और पर की जो मान्यता बना रखी थी, वह भ्रम भी टूट गया। अब स्पष्ट बोध हो गया कि कोई 'स्व' नही है। जब शरीर भी 'स्व' नहीं है तो दूसरा पदार्थ 'स्व' कैसे होगा? जब कोई भी 'स्व' नही है तो कोई 'पर' कैसे होगा? यह 'स्व' और 'पर' की रेखा ही समाप्त हो जाती है। यदि कोई 'स्व' हो तो किसी को 'पर' माना जाए। कोई अपना हो तो दूसरे को पराया माना जाए। 'स्व' और 'पर' का चिन्तन ही समाप्त हो जाता है। अकेला, केवल अकेला। वह अपने आपको देखता ही अकेला है।

आप सोच सकते है कि यह सब अव्यवहारिक बातें हैं। इस चितन से क्या कोई परिवार चलेगा? क्या कोई समाज चलेगा? क्या कोई राष्ट्र चलेगा? यदि सब आदमी अपने को अकेले ही अकेले अनुभव करें तो क्या समुदाय बन पाएगा? क्या कोई समष्टिगत कार्य हो सकेगा? क्या कोई शक्ति का निर्माण हो सकेगा? शक्ति का निर्माण तब होता है जब दो मिलते है, दो का योग होता है। योग होता है तब मकान बनता है। अकेले तन्तु की कोई कीमत नही होती। जब तन्तु मिलते है, उनका परस्पर योग होता है तब वस्त्र बनता है जो नग्नता को ढांकने में, सर्दी और गर्मी से बचाने मे सक्षम होता है। जहां संगठन होता है, मिलन होता है, समुदाय बनता है, वहा शक्ति पैदा होती है। समाज की सारी शक्ति समुदाय पर निर्भर होती है। समुदाय होते ही शक्ति पैदा हो जाती है। अकेले में कुछ नही होता।

व्यवहार के धरातल पर यह चिन्तन उभरता है और ऐसा लगता है कि अकेलेपन की बात सर्वथा अव्यावहारिक और असामाजिक है। ऐसा लग सकता है। व्यवहार का अर्थ ही होता है—स्थूल। जब व्यक्ति स्थूल भूमिका पर खड़ा रह कर सोचता है तब वह ऐसा ही सोच पाता है। ऐसा सोचना, उस भूमिका की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण नही है। यह सच है कि एक इंट से कभी मकान नही बनता। यह कहावत भी सच है कि इंट से इंट बजती है। जहा दो मिलते है वहां शक्ति पैदा हो जाती है। जहां दो मिलते हैं वही संघर्ष पैदा होता है, चिनगारिया उछलती है। दो होने के साथ विशेताएं भी है और दो होने के साथ कठिनाइया और समस्याएं भी हैं। दो ने कभी लडाई न की हो, ऐसा कही नही मिलता तो अकेले आदमी ने कभी लडाई की हो, ऐसा भी कही नही मिलता। दो में कभी न कभी टकराहट हो ही जाती है। निरन्तर साथ रहने वाले पिता-पुत्र, पति-पत्नी भी बिना टकराहट के नही रह पाते। प्रतिबिम्ब से भी टकराहट हो जाती है। चिड़िया काच पर बैठती है और अपने ही प्रतिबिम्ब से लड़ने लग जाती है। वह प्रतिबिम्बित चिड़िया के चोच मारती है, जब तक कि उसकी चोच घायल

नही हो जाती। शेर ने पानी में अपना प्रतिविम्व देखा और उसे मारने के लिए दौड़ा। वह पानी मे डूबकर मर गया, अपने प्राण न्योछावर कर दिए, किन्तु वह विना टकराहट के नही रह सका। जव प्रतिविम्व से भी टकराहट हो जाती है तो साक्षात् मे विना टकराहट के रहना असंभव-सा हो जाता है।

उपनिपद्कार कहते है—'द्वितीयाद् वै भयम्' जव दूसरा होता है तव भय उत्पन्न होता है। जब दूसरा होता है तव कार्य मे वाधा आती है, स्वतन्त्रता खडित हो जाती है। अकेले मे व्यक्ति जो कुछ चाहे कर सकता है, किन्तु जब दूसरे के आने की आशका होती है तव वह सावधान हो जाता है, मनचाहा कर नही सकता। इस प्रकार दूसरा होता है तव आशका उत्पन्न होती है, भय होता है, संघर्ष होता है। इस पहलू को ध्यान मे रखना है। अकेला होना अस्वाभाविक नही है, असामाजिक नही है। जो व्यक्ति समाज मे रहता हुआ भी अपने आपको अकेला अनुभव करता है वह हजारो समस्याओ से वच जाता है।

इस सारी स्थिति मे अप्रमाद का सूत्र है—अकेलेपन की अनुभूति। सारे सम्पर्को को तोड कर व्यक्ति व्यवहार मे जी नही सकता। मै व्यवहार को तोडने की वात नही कह रहा हू। व्यवहार को आदमी तोड भी नही सकता। व्यवहार को तोड़ कर आदमी जी भी नहीं सकता। ससार चल नही सकता। इन बातो से व्यवहार टूटेगा नही। इसमें और मधुरता आएगी। यदि वास्तव मे आप अपने-आप मे अकेलेपन का अनुभव करेंगे तो अनेक कठिनाइयो से वच जाएगे। आप न चिन्ता के शिकार होंगे और न दुःख के। दूसरो के व्यवहारो को देखकर आप उलझेगे नही, दु खी नही होंगे। आपका मन शान्त रहेगा। और इस स्थिति मे आप द्वारा किए गए व्यवहार दूसरो को मधुर लगेगे। आपके मस्तिष्क मे निरन्तर एक सूत्र कार्यरत रहेगा 'मै अकेला हू।' जव कोई भी समस्या सामने आएगी, आप इस सूत्र से समाहित हो जायेंगे। समस्या आपको पीडित नही करेगी। जो समस्या सोलह आना लगती है, वह एक आना मात्र रह जाएगी। उसे भी आप व्यवहार के धरातल पर सुलझा लेगे। यदि अकेलेपन का आलवन-सूत्र आपके पास नही है तो छोटी समस्या भी वडी वन जाएगी। वह सुलझेगी नही। अप्रमाद की साधना व्यक्तिगत जीवन और व्यवहारिक जीवन—दोनो मे लाभप्रद है। दोनो की समस्याओ का समाधान देने मे यह सक्षम है। यह साधना समस्याओ को सुलझाती है और एक-एक चरण आगे बढने मे हमारी सहायक होती है।

सपर्क से हम जुडते और पलायन कर जाते है, भाग जाते है। जुडना और भाग जाना—दोनों वाते ठीक है। जुड जाना भी अच्छा है और भाग जाना भी अच्छा है। समुदाय मे रहना भी अच्छा है और अकेले मे रहना भी अच्छा है। एक वात कोई अच्छी नही होती क्योकि हम व्यवहार का जीवन

जी रहे है। हमारा स्तर है व्यवहार का। जहा शरीर है, जीवन है, वहां हमारी आवश्यकताए भी है। हमे रोटी भी खानी है, कपडा भी पहनना है, मकान भी बनाना है मकान मे रहना भी है--ये सब जरूरी है। ऐसी स्थिति में हम संपर्कों को तोड़ नही सकते। हमे संपर्कों का सहारा लेना होता है। किन्तु जहा हमे वास्तविकता के जगत् मे जीना है, सत्य के जगत् मे जीना है, वहां हमे अकेला ही जीना होगा, अकेला ही रहना होगा। अन्यथा हमे सारी कठिनाइयों का भार ढोना होगा। इसके सिवाय कोई दूसरा विकल्प नही है।

भीड़ में भी अकेला

साधक अकेला रहे या समूह में? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न का समाधान आगम के आलोक मे यह मिलता है—**'एत्थ दो नया निच्छयनओ ववहारनओ य।'** किसी भी विवादास्पद प्रश्न को एक ही कोण से देखने पर समाधान नही मिलता। समाधान की अनेक दिशाए हैं। कम-से-कम दो दिशाए है—निश्चय और व्यवहार। निश्चय नय एक सचाई है। इसके अनुसार व्यक्ति अकेला आता है, अकेला जाता है, अकेला सुख-दुख का भोग करता है और अकेला ही साधना करता है। इस भावना का प्रतिनिधित्व करने वाला एक राजस्थानी दोहा है—

आप अकेला अवतरं, मरं अकेला होय।
यूं कबहूं इण जीव रा, साथी सगो न कोय॥

यह वास्तविकता है। इस सचाई को भूलने से वहुत वडी दुविधा उत्पन्न हो जाती है। कोई व्यक्ति यह सोचे कि मेरे विना उसका काम नही चलता या उसके विना मेरा काम नही चलता, यह उसका मानसिक भ्रम है। सचाई यह है कि किसी का काम किसी के विना रुका नही रहता। जन्म और मृत्यु का प्रवाह वहता है। हर व्यक्ति इस प्रवाह में वहकर अदृश्य हो जाता है और ससार का काम ज्यो-का-त्यो चलता रहता है। फिर यह रात-दिन की चिंता और बैचेनी क्यो? एकत्व अनुप्रेक्षा को विस्मृत कर देने से यह परेशानी खडी होती है। वास्तव मे व्यक्ति स्वय का स्वामी है। इसलिए वह अकेला रहना सीखे और अकेला जीना सीखे। शक्तिशाली व्यक्ति सदा ही अकेला रहता है। जगल का शेर कब सोचता है—

एकोऽहमसहायोऽहं, कृशोऽहमपरिच्छदः।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिंता, किं मृगेन्द्रस्य जायते?'

मै अकेला हू, असहाय हूं, कृश हू, मेरा कोई परिवार नही है। क्या इस प्रकार की चिंता सिंह को कभी स्वप्न मे भी होती है?

शेर भी एक प्राणी है और मनुष्य भी एक प्राणी है। मनुष्य क्या शेर

सन्त इकहार्ट जंगल में किसी वृक्ष के नीचे शान्तभाव से बैठा था। उसका कोई पुराना मित्र उधर से गुजरा। उसने देखा इकहार्ट अकेला बैठा है। वह उसके पास जाकर बैठ गया और बोला—'शायद आप अकेले बैठे-बैठे ऊब रहे है, यह सोचकर मै आपके पास आया हूं।' सन्त बोला—'भाई! मै अकेला कहां था? मैं तो अपने साथ था। मेरा प्रभु मेरे साथ था। तुमने आकर मुझे अकेला कर दिया। अब मेरा 'मैं' अर्थात् 'मेरा प्रभु' मुझ से छूट गया।' कितना गहरा रहस्य है इस अभिव्यक्ति मे? इस रहस्य को वे ही समझ सकते है जो अकेले जीने की कला जानते हैं। समूह मे बंधा हुआ व्यक्ति न तो इस रहस्य को समझ पाता है और न अकेलेपन के सुख का अनुभव कर सकता है।

एकत्व भावना की अनुप्रेक्षा करने से द्वैत से उभरने वाली समस्या का समाधान हो सकता है।

तीर्थंकर साधना के प्रारम्भ मे अकेले रहते है, किन्तु केवलज्ञान उपलब्ध होने के बाद वे संघ में रहते है, उपदेश देते है, विहार करते हैं और जन-सम्पर्क करते है। प्रश्न हो सकता है कि वे ऐसा क्यो करते है? उत्तर सीधा है—'**सकम्मसेसेण**' उनका भी कर्म-भोग शेष रह जाता है। कुछ कर्म बच जाते है। उन शेष बचे हुए अघात्य कर्मो को समाप्त करना और जनता को जागृत करना, यही उद्देश्य है तीर्थंकरो द्वारा संघ-व्यवस्था के प्रवर्तन का।

साधक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह जिस मार्ग को उपलब्ध करता है, उस पर चलने के लिए औरों को भी प्रेरित करे। उसका यह प्रयत्न भी बचे-खुचे संस्कारों को समाप्त करने का प्रयत्न है। मूल बात यह है कि साधक का कोई आग्रह नही होना चाहिए। उसके मार्ग-दर्शक उसे जो पथ दिखाएं, वह अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ उस पथ पर चले। इस क्रम से वह भीड़ मे भी अकेला रह सकता है। रास्ता यदि सही नही है तो अकेलेपन मे भी वह भीड से घिरा रहता है। इसलिए मानसिक दृष्टि से अकेलेपन का अनुभव ही निरापद मार्ग है।

सत्य का सार्वभौम स्वरूप

अध्यात्म का एक महान सूत्र है—समूह मे रहते हुए भी एकांत का अनुभव करना। साधना करने वाले व्यक्ति के लिए यह परम वांछनीय है। जिस व्यक्ति ने अकेलेपन का अनुभव किया, उसने सचमुच अपनी चेतना को बदल दिया, अपने व्यक्तित्व का रूपान्तरण कर लिया।

रूस के महान् साधक गुर्जिएफ तीन महीने का प्रयोग करवाते थे कि एक हॉल मे १०,२०,३० आदमी एक साथ रहे। साथ मे खाएं-पीएं-जीएं, पर निरंतर 'मै अकेला हूं' इस बात का अनुभव करते रहे। इस एकत्व-अनुप्रेक्षा

से कम शक्तिशाली है ? वह अनन्त शक्ति सम्पन्न है। इसलिए उसे अकेलेपन का भय कभी होना ही नही चाहिए।

के सूत्र को उन्होंने काम में लिया। सत्य पर किसी का अधिकार नही होता। सत्य सार्वभौम होता है।

हिन्दुस्तान का व्यक्ति हो या रूस का व्यक्ति हो, चाहे दुनिया के किसी कौने मे जन्म लेने वाला व्यक्ति हो, जो अध्यात्म की भूमिका मे जाता है, जो सत्य की खोज में जाता है, उसे वही वात मिलती है जो यहां मिलती है। सत्य की उपलब्धि मे देश और काल की सारी सीमाएं समाप्त हो जाती हैं।

एकांतवास का एक अर्थ है—एकांत मे रहने का अभ्यास, एकांत का प्रयोग। दूसरा अर्थ है—एकत्व का अनुभव। एकांतवास का तीसरा अर्थ है—प्रतिस्रोत गमन की क्षमता। भीड़ मे चलना, स्रोत के साथ-साथ चलना—यह गमन का एक प्रकार है। दूसरा भीड़ से विमुख होकर चलना, अनुसरण को छोडना, प्रतिस्रोत में चलना है। वहुत सहज होता है अनुस्रोत मे चलना। स्रोत वह रहा है, कोई भी तिनका आएगा, स्रोत मे वह जाएगा। कोई भी चीज आती है, स्रोत मे वह जाती है। स्रोत के प्रतिकूल चलना, वहुत कठिन साधना है। भीड़तत्र आज का ही नही है। मनुष्य का समाज वना तव से चल रहा है। जव से मनुष्य ने व्यक्ति से अपने आपको समाज मे ढाला तो अनुसरण की वृत्ति विकसित हुई।

जव समाज को हम इस दृष्टि से देखते है कि सव लोग ऐसा करते है और यदि मैं ऐसा न करू तो क्या फर्क पड़ेगा अथवा सव ऐसा नही करते है और मैं ऐसा करु तो क्या फर्क पडेगा। दोनो वातें हमे सत्य से दूर ले जाती है। एकत्व का अनुभव करने वाला व्यक्ति, भीड़तन्त्र को न मानने वाला व्यक्ति, अनुसरण की वृत्ति को छोडने वाला व्यक्ति यह तर्क नही रखता कि समाज क्या करता है, समाज क्या नही करता है ? उसका चिंतन यह होगा कि मुझे क्या करना चाहिए। दूसरे चाहे करे या न करें, मेरा धर्म क्या है, मेरा कर्त्तव्य क्या है, मेरा दायित्व क्या है। इस चिंतन का विकास एकत्व की भूमिक के आधार पर ही सम्भव हो सकता है। हमारी एकत्व की भूमिका नही रहती है तो मुझे नही लगता कि इस प्रकार की वृत्ति का विकास हो सके। हमारे जीवन मे अनुकूलताएं एवं प्रतिकूलताएं आती हैं। सर्दी आती है और गर्मी आती है। सर्दी को सहना और गर्मी को सहना। अनुकूलता को सहना और प्रतिकूलता को सहना कठिन काम है। प्रतिकूलता की अपेक्षा अनुकुलता को सहना कठिन काम है। हर व्यक्ति सह नही पाता। जव अनुकूलता की स्थिति होती है तो आदमी इतना अहंकार से भर जाता है, दर्प से भर जाता है कि अन्याय करते कोई संकोच नही होता। जव हाथ मे सत्ता होती है, अधिकार होता है, फिर अन्याय करने मे कोई संकोच नही होता।

इसलिए नही होता कि अनुकूलता को व्यक्ति सहन नही, कर पाता। द्वेप बुराई तो है पर इतनी भयंकर बुराई नही जितनी राग की बुराई है। अप्रियता बुराई तो है पर उतनी बुराई नही, जितनी प्रियता का संवेदन बुराई है।

एक सस्कृत कवि ने ठीक लिखा कि जो भंवरा काठ को भेदकर चला जाता है, वही भंवरा कमल कोप में वन्द हो जाता है। उसे भेदकर वाहर नही निकल पाता। कहां काठ और कहां कमलकोप! किन्तु कठोर काठ को भेद देना उसके वश की वात है। किन्तु राग का वन्धन इतना तीव्र होता है कि वह उसे तोड़ नही पाता, भेद नही पाता। अनुकूलता को सहन करना वहुत वड़ी समस्या है। अकेला होने वाला व्यक्ति, अकेलेपन की साधना करने वाला व्यक्ति सवसे पहले उस राग के वन्धन को तोडने की वात को सीख लेता है। समाज कभी अप्रियता के आधार पर नहीं जुड़ता। सम्वन्ध कभी अप्रियता के आधार पर नही वनते। कभी दण्डशक्ति का उपयोग करने वाला दूसरे के साथ कभी अपना सम्वन्ध स्थापित नही कर पाता। वह कष्ट दे सकता है, दु खी वना सकका है, पर सम्वन्ध नही वना सकता। सारे-के-सारे सम्वन्ध जुडते है प्रेम और आत्मीयता के आधार पर। जो प्रेम का धागा है, उसी के आधार पर राग के संवध स्थापित होते है। किन्तु सत्य आखिर सत्य होता है, उसे झुठलाया नही जा सकता। साधना और ध्यान करने वाला व्यक्ति इस सचाई को समझ लेता है कि इस धागे के आधार पर हमने यह सम्वन्ध स्थापित किया है किन्तु यह प्रेम–स्नेह का धागा भी वहुत मजबूत धागा नही है, अन्तिम सचाई नही है। अन्तिम सचाई है कि 'मैं-मैं' और 'तू-तू'। वहुत कटु वात लग सकती है, अव्यवहारिक वात लग सकती है, किन्तु हम इस सचाई को झुठला नही सकते।

हम अकेलेपन की सचाई को न भूले। वह चाहे कटु हो, चाहे अव्यावहारिक हो। जो इस सत्य को समझ लेता है वह सत्य और शान्ति को उपलब्ध हो सकता है, दु खो से वच सकता । एक वहुत वडा सूत्र है मनोवल को वढाने का—'एकला चलो'।

अक्रियता का अनुभव

एकत्व सचाई है। किन्तु मनुष्य ने इसको झुठलाने का जितना प्रयत्न किया उतना प्रयत्न शायद किसी और दिशा मे नही किया। झुठलाने का प्रयत्न निरतर चलता रहा और वह प्रयत्न चलते-चलते आज इस विन्दु पर पहुंच गया कि समाज ही परम सत्य या ध्रुव सत्य वन गया। आदमी ने मान लिया कि समाज ही अन्तिम सत्य है, व्यक्ति तो समाज का एक पुर्जा मात्र है। एक महायन्त्र का छोटा-सा पुर्जा है व्यक्ति। इसके अतिरिक्त व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नही है। इस मान्यता ने व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व को ही

समाप्त कर डाला। व्यक्ति की स्वतंत्रता पर भारी कुठाराघात हुआ। क्या व्यक्ति का कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है? क्या व्यक्ति समाज का एक पुर्जा मात्र है? जव व्यक्ति समाज का पुर्जा ही है तव फिर समाज के द्वारा जो प्राप्त होता है उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। किन्तु कठिनाई यह है कि समाज से जो उपलब्ध होता है उसे व्यक्ति सहर्ष स्वीकार नही करता। तत्काल उसका मानसिक तनाव बढ जाता है। वह भीतर मे अनुभव करता है—मैं व्यक्ति हूं। मेरी स्वतत्र सत्ता है। मेरा स्वतत्र अस्तित्व है। एक ओर स्वतंत्र अस्तित्व की वात मन से निकलती नही और दूसरी ओर सामुदायिकता का सघन सूत्र उसके सिर पर थोपा जाता है। इन दोनो स्थितियो के वीच सारे तनाव वढते चले जाते है।

तनावों से वचने का ही उपाय है—अक्रियता की अवस्था का निर्माण। ध्यान से अक्रियता की अवस्था का निर्माण होता है। समुदाय मे रहते हुए अकेलेपन के अनुभव करने से भी इस अवस्था का निर्माण होता है। 'मैं अकेला हू, शेप सव संयोग है।' सयोगो को अपना अस्तित्व मानना सक्रियता है। उन्हे अपने अस्तित्व से भिन्न देखना, अनुभव करना, अक्रियता है।

महावीर ने छह महीने तक एकत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया था। अकेले व्यक्ति को यदि तीन महीने तक एक कोठरी मे वद कर दे और वह यह सोचता रहे कि 'मै अकेला हू' तो तीन महीने के वाद जब वह वाहर आएगा तो वह इतना वदल जाएगा कि वाहर कि दुनिया उसे झूठी प्रतीत होने लगेगी। वह सोचेगा—सव कुछ झूठ-ही-झूठ है। जो लोग अपने सबधो की चर्चा करते है, वे सव असत्य है। ससार मे होने वाले सवध सत्य नही है। सत्य है अकेलापन।

अन्यत्व भावना

स्वस्थ चिंतन का पहला सूत्र है—अन्यत्व की अनुप्रेक्षा। जो आज तक उपलब्ध नही हुआ था वह इससे उपलब्ध हो जाता है। सम्यग-दर्शन का मूल है अन्यत्व भावना। 'मैं शरीर से भिन्न हूं और शरीर मुझसे भिन्न है'—यह अन्यत्व भावना है, अनुप्रेक्षा है। जैसे-जैसे अन्यत्व की भावना पुष्ट होती चली जाती है, वैसे-वैसे आत्मा का ज्ञान, आत्मा का प्रकाश हजारों-हजारों रश्मियों को फैलाता जाता है और मोह का अन्धकार विलीन होता चला जाता है। अन्यत्व की भावना के जागरण के साथ अनेक ग्रंथियां खुल जाती है। शरीर को अपना मानकर जितने तनाव पैदा किये थे, जितनी ग्रंथियो का पात हुआ था, वे सारे तनाव मिट जाते है, वे सारी ग्रंथियां खुल जाती है। व्यक्ति तनावो और ग्रंथियो से मुक्त हो जाता है।

शरीर मे बीमारी हुई, आदमी रोने लग जाता है। शरीर को थोड़ा-सा कष्ट हुआ, आदमी दीन बन जाता है। आप सोचते होंगे कि कष्ट के कारण ऐसा होता है। यह सच नही है। कष्ट के कारण ऐसा नही होता। यह होता है ग्रंथियो के कारण, संस्कार के कारण। हमारी देहासक्ति इतनी पुष्ट है कि हमने मान लिया कि शरीर को कुछ भी कष्ट नही होना चाहिए। इस मान्यता के कारण थोड़ा-सा कष्ट भी असहनीय बन जाता है। पर जिनकी अन्यत्व भावना जागृत हो जाती है, हजारो कष्टो के आने पर भी उनकी मधुर मुस्कान को कभी नही मिटाया जा सकता। उनके चेहरे पर कभी दीनता का भाव नही उभरता। वे कभी खिन्न नही बनते। वे बहुत शारीरिक वेदना के होने पर भी उसकी अवज्ञा कर देते है, उस ओर ध्यान ही नही देते। शरीर को कष्ट होता है इसलिए आदमी नही रोता। किंतु मेरे शरीर को कष्ट नही होना चाहिए, यह मान्यता उसे रुलाती है। इसी मान्यता के कारण आदमी रोता है। जब अन्यत्व भावना पुष्ट हो जाती है तब 'मेरे शरीर को कष्ट नही होना चाहिए'—यह ग्रंथि खुल जाती है, ग्रंथि समाप्त हो जाती है। फिर कष्ट होता है तो वह द्रष्टा की भांति देखता है कि शरीर मे कुछ हो रहा है। कुछ घटना घटित हो रही है। वह केवल द्रष्टा होता है, संवेदक नही।

एक व्यक्ति आया। वह ध्यान का अभ्यास कर रहा था। मैंने पूछा—'ध्यान का क्रम चल रहा है?' उसने कहा—'दर्द हो रहा था, इसलिए अभी बंद कर दिया है।' मैंने कहा—जहां दर्द है, उसी पर ध्यान करो। उस दर्द पर ही मन को एकाग्र कर दो।' उसने वैसा ही किया। पांच-दस दिन

तक क्रम चला। जैसे-जैसे ध्यान करता गया, कष्ट का भान ही समाप्त हो गया।

दर्द किसको होता है, आत्मा को या शरीर को ? आत्मा को कोई दर्द नही होता। हमने अपनी सारी चेतना को दर्द के साथ जोड रखा है और इस मान्यता के आधार पर जोड रखा है कि यह दर्द मुझे हो रहा है। तभी आपको यह सारा दर्द हो रहा है। यदि भेद-ज्ञान स्पष्ट हो जाए, 'अन्यत्व का चिंतन स्पष्ट हो जाए तो हम स्वास्थ्य के एक ऐसे वातायन मे जाकर बैठेगे जहा से द्रष्टा की भाति देख सकेगे कि यह रहा दर्द और यह रहा मै। यह रहा पथिक और यह रहा मै। जैसे वातायन पर बैठा आदमी रास्ते चलते आदमी को देखता है, वैसे ही वह कष्ट को अलग देखेगा और अपने को अलग देखेगा। अन्यत्व भावना के विकसित होने पर यह स्थिति बनती है। मै कोई तत्वचिंतन की बात नही कर रहा हूं। यदि यह तत्वचिंतन की बात होती तो मेरी बात का प्रतिपक्ष भी होता, मेरे तर्क का प्रतितर्क भी होता, मेरी उक्ति की प्रत्युक्ति भी होती। किन्तु यह सारी साधना की बात है, हर व्यक्ति के अनुभव करने की बात है। प्रत्येक का अनुभव अपना-अपना होता है। यह सारी अनुभव की बात है। साधक भेदज्ञान को प्राप्त करे, विवेक चेतना का जागरण करे, आत्मा की भूमिका पर आकर आत्मा और शरीर के अन्यत्व अनुप्रेक्षा की बात करे, कायोत्सर्ग की साधना करे। उस भूमिका पर पहुंचकर वह यह अनुभव करे कि ऐसा हो सकता है या नही।

जिसने कायोत्सर्ग किया उसने साधना की भूमिका पर आकर ही किया। जिसकी अन्तर्दृष्टि खुली, वह साधना की भूमिका पर ही खुली। उसने साधना के द्वारा ही यह समझा कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। तर्क के द्वारा समझा हुआ व्यक्ति इस भूमिका पर नही पहुंच सकता।

दो बाते है—एक है शैक्षणीय और दूसरी है साक्षात् करणीय। शैक्षणीय बाते आगम से, गुरुमुख से या परंपरा से सीखी जाती है। बहुत से लोगों ने **'आत्मान्यः पुद्गलश्चान्यः'**—आत्मा अन्य है और पुद्गल अन्य है इसे रट रखा है। किन्तु जब उनका शरीर कष्टों से आक्रात होता है तब वे इस सिद्धात को बिल्कुल भूल जाते है। ऐसी स्थिति मे यह सिद्धांत विफल हो जाता है। यह तो विफल होगा ही। उसने तो केवल यह सिद्धात रट रखा है, इसे केवल शैक्षणीय मान रखा है। इसकी एक सीमा होती है। पहले-पहले कोई बात शैक्षणीय होती है, मान ली जाती है, उधार ली जाती है। किन्तु उधार को सदा उधार ही बनाये रखे, यह नही होना चाहिए। उधार को चुकाना पडता है, अपना कुछ अर्जित करना पडता है। हम शैक्षणीय को साक्षात्करणीय बनाये। हम उसे अनुभव में उतारें कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। ऐसा होने पर ही यथार्थ घटनाए घटित होने लगेगी। व्यक्ति

ज्यो-ज्यो गहराई मे जाता है तब उसे अनुभव होता है, यह सृष्टि भी संयोगात्मक है। यह एक सराय है जहा पथिक विभिन्न दिशाओ मे आकर मिलते हैं, विश्राम करते है और फिर वापस लौट जाते हैं। पथिको के साथ तादात्म्य कैसा ? उनका सयोग कितने दिनो का हो सकता है ?

समस्त योग-वियोग मे अपने को न जोडकर जीना ही अन्यत्व भावना का ध्येय है।

भौतिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व की पहचान

आध्यात्मिक व्यक्तित्व मे पदार्थ का भोग होगा। आध्यात्मिक व्यक्ति खाएगा, पीएगा, कपड़े भी पहनेगा, मकान मे भी रहेगा। यह सब कुछ करेगा, पर जुड़ेगा नही। वह यह कभी नही कहेगा—मेरा कपडा, मेरा मकान। वह कहेगा—इस मकान मे मै अभी रह रहा हू। यह कपडा मेरे पहनने के काम आ रहा है। गावो मे जब लोगो से पूछते हैं-- क्या यह मकान तुम्हारा है ? घर का मालिक कहता है—'मकान किसका ! भगवान का, महाराज ! मै तो यहा रहता हू।' इस कथन के पीछे एक सिद्धात है। सचाई यह है कि मकान किसका हो सकता है ? किसी का नही हो सकता। आज तक भी यह संपदा और भूमि किसी की नही बनी। इसीलिए कहा जाता है, यह सपदा और भूमि शाश्वत कन्याएं है, कुंआरी कन्याएं है। आज तक इनका पाणि-ग्रहण नही हुआ, विवाह नही हुआ। सपत्ति शाश्वत कुआरी है। अनन्त काल बीत जाने पर भी वैसी-की-वैसी रहेगी।

पदार्थ का भोग करना और पदार्थ के साथ ममत्व को जोड़ना—ये दोनो भिन्न बाते हैं। ये दोनो एक नही है। भौतिक व्यक्तित्व मे पदार्थ का उपभोग होता है, ममत्व जुड़ता है। आध्यात्मिक व्यक्तित्व मे पदार्थ का उपभोग अवश्य होता है, पर ममत्व नही जुड़ता। उसमें 'पदार्थ' और 'मेरा'—ये दोनो अलग रहते है, जुड़ते नही।

स्वतन्त्रता की प्रक्रिया

हमारी परतन्त्रता का एक पहलू है रासायनिक प्रतिबद्धता। जीवन का दूसरा पहलू है—स्वतन्त्रता। जब साधना के द्वारा चेतना बदलती है तब रसायनो का प्रभाव समाप्त हो जाता है। जहर का कार्य है मार डालना। क्या जहर मीरां को मार सका था ? मीरां ने जहर का प्याला पीया। कोई असर नही हुआ। भयकर सर्प चंडकौशिक क्या महावीर को मार सका था ? उसकी एक फुफकार से आदमी राख का ढेर हो जाता है। उसने महावीर को तीन बार डसा, पर व्यर्थ। महावीर पर कोई असर नही हुआ।

जब शरीर की पकड होती है तभी प्रभाव होता है। शरीर की पकड जितनी मजबूत होगी, प्रभाव भी उतना ही गहरा होगा। शरीर की पकड़

छुटेगी, चैतन्य के प्रति जागरुकता बढेगी तो शरीर का भान नही रहेगा। शरीर का ममत्व छोड देने पर, शरीर रहेगा, उस पर कुछ भी घटेगा, पर चैतन्य अप्रभावित रहेगा। जब प्राण और चेतना—दोनो भीतर चले जाते है, उनका समाहार हो जाता है, तब शरीर पडा है, उसे सांप काटे, कोई भी काटे, कुछ असर नही होगा चेतना पर। यह दूसरा पक्ष है। हमारी चेतना रूपान्तरित होती है प्रेक्षा के द्वारा। वह परिष्कृत और परिमार्जित होती है ज्ञाता-द्रष्टा भाव के द्वारा। उस स्थिति मे दोनो प्रकार के रसायनो का प्रभाव नही होता। यदि होता है तो अत्यल्प मात्रा मे। यह हमारी स्वतन्त्रता का पक्ष है।

महावीर ने कहा—'सहो, सहो। सदा सहन करते रहो।' यह बात तभी समझ मे आ सकती है, जब सहने के साथ-साथ इसका भी अभ्यास करे कि हम विशिष्ट स्थान पर चेतना को कैसे केन्द्रित और नियोजित कर सकते है? जिस रोग को हम समस्या मानते है, वह हमारे लिए एक प्रयोग-भूमि बन जाता है। वह हमारे लिए एक प्रयोगशाला का काम करने लगता है। इस आध्यात्मिक प्रयोगशाला मे हम जान सकते है कि रोग किसके है? रोग किसे बाधा पहुचा रहे है? मै कौन हूं? इन्हे अलग-अलग समझने का मौका मिलता है। यह रहा रोग और यह रहा मैं। अन्यथा हम एक ही मान लेते है कि, 'मैं रोगी हू।' यह मानते रहेगे तब तक रोग सताएगा। जब हम यह मान लेते है कि 'मेरा रोग नही,' 'मे रोगी हूं' तो हम रोग से अभिन्न हो गये। यदि 'मेरा रोग' यह मानते तो भी कुछ दूरी प्रतीत होती, किन्तु 'मैं रोगी' इसमे कोई दूरी नही, दोनो एक हो गए। इस अवस्था मे रोग सताएगा ही। जब हमने रोग के बीच इतनी दूरी कर दी कि मैं केवल द्रष्टा हू, ज्ञाता हू, जानता हूं, देखता हूं कि यह रोग रहा। तो जानने-देखने वाला रोग से अलग हो गया इस स्थिति मे रोग स्वयं एक प्रयोगस्थल बन जाता है और उसमे से समाधान निकल आता है।

आत्मा को अरुज कहा गया है। अरुज का अर्थ है—रोग रहित। आत्मा के कभी रोग नही होता। चेतना कभी रुग्ण नही होती। आत्मा रोगग्रस्त कभी नही होती। रोगग्रस्त होता है शरीर। यह भेद जब आत्मगत हो जाता है, यह दूरी जब स्थापित हो जाती है, तब समस्या का समाधान हो जाता है।

भेद-विज्ञान

जिस साधक मे स्फोट होता है वह आत्मा को उपलब्ध हो जाता है और उस भूमिका पर पहुचकर वह कहता है कि 'मै शरीर नही हूं।' 'मै पुद्गल नही हूं।' 'मै मूर्त्त नही हू।' यह अध्यात्म विकास की पहली

भूमिका है ।

जब यह अवस्था घटित होती है तब चिंतन की धारा बदल जाती है । चिंतन की जो मूढ अवस्था थी, उसमे परिवर्तन आ जाता है । जब साधक कहता है—'मैं शरीर नही हूं,' तब इससे चिंतन का स्रोत निकलता है जिसे हम 'अन्यत्व अनुप्रेक्षा' कहते है । जब यह बात स्पष्ट समझ मे आ जाती है कि मैं शरीर से भिन्न हूं, मूर्च्छा पर इतना तीव्र प्रहार होता है कि मोह का किला ढह जाता है, क्योकि मोह का उद्गम-स्थल है शरीर । आदमी शरीर को ही सब कुछ मानकर कार्य करता है । जब यह मोह टूट जाता है, यह भ्रान्ति टूट जाती है, अनादि-कालीन भ्रम की दीवार खंड-खंड हो जाती है तब यह स्पष्ट बोध होता है कि मैं शरीर नही हूं । इस बोध के साथ-साथ सारी विचारधाराएं बदल जाती है, 'यह शरीर मेरा नही है, मैं शरीर नही हूं,' अहंकार की ग्रंथि खुल जाती है । यह शरीर मेरा नही है—ममकार की गाढ़ ग्रन्थि खुल जाती है । उसे रास्ता मिल जाता है । रास्ता उसी को मिलता है जिसकी ममकार की ग्रंथि खुल जाती है ।

ममत्व की ग्रंथि का आदि-बिन्दु है शरीर । जब यह गाठ खुल जाती है तब मार्ग स्पष्ट दीखने लग जाता है । वह जान लेता है कि उसे क्या करना है ? कहां जाना है ? जब अहंकार और ममकार—दोनों की गाठें खुल गयी—'मैं शरीर नही हूं,' 'शरीर मेरा नही है'—तब नये चैतन्य का उदय होता है । उस सूर्य का उदय होता है जो कभी पूर्वाचल मे आया ही नही था । कभी उगा ही नही था । जब ऐसे सूर्य का उदय होता है तब जीवन की सारी दिशा बदल जाती है । आप सोच सकते हैं कि क्या इस भूमिका मे जीने वला कभी व्यवहार की भूमिका मे जी सकेगा ? मैं मानता हूं कि वह अच्छी तरह से जी सकेगा । किंतु यह संभव कैसे होगा ? जिसने यह मान लिया कि मैं शरीर नही हूं, शरीर मेरा नही है क्या वह शरीर के प्रति उदासीन नही हो जाएगा ? क्या वह शरीर के प्रति विरक्त नही हो जाएगा ? क्या यह शरीर के प्रति उपेक्षा नही है ? क्या ऐसा व्यक्ति जीवन को चला पायेगा ? जो व्यक्ति शरीर के प्रति उपेक्षा बरतेगा, क्या वह देश के प्रति अनुरक्त रह पायेगा ? वह अपने दायित्वों और कर्तव्यों को कैसे निभा पायेगा ? ये प्रश्न सहज है, किन्तु इन प्रश्नों मे कोई व्यावहारिक कठिनाई नही है । जिसने यह स्पष्ट रूप से जान लिया कि शरीर भिन्न है और मैं भिन्न हूं, उसने शरीर के साथ सबंध की एक योजना कर ली । उस संबंध को अनेक रूपकों में अभिव्यक्ति दी गई है । महावीर ने कहा—शरीर नौका है और आत्मा नाविक है । उपनिषद्कारो ने कहा—शरीर रथ है और आत्मा रथिक है । शरीर घोड़ा है और आत्मा घुड़सवार है । क्या समुद्र में तैरने वाला नाविक कभी अपनी नौका की उपेक्षा कर सकता है ? ऐसा वह कभी नही कर सकता ।

समुद्र की तेज धारा मे वह जा रहा है, अथाह जल है और पार होने का एकमात्र साधन है नौका। क्या ऐसा मूर्ख व्यक्ति मिलेगा जो समुद्र मे उतरकर भी नौका की उपेक्षा करे? कभी नही कर पायेगा। वह नौका की पूरी रक्षा करेगा। उसे कुछ भी आंच नही आने देगा।

एक प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति शरीर और आत्मा को एक मानता है, अभिन्न मानता है वह भी सभालकर रखता है, उसका सरक्षण करता है और जो व्यक्ति शरीर और आत्मा को भिन्न मानता है, अलग-अलग मानता है, वह भी शरीर को संभालकर रखता है। फिर दोनो मे अन्तर क्या है? दोनो की धारणाओ मे, स्थापनाओ मे क्या फर्क पड़ा? दोनो में वहुत वड़ा अन्तर है। इसको हम समझे। नाविक नौका को संभालकर रखता है किन्तु उससे चिपक कर नही रहता। वह स्पष्ट जानता है कि जव तक तट प्राप्त नही हो जाता, तव तक उसके लिए नौका नौका है, वह ग्रहण करने योग्य है। जव तट प्राप्त हो जाता है तव नौका उसके लिए व्यर्थ है। उसकी कोई सार्थकता नही रह जाती। किन्तु जो शरीर और आत्मा को भिन्न नही मानता, वह तट आने पर भी नौका से चिपटा रहता है। वह यह सोचता है कि नौका ने मुझे पार लगाया है, अव इसे मैं क्यो छोडू। जो नौका है वह मैं हूं और जो मैं हू वह नौका है। मै नौका को अपने से अलग नही कर सकता। वह नौका मे चिपट जाता है। यह चिपट जाने वाली वात उस मनुष्य मे उत्पन्न होती है जो शरीर और आत्मा को एक मानता है। नौका को साधन मात्र मानने की मति उस मनुष्य मे जन्म लेती है जो नौका को केवल साधन मानता है और प्रयोजन सिद्ध होने पर उसे छोड देता है। यह व्यवहार का लोप नही है।

यह सच है कि उन लोगो ने वहुत वड़ी समस्याए पैदा की है जो पदार्थ से चिपके रहे। सभी युद्धो का कारण भी यही चिपकाव रहा है। शरीर भी एक पदार्थ है। जो शरीर से चिपका रहता है, वह सवके साथ चिपका रहता है। जो शरीर के साथ चिपका हुआ नही है वह किसी के साथ भी चिपका हुआ नही होता। जिस व्यक्ति का शरीर के साथ चिपकाव नही रहा, जो शरीर को जीवन यापन का साधन मात्र मानकर चलता है, उस व्यक्ति ने दुनिया मे कभी कोई अनर्थ पैदा नही किया। उस व्यक्ति ने द्वंद्व या सघर्ष कभी उत्पन्न नही किया। क्योकि वह मानकर चलता है कि पदार्थ मात्र साधन है, एक उपयोगिता है, चिपकाव की वस्तु नही है। जीवनधारा मे कितना वडा अन्तर आता है, आप स्वयं अनुभव करें। एक आदमी पदार्थ को साधन मानता है और एक उसको अभिन्न मानता है। अभिन्न मानने मे जो स्फुलिंग उछलते है, वे साधन मानने से नही उछलते। वहुत वार कहा जाता है कि धन को साधन मानो। उसका संग्रह मत करो। किन्तु यह हो नही सकता। जव आदमी शरीर

को साधन नही मानता तो फिर यह धन को साधन कैसे मानेगा ? वह शब्दो मे भले ही दोहरा दे, पर यथार्थ मे यह उसे स्वीकार्य तब होता है, जब ममत्व छूट जाता है, मार्ग दीख जाता है, कोई सदेह नहीं रहता, कोई भय नही रहता। उस स्थिति मे ही यह ज्ञान विकसित हो सकता है, ज्ञाता और द्रष्टा का भाव विकसित हो सकता है। तब सारी आधिया और व्याधिया टूटने लगती है।

अशौच भावना

साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह शरीर का सम्यक् दर्शन करे। आसक्ति का मूल शरीर है। शरीर के साथ सभी व्यक्ति वधे हुए हैं। शरीर का ममत्व नही टूटता है तो माधना मे प्रगति नहीं होती। अशौच भावना उस वन्धन को शिथिल करती है, तोडती है। वुद्ध ने इसके लिए **'कायगता-स्मृति'** का पूरा प्रयोग वतलाया है। 'कायगता-स्मृति' की विशेषता के सम्वन्ध मे वुद्ध कहते हैं—'भिक्षुओ ! एक धर्म भावना को और वढाना महासवेग के लिए होता है, महाअर्थ (कल्याण) के लिए होता है, महायोग-क्षेम (निर्वाण) के लिए होता है, महास्मृति-सम्प्रजन्य के लिए होता है, ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिए होता है, इसी जीवन मे सुख मे विहरने के लिए होता है। विद्या-विमुक्तिफल के साक्षात्कार के लिए होता है।' कौन साधक-धर्म ? कायगता-स्मृति।' भिक्षुओ, वे अमृत का परियोग करते है जो कायगता-स्मृति का परियोग करते है और भिक्षुओ, वे अमृत का परियोग नही करते जो कायगता-स्मृति का परियोग नही करते।'

कायगता स्मृति मे संलग्न भिक्षु की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—'यह अरति (उदासी) और रति (काम भोगों की इच्छा)–इन्हे जो पछाडने वाला होता है, उसे अरति नही पछाडती। वह उत्पन्न अरति को हटा-हटा कर विहरता है। जाडा, गर्मी सहने वाला होता है। प्राण लेने वाली शारीरिक वेदनाओ को (सहर्ष) स्वीकार करने वाला होता है।'

आगम साहित्य मे भी शरीर को अशुचि से उत्पन्न कहा है। महावीर गौतम को सम्वोधित कर कहते है—गौतम ! शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे है, इन्द्रिय और शरीरवल सव क्षीण हो रहा है। तू देख और क्षण भर भी प्रमाद मत कर। मदिरा के घडे को कितना ही धोओ, वह अपनी गध नही छोडता। ठीक उसी प्रकार शरीर को कितना ही स्वच्छ करो, वह शुद्ध नही होता। प्रतिक्षण अनेक द्वारो से अशुद्धि वाहर की ओर प्रवाहित हो रही है। मूढ मनुष्य उसमे शुद्धि का भाव आरोपित कर लेते हैं। किन्तु विज्ञ व्यक्ति उसकी यथार्थता से परिचित होते है। साधक शरीर का सम्यक् निरीक्षण करे और उसकी आसक्ति को उखाड़कर अपने स्वरूप मे अधिष्ठित वने। यद्यपि शरीर अपवित्र है, अशुचि है, किन्तु परमात्मा का मन्दिर भी है। अशुचि का दर्शन कर ममत्व से मुक्त हो और साथ मे परम-शुद्ध, सनातन, शिव–आत्मा का दर्शन भी करे। केवल शरीर के प्रति घृणा

का भाव प्रगाढ करने से प्रयोजन सिद्ध नही होता ।

पुद्गलो के वाहरी सस्थान का सौन्दर्य देखकर उनमे मन आसक्त हो जाता है । चमडी के भीतर जो है, वह आकर्पक नही हे । वाहरी संस्थान के साथ आतरिक वस्तुओ का वोध करना, उन्हे साक्षात् देखना अनासक्ति का हेतु है । प्राणी के शरीर मे रहने वाले अशुचि पदार्थ तथा मृत शरीर की दुर्गन्ध आदि का योग होने पर मूर्च्छा का भाव क्षीण हो जाता है । यही अशौच भावना का आशय है ।

आचाराग मे कहा है—

जहा अंतो तहा वाहिं, जहा वाहिं तहा अंतो ।

—यह शरीर जैसा भीतर है वैसा वाहर है, जैसा वाहर है वैसा भीतर है ।

अंतो अंतो देहंतराणि पासति पुढोवि सवंताइं ।

—पुरुप इस अशुचि शरीर के भीतर से भीतर देखता है और झरते हुए विविध स्रोतो को भी देखता है ।

कुछ दार्शनिक अन्तस् की शुद्धि पर वल देते है और कुछ वाहर की शुद्धि पर । भगवान् महावीर एकागी दृष्टिकोण को स्वीकार नही करते । उन्होने दोनो को एक साथ देखा और कहा—केवल अन्तस् की शुद्धि प्रर्याप्त नही है । वाहरी व्यवहार भी शुद्ध होना चाहिए । वह अन्तस् का प्रतिफलन है । केवल वाहरी व्यवहार का शुद्ध होना ही प्रर्याप्त नही है, अन्तस की शुद्धि के विना वह कोरा दमन वन जाता है । इसलिए अन्तस् भी शुद्ध होना चाहिए । अन्तस् और वाहर—दोनो की शुद्धि ही धार्मिक जीवन की पूर्णता है ।

चित्त को कामना से मुक्त करने का चौथा आलंवन है—शरीर की अशुचिता का दर्शन ।

एक मिट्टी का घड़ा अशुचि से भरा है । वह अशुचि झरकर वाहर आ रही है । वह घडा भीतर से अपवित्र है और वाहर से भी अपवित्र हो रहा है ।

यह शरीर-घट भीतर से अशुचि है । इसके निरन्तर झरते हुए स्रोतो से वाहरी भाग भी अशुचि हो जाता है ।

यहा रुधिर है, यहा मास है, यहां मेद है, यहा अस्थि है, यहां मज्जा है, यहां शुक्र है । साधक गहराई से पैठ कर इन्हे देखता है ।

शरीर मे अनेक अन्तर है । अन्तर का अर्थ है—विवर । साधक अन्तरो को देखता है । वह पेट के अन्तर (नाभि), कान के अन्तर (छेद), दाए हाथ और पार्श्व के अन्तर तथा वाए हाथ और पार्श्व के अन्तर, रोम-कूपो तथा अन्य अन्तरो को देखता है । इस अन्तर-दर्शन से उसे शरीर का वास्तविक रूप ज्ञात हो जाता है । उसकी कामना शात हो जाती है ।

शरीर की सक्रियता का मूल स्रोत—प्राण

अशौच अनुप्रेक्षा का अर्थ है—शरीर की अशुचिता के विषय मे चिन्तन करना, अनुप्रेक्षण करना। बात गलत नही है, सही है। शरीर का जो वर्णन प्राप्त है, उस शरीर से विरक्ति घटित करने के लिए जो बतलाया गया वह गलत न होने पर भी पूरा सही नही है। एक कोण से सही है। हमारी भूल यह हुई कि शरीर के विषय मे हमारी धारणा मिथ्या बन गई। शरीर को देखने का दूसरा कोण भी है। शक्ति, चेतना और आनन्द की सारी अभिव्यक्तियां इसी शरीर के माध्यम से होती है। इस शरीर मे इतने केन्द्र है, इतने स्विच बोर्ड है, उनसे शक्ति का स्रोत फूटता है और चेतना की रश्मिया प्रस्फुटित होती है। आवरण के हटने पर, भीतर की संपदा अभिव्यक्त हो जाती है। फर इन सबका माध्यम यह शरीर ही बनेगा। शरीर के रहस्यो को जाने बिना, शक्ति के स्रोतो का ज्ञान किए बिना हम ऐसा कर नही सकते।

जिन लोगो ने शरीर का गहराई मे अध्ययन किया है, वे बहुत आगे बढे है, चिकित्सा के क्षेत्र मे, साधना के क्षेत्र मे। चिकित्सा की पद्धतिया—एक्यूपक्चर और एक्यूप्रेशर प्राणशक्ति के आधार पर, शरीर के आधार पर चल रही है। हमारे पूरे शरीर मे प्राण की धारा प्रवाहित हो रही है। इसे हम ऊर्जा की धारा कहे, या बायोइलेक्ट्रीसिटी की धारा कहे, जैविक विद्युत् कहे, कोई अन्तर नही पडता। ये पूरे शरीर मे प्रवाहित है। यदि शरीर के सूक्ष्म फोटो को देखे तो पता चलेगा कि पूरा शरीर कुछ रश्मियो से बधा हुआ है। ये ऐसी रश्मिया है जो पैर मे लेकर सिर तक सीधी चली गई है। ये सारी प्राण की धाराएं है।

सामान्यत हम समझते है कि हमारी सारी क्रिया, सारा प्रवृत्ति-चक्र रक्त के आधार पर चल रहा है। पर यह मूल कारण नही है। हड्डिया स्वस्थ है। मासपेशिया ठीक काम कर रही है। रक्त का संचार सुचारु रूप से हो रहा है, पर यदि प्राण की धारा सूख गई है तो सब कुछ बन्द हो जाएगा। सब कुछ समाप्त हो जाएगा। हड्डियां भी काम करना बन्द कर देंगी, मांस-पेशियां सिकुडने लग जाएंगी और रक्त का संचार भी रुक जाएगा। इनकी क्रियाओ का मूल स्रोत है—प्राण। प्राण के द्वारा सब सचालित हो रहे है। प्राण की शक्ति जैसे-जैसे कम होती जाती है, शरीर की सारी शक्तिया भी कम होती जाती है। प्राण की शक्ति जितनी विकसित होती है, शरीर की सारी शक्तिया बनी रहती है। आधार-भूत शक्ति है प्राण।

'एक्यूप्रेशर' की पद्धति मे यही किया जाता है। शरीर के अमुक-अमुक केन्द्र को दबाकर प्राण को अजस्र प्रवाहित किया जाता है। कहा से दबाना है? कैसे दबाना है? ये सारी बातें इस पद्धति मे निष्णात व्यक्ति जानते है। इस

शरीर मे सारे रहस्य भरे पड़े है। इसमे सैकडो-सैकडों केन्द्र और आयतन है तथा सैकडो-सैकडो विद्युत्-चुम्बकीय-क्षेत्र है। इन केन्द्रो का विकास कर व्यक्ति अपने ज्ञान का विकास कर सकता है, स्मृति और संकल्प शक्ति का विकास कर सकता है, शक्ति और आनन्द का विकास कर सकता है और अनेक अनबुझी पहेलियो को सुलझा सकता है।

शरीर का वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक मूल्य

प्रेक्षा-ध्यान केवल अभ्यास की प्रक्रिया ही नही है, एक पूरा जीवन-दर्शन है। जब तक हम इस दर्शन को स्पष्ट नहीं करेंगे तब तक कोरा अभ्यास इतना लाभप्रद नही होगा और हम उस अभ्यास को आगे नहीं बढा पायेंगे।

इस सन्दर्भ मे शरीर को समझने पर बहुत बल दिया गया है। जो व्यक्ति शरीर के रहस्यो को नही जानता, वह धर्म को भी ठीक से नही जान पाता। जो व्यक्ति की ठीक से व्याख्या नही कर सकता, वह धर्म की सम्यक् व्याख्या नही कर सकता। जिस व्यक्ति को साधना के क्षेत्र मे आगे बढना है, जिसको अपनी शक्ति और चेतना का विकास करना है, उसे शरीर के रहस्यो को जानना ही होगा, दूसरा कोई उपाय नही है।

जब व्यक्ति शरीर की शक्ति से परिचित हो जाता है, फिर आत्मा की शक्ति मे कोई सन्देह नहीं रहता। हमारे शरीर मे ऐसे केन्द्र है, जिनसे काम और वासना बढती है, राग और द्वेष बढता है। दूसरी ओर शरीर मे ऐसे भी केन्द्र है जिनका विकास करने पर, कामना और वासना घटती है, कामना और वासना का परिष्कार होता है तथा राग और द्वेष का विलय होता है। अभ्यास करते-करते, शरीर के केन्द्रो का परिष्कार करते-करते, उनका उपयोग करते-करते एक बिन्दु ऐसा आता है कि चेतना का ऊर्ध्वारोहण, ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन हो जाता है, सारी चेतना और ऊर्जा हमारे मस्तिष्क के दाएं भाग मे आ जाती है। मस्तिक का दाया भाग अध्यात्म का भाग है और बायां भाग लौकिक शिक्षा का भाग है। गणित, तर्कशास्त्र आदि-आदि शिक्षाओ का केन्द्र है। मस्तिष्क का पिछला भाग 'अनुमस्तिष्क' अध्यात्म का भाग है और इससे जुड़ा है 'सुषुम्नाशीर्ष'। यह सारा अलौकिक भाग है।

शरीर मे दो हिस्से है। एक है लौकिकता का हिस्सा और दूसरा है अलौकिकता का हिस्सा। अलौकिकता का हिस्सा सोया का सोया रहता है इसलिए विश्वास नही होता कि मनुष्य राग-द्वेष से मुक्त हो सकता है, वीतराग हो सकता है, सर्वज्ञ हो सकता है।

आज की वैज्ञानिक खोजो ने मानवजाति पर बहुत बड़ा उपकार किया है और यह संभावना व्यक्त की है कि यदि आदमी मस्तिष्क को विकसित करे तो

सर्वज्ञ वन सकता है, त्रिकालदर्शी वन सकता है। वह अतीत को जान सकता है, भविष्य को जान सकता है, दूर को जान सकता है, व्यवहित को और सूक्ष्म को जान सकता है।

जव केन्द्रीय नाडी-संस्थान, सुषुम्नाशीर्ष, अनुमस्तिष्क और मस्तिष्क का दायां भाग सक्रिय हो जाता है तव सर्वज्ञ होने की, राग-द्वेष से मुक्त होने की तथा त्रिकालदर्शी वनने की संभावना वन जाती है। हम संभावना को स्वीकृति दें कि आदमी सर्वज्ञ वन सकता है, मुक्त हो सकता है, वीतराग हो सकता है।

आस्रव भावना

आस्रवो के विना कर्मों का आकर्षण नही हो सकता और न कर्मों का एक विशेप संरचनात्मक रूप बन सकता है। हम पुद्गलों को आकर्पित करते है और एक विशेप प्रकार का उन्हे रूप देते है। ये दोनो काम भावचित्त के विना या भावकर्म के विना नही हो सकते, इसीलिए हम कर्म पर वहुत चिंतित नही होते, किन्तु भावचित्त पर ज्यादा चिंतित होते है, भावकर्म पर ज्यादा ध्यान देते है। राग द्वेप का प्रत्येक क्षण कर्म-आकर्पण का या कर्म-वंध का क्षण है। हम साधाना की दृप्टि से जव विचार करते है, तव इस वात से चिंतित न हों कि कर्म का वहुत आकर्पण होता है या हो रहा है। किन्तु जो राग-द्वेप का क्षण कर्म को आकृप्ट करता है उसके प्रति जागरूक हो। हम वहुत वार कहते है—जागरूक रहें, अप्रमत्त रहे। प्रश्न होता है कि किसके प्रति जागरूक रहे? किसके प्रति अप्रमत्त रहें? हम उस क्षण के प्रति जागरूक रहे, जिस क्षण मे राग-द्वेप उत्पन्न होता है। राग-द्वेष का क्षण हिंसा का क्षण है। राग-द्वेप का क्षण ही असत्य का क्षण है। राग-द्वेप का क्षण ही चौर्य का क्षण है। राग-द्वेप का क्षण ही अब्रह्मचर्य का क्षण है। राग-द्वेप का क्षण ही परिग्रह का क्षण है। जितने भी दोप है, उन सवका क्षण है राग-द्वेप का क्षण। राग-द्वेप का क्षण ही समूची कर्म-वर्गणाओ का आकर्पण का क्षण है। इसलिए साधना के क्षेत्र मे जागरूकता का अर्थ है—उस राग-द्वेप के क्षण के प्रति जागरूक रहना जो कर्मों को आकर्पित करता है और अनेक आचरणोके माध्यम से करता है। उस क्षण के प्रति हम जागरूक रहे, तटस्थ रहें, सामायिक करे, समभाव में रहे।

जागरूकता का अर्थ इतना ही नही है कि हम नींद न लें। नीद नही लेने का ही नाम जागरूकता हो तो एक मजदूर जो आठ-दस घंटे कठोर श्रम करता है, वह पूर्ण जागरूक है, जागृत है। वह नीद कहां लेता है? वेचारे को नीद लेने का कोई क्षण ही प्राप्त नही होता। वह पूरा जागृत है और पूर्ण जागरूकता से अपने काम मे लगा हुआ है। किन्तु साधना की दृप्टि से जागरूक रहने का अर्थ है—किसी भी क्षण में राग-द्वेष उत्पन्न न होने देना।

भावकर्म द्रव्यकर्मो को प्रभावित करते है और द्रव्यकर्म (पौद्गलिक कर्म) भावकर्म को प्रभावित करते है। दोनो की एक ऐसी सन्धि है कि

दोनो एक-दूसरे का परस्पर सहयोग करते है। दोनों एक-दूसरे को जीवनी-शक्ति दे रहे है। दोनो मे एक समझौता है। भावकर्म द्रव्यकर्मो को जिला रहे है और द्रव्यकर्म भावकर्मो को जिला रहे है। साधना मे यही करना है कि 'येन केन प्रकारेण' हम इन दोनो की सन्धि को छिन्न-भिन्न कर सके, तोड सके या हम दोनो मे एक ऐसा विभेद पैदा कर दें जिससे कि भावकर्म एक ओर हो जाए और द्रव्यकर्म एक ओर हो जाए। दोनों मे ऐसी भेदवृत्ति जाग जाए, जिससे कि अनादिकाल से चली आ रही उनकी सन्धि मे दरार पड जाए। हम इस वाध मे ऐसा कोई छेद करदे, जिससे बांध का पानी वह जाये और वाध पूरा खाली हो जाए।

हमारा शरीर आस्रव है, दरवाजा है। दरवाजा खुला है, तभी हम इतने लोग एकत्रित हो गये। यदि दरवाजा खुला नही होता, हम इतने लोग एकत्र नही हो पाते। दरवाजा खुला होता है, तब कुछ भी आ सकता है, आंधी भी आ सकती है, धूल भी आ सकती है और हवा भी आ सकती है। दरवाजा बन्द होता है तो कुछ भी नही आ सकता। हमारा शरीर एक दरवाजा है, आस्रव है। नौका पानी मे तैर रही है। छेद हो गये। नौका मे पानी भर गया, वह डूबने लगी। नौका क्यो डूबने लगी? क्योंकि वह आश्रव हो गई, आस्रव-सहित हो गयी। छेद हुआ कि पानी आ गया। और भारी हुई कि डूबने लगी। उस समय यदि कुशल कर्णधार होता है, कुशल नाविक होता है वह सवसे पहले उन छेदों को भरने की कोशिश करता है। छेदो को भर देता है। पानी आना वन्द हो जाता है। और जो पानी भीतर आ गया है, उसे उलीचकर फेक देता है। नौका तैरने लग जाती है।

यह शरीर नौका है। यह डूबने भी लगता है और तैरने भी लगता है। जब इसके सारे छिद्र खुल जाते है, आस्रव के मुख चौडे हो जाते है, तो वाहर से इतना आता है, इतना आता है कि वह डूबने लग जाता है। यह डूबना नही है। यह डूबना उन आस्रवो और छिद्रों का डूबना है और वे साथ-साथ नौका को भी डुवो देते है। इन शरीर के छिद्रो को ढकना, आस्रवो को अनास्रव करना, छेदो को वन्द करना, यह हमारी साधना की प्रक्रिया है।

इस प्रकारशरीर-दर्शन के द्वारा शरीर के प्रति अनासक्ति आ जाती है। जैन साधक अशौच भावना के द्वारा शरीर के प्रति अनासक्त रहने का अभ्यास करते थे। महाराज श्रेणिक और महारानी धारिणी ने मेघकुमार से कहा—तुम प्रव्रजित नही हो सकते। मेघकुमार ने उत्तर दिया—क्या मैं इस शरीर के आधार पर यहां बना रहूं। मेरे शरीर की स्थिति क्या है? यह पित्त का आस्रव है, शुक्र का आस्रव है, श्लेष्म का आस्रव है, दुनिया भर मे जितमे अशुद्ध पदार्थ होते है, उनका आस्रव है। एक दिन नष्ट हो जाने

वाला है। कुछ दिन पहले या कुछ दिन पीछे अवश्य ही चला जाने वाला है। क्या इस शरीर के आधार पर मै अपनी शाश्वत की साधना को ठुकरा दू ?

एत्थोवरए तं जोसमाणे अयं संधी ति अदक्खु।

इस अर्हत् शासन मे स्थित साधक शरीर को संयत कर यह कर्म-विवर (आस्रव) है, ऐसा देखकर आस्रव को क्षीण करता हुआ प्रमाद न करे।

संधि समुप्पेहमाणस्स एगायतणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरयस्स....

जो कर्म-विवर (आस्रव) को देखता है, वीतरागता मे लीन है, शरीर आदि के ममत्व से मुक्त है, हिसा से विरत है, उसके लिए कोई मार्ग नही है। जन्म, जरा, रोग और मृत्यु—ये चार दु:ख के मार्ग है। विरत के लिए ये मार्ग अवरुद्ध हो जाते है।

क्रियावाद : आस्रव

जीव अनन्त है। प्रत्येक जीव का अस्तित्व स्वतंत्र है। वह न किसी के द्वारा निर्मित है और न संचालित। वह अनिर्मित है और अपने ही परिणामो से संचालित है। उसमे दो प्रकार के पर्याय होते है—स्वाभाविक और नैमित्तिक। स्वाभाविक पर्याय निमित्त निरपेक्ष होते है। उससे जीवका अस्तित्व बना रहता है। नैमित्तिक पर्याय निमित्तो के आधार पर होते है। उससे जीव नानारूपो मे बदलता रहता है। निमित्त दो प्रकार के होते है—आंतरिक और बाह्य। राग और द्वेप—ये दो आंतरिक निमित्त है। जीव के असंख्य-प्रदेश (अविभागी अवयव) होते है। वे सब चैतन्य स्वरूप है। वे चैतन्यमय होने के कारण प्रभास्वर और निर्मल होते है। राग और द्वेष जीव के प्रत्येक प्रदेश के साथ मिश्रित है। स्वभाव से प्रभास्वर और निर्मल चैतन्य उसके योग से आवृत और मलिन रहता है। इस योग (चैतन्य और राग-द्वेष) का आदि-बिंदु ज्ञात नही है। इसलिए यह सबध अनादि माना जाता है। शरीरधारी जीव की परिणाम-धारा राग-द्वेप से युक्त होती है। राग-द्वेष युक्त परिणाम नये-नये पुद्गल परमाणुओ को आकर्षित करता रहता है। जीव की परिणाम-धारा कर्म-परमाणुओ के आकर्षण का हेतु बनती है। इसलिए उसे आस्रव कहा जाता है। कर्म-परमाणुओ को आकर्षित करने की क्रिया को भी आस्रव कहा जाता है। पुद्गल-परमाणुओं के आकर्षण का योग (शारीरिक प्रवृत्ति) से होता है। बाहरी पुद्गलो को आकर्षित करने वाले घटक के रूप मे काययोग आस्रव बनता है। सभी कर्म-परमाणु काययोग के द्वारा ही आकर्षित होते है। जैसे तालाब मे नाले से जल आता है वैसे ही काययोग के द्वारा कर्म के परमाणु भीतर आकर जीव-प्रदेश के साथ सबध स्थापित करते है। जैसे गीले कपड़े पर वायु द्वारा लाये हुए रजकण चिपकते है,

वैसे ही राग-द्वेष से गीले बने हुए जीव पर काययोग द्वारा लाए हुए कर्म-परमाणु चिपकते है। जैसे तपा हुआ लोहपिण्ड जलकणो को आत्मसात् कर लेता है वैसे ही कषाय से उत्तप्त जीव परमाणुओ को आत्मसात् कर लेता है।

आस्रव के पाच प्रकार है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

मिथ्यात्व

ज्ञान के आवृत होने पर मनुष्य जान नही पाता। नही जानना अज्ञान है। दृष्टि मूढ होने पर मनुष्य जानता हुआ भी सम्यक् नही जानता, विपरीत जानता है। यह मिथ्यात्व है। इस अवस्था मे इन्द्रिय-विषयो के प्रति तीव्र आसक्ति रहती है, क्रोध, मान, माया और लोभ प्रबलतम होते है, मानसिक ग्रन्थिया बनती रहती है। वे जीवनभर खुलती नही। व्यवहार मे क्रूरता अधिक रहती है। मिथ्यात्वी मनुष्य दु:खद विषयो को सुखद मानता है और अशाश्वत विषयो को शाश्वत मानकर चलता है। उसमे असत्य का आग्रह होता है। वह पदार्थ को ही सर्वस्व मानता है। धन के प्रति उसमे तीव्रतम मूर्च्छा होती है। नैतिकता या प्रामाणिकता मे उसे कोई विश्वास नही होता।

अविरति

मनुष्य मे एक आकाक्षा की वृत्ति होती है। उसके कारण वह पदार्थ मे अनुरक्त होता है। उसे वह प्राप्त करना और भोगना चाहता है। उस वृत्ति के अस्तित्व मे वह पदार्थ से विरत नही होता। इसलिए उस वृत्ति का नाम अविरति है। इस अवस्था मे मनुष्य की दृष्टि पदार्थ के प्रति आकृष्ट होती रहती है। पदार्थ और धन के द्वारा होने वाले अनिष्ट परिणामो को जान लेने पर भी वह उन्हे छोड़ नही सकता। मूर्च्छा के कारण उसे भय सताता रहता है। जीवन की आकाक्षा और मृत्यु का भय भी मन को विचलित करता रहता है। सामाजिक जीवन मे पारस्परिक टकरावों, सघर्षो और छीनाझपटी का कारण यह अविरति की मनोदशा ही है।

प्रमाद

प्रमाद का अर्थ है—विस्मृति। इससे आत्मा या चैतन्य की विस्मृति होती है। इस अवस्था मे मनुष्य का मन इन्द्रिय-विषयो के प्रति आकर्षित हो जाता है, शांत बने हुए क्रोध, मान, माया और लोभ फिर उभर आते है, जागरूकता समाप्त हो जाती है, करणीय और अकरणीय का बोध धुधला हो जाता है।

प्रमाद का दूसरा अर्थ है—अनुत्साह। प्रमत्त अवस्था मे सयम और क्षमा आदि धर्मो के प्रति मन मे अनुत्साह आ जाता है, सत्य के आचरण में

शिथिलता आ जाती है। इ। से आध्यात्मिक अकर्मण्यता और अलसता की स्थिति वनी रहती है। वासना, भोजन आदि की चर्चा मे जो आकर्पण होता है वह आध्यात्मिक विकास की चर्चा मे नही होता।

कपाय

राग और द्वेप—ये दो मूल दोप है। राग माया और लोभ की प्रवृत्ति को तथा द्वेप क्रोध और अभिमान की प्रवृत्ति को जन्म देता है। ये चारों क्रोध, मान, माया और लोभ—चित्त को रंगीन वना देते है, इसलिए इन्हें कपाय कहा जाता है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद—ये कपाय के उदय से ही निष्पन्न होते है। तीव्रतम कपाय के उदयकाल मे सम्यग् दृष्टि उपलब्ध नही होती। तीव्रतर कपाय के उदयकाल मे आंशिक विरति भी नहीं होती। तीव्र कपाय के उदयकाल मे पूर्ण विरति नहीं होती। मन्द कपाय के उदयकाल मे वीतरागता उपलब्ध नही होती। चारों कपायो के तीव्रता और मन्दता के आधार पर सोलह प्रकार वनते है—

१. तीव्रतम क्रोध—पत्थर की रेखा के समान। (स्थिरतम)
२. तीव्रतर क्रोध—मिट्टी की रेखा के समान। (स्थिरतर)
३. तीव्र क्रोध— धूली की रेखा के समान। (स्थिर)
४. मद क्रोध—जल की रेखा के समान। (अस्थिर, तात्कालिक)
५. तीव्रतम मान—पत्थर के खम्भे के समान। (दृढतम)
६. तीव्रतर मान—हाड के खम्भे के समान। (दृढतर)
७. तीव्र मान—काष्ठ के खम्भे के समान। (दृढ़)
८. मद मान—लता के खम्भे के समान। (लचीला)
९. तीव्रतम माया—वांस की जड के समान। (वक्रतम)
१०. तीव्रतर माया—मेढे के सीग के समान। (वक्रतर)
११. तीव्र माया—चलते वैल की मूत्रधारा के समान। (वक्र)
१२. मंद माया—छिलते वास की छाल के समान। (स्वल्प वक्र)
१३. तीव्रतम लोभ—कृमि रेशम के समान। (गाढतम रंग)
१४ तीव्रतर लोभ—कीचड के समान। (गाढतर रंग)
१५. तीव्रलोभ—खंजन के समान। (गाढ़ रंग)
१६. मदलोभ—हल्दी के समान। (तत्काल उड़ने वाला रंग)

कपाय चार है—क्रोध, मान, माया और लोभ। तीव्रतम कपाय को अनंतानुवंधी, तीव्रतर कपाय को अप्रत्याख्यानी, तीव्र कपाय को प्रत्याख्यानी और मंद कपाय को सज्वलन कहा जाता है।

इन कपायो को उत्तेजित करने वाले तत्त्वों को 'नो-कपाय' कहा जाता है। यहां 'नो' का अर्थ है—ईपद्, थोडा। 'नो कपाय' नौ है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगुछा, स्त्रीवेद, पुरुपवेद, नपुंसकवेद।

मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद—इन तीनों आस्रावो के समाप्त हो जाने पर भी कपाय आस्रव से कर्म परमाणुओ का आगमन होता रहता है। कपाय के समाप्त हो जाने पर केवल योग मे पुण्य कर्म का वन्ध होता रहता है।

योग

मनुष्य के पास प्रवृत्ति के तीन साधन है—शरीर, वचन और मन। ये तीनो योग कहलाते है। योग का अर्थ है—प्रवृत्ति, चचलता या सक्रियता।

सुख दुःख के हेतु

चार आस्रवो से चैतन्य मूर्च्छित होता है। इसलिए वे दुःख के हेतु वनते है। योग अपने आप मे दु ख और सुख का हेतु नही है। यह मिथ्यात्व आदि चार आस्रावो मे प्रवृत्त होता है तव दु ख का हेतु वन जाता है। इसके द्वारा कर्म-परमाणुओ का आस्रवण (आगमन) होता है, वह आस्रव है। कर्म परमाणु जीव के प्रदेशो के साथ चिपके रहते है, वह वन्ध है। कर्म-परमाणु वन्धन के वाद अपनी स्थिति के अनुपात से सत्ताकाल मे रहते है। फिर विपाक को प्राप्त कर, उदय मे आकर, निर्जीर्ण हो जाते है। कर्म के उदयकाल मे प्राणी को दु ख या सुख का अनुभव होता है। अध्यात्म की भाषा मे आस्रव दु ख या सुख का हेतु है। कर्म के उदय मे होने वाली अनुभूति दु.ख या सुख है। आस्रव का निरोध होने पर दु ख और सुख—दोनो के द्वार वन्द हो जाते हैं। उस स्थिति मे आत्मिक सुख का अनुभव होता है। जव तक आस्रव की क्रिया और चचलता रहती है तव तक मनुष्य दु ख और पौद्गलिक सुख की अनुभूति के चक्र में जीता है। उसे सहज सुख का अनुभव नही होता। प्रत्येक जीव मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति होती है। किन्तु आस्रव के कारण यह अनन्त चतुष्टयी प्रगट नही हो पाती। इसके अस्तित्व-काल मे ज्ञान-दर्शन आवृत, सुख विकृत और शक्ति सुप्त रहती है। जीव मे जो अशुद्धि है वह स्वाभाविक नही है। वह सारी-की-सारी आस्रव-जनित है। इसके आधार पर ही जीव के दो विभाग वनते है—वद्ध और मुक्त। आस्रव-युक्त जीव वद्ध और आस्रव रहित जीव मुक्त होता है। जव तक आस्रव-जनित वृत्तिया और कर्म रहते है तव तक आत्मा के मौलिक स्वरूप का साक्षात्कार नही होता। चित्त की निर्मलता, एकाग्रता, तपस्या, प्रतिपक्षभावना या ध्यान-साधना के द्वारा आस्रव की शक्ति को क्षीण करने पर ही आत्मा के स्वरूप की अनुभूति हो सकती है। सक्षेप मे जैन दर्शन का सार यह है—आस्रव दु ख का हेतु है और सवर सहज सुख का।

कर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

प्रश्न होता है कि कर्म के आकर्षण की प्रक्रिया और सश्लेष की प्रक्रिया

के पीछे हेतु क्या है ? ये दोनो प्रवृत्तिया दो आस्रवों के द्वारा होती है। एक आस्रव का नाम है—योग और दूसरे आस्रव का नाम है—कपाय। योग आस्रव और कपाय आस्रव—ये दो आस्रव है, जिनके द्वारा कर्मो का आकर्पण और कर्मो का सश्लेप होता है। चचलता स्पप्ट है, कपाय उतना स्पप्ट नही है। चचलता स्पप्ट दीखती है, कपाय भीतर छिपा रहता है। वह दिखाई नही देता। हमे गूढ मे जाना होगा। हमे कही-कही रहस्यवादी भी वनना होगा और जो छिपा हुआ है, उसके तल तक पहुंचना होगा।

मनोविज्ञान ने मन के तीन विभाग किए है—

१. अदस् मन।

२. अह मन।

३. अधिशास्ता मन।

पहला विभाग है 'अदस्' मन। इस विभाग मे आकाक्षाए पैदा होती है। जितनी प्रवृत्यात्मक आकाक्षाए और इच्छाए है, वे सव इस मन मे पैदा होती है। इसमे अचेतन का भाग अधिक है, चेतन का भाग कम।

दूसरा विभाग है 'अह' मन। समाज-व्यवस्था से जो नियंत्रण प्राप्त होता है, उसमे आकाक्षाए यहा नियत्रित हो जाती है, और वे कुछ परिमार्जित हो जाती है। उन पर अंकुश जैसा लग जाता है। मन मे जो आकाक्षा या इच्छा पैदा हुई, 'अह' मन उसे क्रियान्वित नही करता।

तीसरा विभाग है 'अधिशास्ता' मन। यह अहं पर भी अंकुश रखता है और उसे नियत्रित करता है।

मानसशास्त्र मे दो प्रकार की वृत्तियो का उल्लेख है—अन्तर्वृत्ति और वहिर्वृत्ति। कामशक्ति जव आगे की ओर वढती है, व्यक्ति वहिर्वृत्ति हो जाता है। वाहर की ओर दौडने लग जाता है। जव कामशक्ति की प्रत्यावृत्ति होती है, डिप्रेशन होता है तो व्यक्ति भीतर मे सिमट जाता है। उसकी वाहरी वृत्तिया समाप्त हो जाती है। ठीक हम इसी कर्मशास्त्रीय भापा का प्रयोग करे कि अविरति जव तीव्र होती है तव पुरुप वाहर की ओर भागता है। उसकी आकाक्षा इतनी वढ जाती है कि वस सारे ससार को अपनी मुट्ठी मे वन्द करने का प्रयत्न करता है और सव कुछ वाहर ही वाहर देखता है। उसे सव कुछ वाहर-ही-वाहर दीखता है। जव यह अविरति कम होती है, व्यक्ति अपने भीतर सिमटना शुरू हो जाता है। जव भीतर सिमटना शुरू होता है तो आकाक्षाए कम होती है, चंचलता अपने आप कम हो जाती है। एक सस्कृत कवि ने कहा है—

आशा नाम मनुष्याणां, काचिदाश्चर्यशृंखला।
यया वद्धाः प्रधावन्ति, मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत्॥

आशा नाम की एक सांकल है। यह अद्‌भुत साकल है। लोहे की

सांकल मे आदमी को बाध दो, वह चल नही पाएगा। सांकल को खोल दो, वह चलने लग जाएगा। किन्तु आशारूपी सांकल से आदमी को बांध दो, वह दौड़ने लग जाएगा। साकल को खोल दो, वह पंगु की तरह बैठ जाएगा। कितनी उल्टी बात है! एक सांकल वह है जिससे बधा आदमी चल नही सकता, साकल से मुक्त होते ही वह दौडने लग जाता है। एक सांकल वह है जिससे बंधा आदमी दौडने लगता है और मुक्त होने पर एक पैर भी नही चल पाता। कितनी अद्‌भुत बात है!

चचलता पैदा करने वाला, सक्रियता पैदा करने वाला, भटकाने वाला जो तत्त्व है, वह है अविरति। यह एक ऐसी प्यास है जिसे हम अभी तक बुझा नही पाये। इतना भोगकर भी बुझा नही पाए। चचलता का यही बड़ा स्रोत है। एक प्रश्न होता है कि जब हम इतना जान गए कि चंचलता का स्रोत है आकांक्षा, इच्छा, अतृप्ति, फिर भी उसे बुझा नही पाते। यह क्यो? आदमी जान ले, फिर क्यो नही बुझा पाये? इसका भी एक कारण है। यह भ्रम है कि आदमी ने जान लिया। वह अभी तक जान नही पाया है। इसका कारण है—मिथ्या दृष्टिकोण। हमारा दृष्टिकोण ही कुछ ऐसा बना हुआ है कि जिससे प्यास बुझती है उससे दूर भागते है और जिसमे प्यास भभकती है उसे इसलिए पी रहे है कि प्यास बुझ जाए। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तः, ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मनः॥

'मूढ़ आत्मा जिसमे विश्वास करता है उससे अधिक कोई भयानक वस्तु ससार मे नही है। मूढ आत्मा जिससे डरता है, जिसमे दूर भागता है, उससे बढकर शरण देने वाली वस्तु ससार मे नही है।'

खतरनाक वस्तु मे विश्वास करना और खतरा मिटाने वाली वस्तु से दूर भागना, यह कब होता है? यह तब होता है जब आत्मा मूढ हो, दृष्टि-कोण मिथ्या हो, मोह प्रबल हो। जब राग-द्वेष की प्रबलता होती है, कषाय की प्रबलता होती है, तब ऐसा होता है। जब तक मिथ्यादृष्टि दूर नही होगी, तब तक हम समझ नही पायेंगे।

कर्म-बन्ध की प्रक्रिया मे महावीर से पूछा गया—भते! कर्म का बन्ध कैसे होता है? उसकी प्रक्रिया क्या है?

भगवान् ने कहा—जब ज्ञानावरण कर्म विशिष्ट उदयावस्था मे होता है, तब दर्शनावरण कर्म का उदय होता है। जब जानने पर आवरण आता है, तब देखने पर भी आवरण आ जाता है। जब दर्शन का आवरण होता है, तब दर्शनमोह कर्म का उदय होता है। जब दर्शनमोह का उदय होता है, तब मिथ्यात्व आता है। उसके अस्तित्व मे नित्य को अनित्य, सुख को दुःख, अनित्य

को नित्य और दु:ख को सुख मानने की बात घटित होती है। तब व्यक्ति जो दु:ख के साधन हैं, उन्हे सुख के साधन तथा जो सुख के साधन है, उन्हे दु:ख के साधन मानने लग जाता है। तब वह प्यास को बुझाने वाले साधनो को प्यास लगाने वाले तथा प्यास लगाने वाले साधनो को प्यास बुझाने वाले साधन मानने लग जाता है। सारी बात उलट जाती है। जब तक यह मिथ्यात्व का बन्धन नही टूटता, तब तक कर्म का चक्र टूट नही सकता। इसे तोडा नहीं जा सकता।

संवर भावना

भेदविज्ञानतो सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतः बद्धाः, बद्धाः ये किल केचन ॥

इस संसार मे वे ही लोग कर्म से वद्ध है जिनमे भेदविज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्ही व्यक्तियो को हुई है जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की भिन्न सत्ता अनुभव मे आ गई।

मूल आत्मा और उसके परिपार्श्व मे होने वाले वलयों का भेद-ज्ञान जैसे-जैसे स्पष्ट होता चला जाता है, वैसे-वैसे कर्म वंधन शिथिल होता चला जाता है। जिन्हे भेद-ज्ञान नही होता, मूल चेतना और चेतना के वलयो की एकता की अनुभूति होती है, उनका वन्वन तीव्र होता चला जाता है। कर्म पुद्गल अचेतन है। अचेतन चेतन के साथ एकरस नही हो सकता। हमारी कपाय आत्मा ही कर्म-शरीर के माध्यम से उसे एकरस करती है। मुक्त आत्मा के साथ पुद्गल एकरस नही होता, क्योकि उसमे केवल शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति के क्षण कर्म शरीर की विद्यमानता मे 'संवर'—कर्म पुदगलो के सम्वन्ध को रोकने वाला और उस (कर्म-शरीर) के अभाव मे आत्मा का स्वरूप होता है। कपाय-मिश्रित चैतन्य की अनुभूति का क्षण आस्रव है। वह कर्म पुद्गलो को आकर्पित करता है। यहां जातीय सूत्र कार्य करता है। सजातीय सजातीय को खीचता है। कपाय चेतना की परिणतियां पुद्गल मिश्रित है। पुद्गल पुद्गल को टानता है। यह तथ्य हमारी समझ मे आ जाये तो हमारी आत्म-साधना की भूमिका वहुत सशक्त हो जाती है। हम अधिक-से-अधिक शुद्धचैतन्य के क्षणो मे रहने का अभ्यास करे, जहा कोरा ज्ञान हो, सवेदन न हो। यह साधना की सर्वोच्च भूमिका है। इसीलिए जैन आचार्यो ने ध्यान के लिए 'शुद्ध उपयोग' शब्द का प्रयोग किया है। 'शुद्ध उपयोग' अर्थात् केवल चैतन्य की अनुभूति।

प्रत्याख्यान से संयम की चेतना जागृत हो जाती है। संयम की चेतना से अपने आप में लीन रहने की वात प्राप्त हो जाती है। साधक को लगता है कि अव भीतर रहना ही अच्छा है। मन भीतर की खूटी से वंध जाता है। मन चैतन्य के शांत सागर मे डुवकिया लगाने लग जाता है। मन ज्योतिपुज के प्रकाश मे इतना आकर्षण

देखता है कि अब वह बाहर के अंधेरे मे जाना पसन्द नही करता, भीतर ही रहना चाहता है। ऐसी स्थिति मे एक भीषण संघर्ष खड़ा हो जाता है। भीतर के आस्रव, भीतर की वृत्तिया, भीतर के आवेग संघर्षरत हो जाते है। प्रमाद और विपय-कपाय अपना काम शुरू कर देते है। मूर्च्छा भी सक्रिय हो जाती है। राग द्वेप—ये दोनो अपनी रक्षापक्तियां मजबूत करने लग जाते है। भयंकर युद्ध छिड जाता है। यह युद्ध साधक के लिए एक अवसर है। आचाराग मे कहा है—**'जुद्धारिहं खलु दुल्लहं'**—युद्ध का यह अवसर वहुत ही दुर्लभ है। साधक को ज़मकर मोर्चा लेना है। यह बडा अवसर है। इसका लाभ उठाना है। ऐसा अवसर कभी कभी प्राप्त होता है। एक ओर से राग-द्वेष आक्रमण करते है, दूसरी ओर से उनके सैनिक—उत्तेजना, प्रमाद, कपाय, आक्रमण करते है। साधक उन सबको तोडकर ही आगे बढ सकता है। वह उन्हे समाप्त करके ही अस्तित्व तक पहुच सकता है। जब साधक वहा तक पहुच जाता है तव उसे लगता है क्यो श्वास को देखे, क्यो शरीर के चैतन्य-केन्द्र को देखे, क्यो अनशन करे, क्यो ऊनोदरी करे, क्यो सयम करे—यह सारा झझट है। सीधा रास्ता है कि ज्ञाता द्रप्टाभाव को ही देखे, उसे ही देखते रहे। पहुच जाने वाले को लगता है कि यह रास्ता सीधा है, किन्तु जो अभी तक नही पहुचा है उसे यह रास्ता टेढा-मेढा और कठिन लगता है। उसे पग-पग पर जूझना पडता है। सारे आक्रमण एक साथ होते है। उन आक्रमणो को विफल किए बिना एक पैर भी आगे नही बढा जा सकता। साधना के प्रारम्भ मे इसका अनुभव नही होता। साधना के प्रारम्भकाल मे इन आस्रवो को इतना खतरा नही होता कि उन्हे भी स्थान छोडना पडे। उन सभी वृत्तियो को भी खतरा नही होता कि उन्हे भी स्थान छोडना पडे। किन्तु जब साधक दृढ निश्चय के साथ आगे बढता है और उन सभी आस्रवो तथा वृत्तियो पर प्रहार करना प्रारम्भ करता है, उनके स्थायी आश्रयो को छुडाने का प्रयास करता है, तब वे सब क्रुद्ध साप की भाति फुफकारने लगते है, क्योकि साधक ने उन्हे छेडने का प्रयास किया है। जब तक उन्हे छेडा नही जाता तब तक वे अपना कार्य शात भाव से करते रहते है। ज्यो ही उन्हे छेडा गया, वे क्रुद्ध होकर उभर आते है, फुफकारते है और भय दिखाते है। सांप वाम्बी मे शांत वैठा है। आप पास से गुजर जाते है तो साप नही फुफकारता। उसे थोडा-सा भी छेडे, वह क्रुद्ध होकर डसने दौडता है। यही बात आस्रवों और वृत्तियो की है। इनका अनादिकालीन स्थायी स्थान छुडाना सरल नही है। ज्यों-ज्यो साधक आगे वढता है, वृत्तिया और तीव्र होती है। जब साधक साधना के मध्य मे पहुचता है तव वे जमी हुई वृत्तिया, जमी हुई वासनाए और उत्तेजनाए, इतने तीव्ररूप मे उभरती है कि साधक विचलित होने की स्थिति मे आ जाता है। यदि उस समय उसे कोई सहायक नही मिलता है तो वह साधना से च्युत हो

जाता है। उस समय योग्य गुरु या योग्य सहायक की आवश्यकता होती है। वह समय खतरनाक होता है। उस समय जो वृत्तिया उभरती है, उनकी कल्पना नही की जा सकती। अनोखी-अनोखी वृत्तिया उभरती हैं। साधक वेचैन हो उठता है। वृत्तिया न उभरे, ऐसा नही होता। सभी साधको का यही अनुभव है कि साधना के मध्यकाल मे वृत्तियां तीव्र होती है। उस समय उन पर नियन्त्रण करना आवश्यक होता है।

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

अतीत वीत गया, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। भगवान् महावीर ने कहा—'**खण जाणाहि पंडिए**'। साधक, तुम क्षण को जानो। अतीत के सस्कारो की स्मृति से भविष्य की कल्पनाए और वासनाए होती हैं। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना—दोनो से वच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेप-युक्त चित्त का निर्माण करती है। जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है, वह सहज ही राग-द्वेप से बच जाता है। यह राग-द्वेप शून्य वर्तमान क्षण ही सवर है। राग-द्वेप शून्य वर्तमान क्षण को जीने वाला अतीत मे अर्जित कर्म-सस्कार के वन्ध का निरोध करता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण मे जीने वाला अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का सवरण और भविष्य का प्रत्याख्यान करता है।

तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नही देखते। कल्पना को छोडने वाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी होकर, कर्मशरीर का शोपण कर उसे क्षीण कर डालता है।

भगवान् महावीर ने कहा—'इस क्षण को जानो।' वर्तमान को जानना और वर्तमान मे जीना ही भाव-क्रिया है। यात्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना-लोक मे उडान भरना द्रव्यक्रिया है। यह चित्त का विक्षेप है और साधना का विघ्न है। भावक्रिया स्वय साधना और स्वयं ध्यान है। हम चलते है और चलते समय हमारी चेतना जागृत होती है, 'हम चल रहे है'—इसकी स्मृति रहती है—यह गति की भाव-क्रिया है। इसका सूत्र है कि साधक चलते समय पाचो इन्द्रियो के विषयो पर मन को केन्द्रित न करे। आखो से कुछ दिखाई देता है, शब्द कानो से टकराते है, गंध के परमाणु आते है, ठडी या गर्म हवा शरीर को छूती है—इन सवके साथ मन को न जोड़े।

साधक चलते समय पाचो प्रकार का स्वाध्याय न करे—न पढाए, न प्रश्न पूछे, न पुनरावर्तन करे, न अर्थ का अनुचिंतन करे और न धर्म-चर्चा करे, मन को पूरा खाली रखे। साधक चलने वाला न रहे, किन्तु चलना वन जाए, तन्मूर्ति (मूर्तिमान गति) हो जाए। उसका ध्यान चलने मे ही केन्द्रित

रहे, यह गमनयोग है।

शरीर और वाणी की प्रत्येक क्रिया भावक्रिया वन जाती है, जव मन की क्रिया उसके साथ होती है, चेतना उसमे व्याप्त होती है।

भावक्रिया का सूत्र है—चित्त और मन क्रियमाण क्रियामय हो जाए। इन्द्रिया उस क्रिया के प्रति समर्पित हों, हृदय उसकी भावना से भावित हो, मन उसके अतिरिक्त किसी अन्य विपय मे न जाए, इस स्थिति मे क्रिया भाव-क्रिया वनती है।

इन्द्रिय-संवर की प्रक्रिया

प्रश्न होता है—इन्द्रिय-सवर कैसे होता है? क्या इन्द्रियो का संवर किया जा सकता है? क्या जीभ पर कोई चीज रखे और वह अच्छी है या वुरी इस भाव से वचा जा सकता है? क्या सामने रूप आने पर वह सुन्दर है या असुन्दर इससे वचा जा सकता है?

हा, यह सभव है। जीभ पर चीज रखे तो यह पता लग सकता है कि वह मीठी है या कड़वी या तिक्त? आगे की स्थिति मे तो यह पता लगना भी वन्द हो जाता है। जीभ के ज्ञानाकुर अपना काम वन्द कर देते है। सवेदन केन्द्र भी अपना काम समाप्त कर देते है। यह संभव है, क्योकि जव व्यक्ति सवेदना की भूमिका से ऊपर उठकर ज्ञान की भूमिका पर जाता है, चैतन्य के अनुभव मे जाता है, तव सवेदना की भूमिका नीचे रह जाती है और ज्ञान की भूमिका ऊपर आ जाती है। यह सम्भव है। इसके उपाय का निर्देश करते हुए जयाचार्य ने लिखा है—**'ते जित्या मन थिर करी'**, मन को स्थिर कर इन्द्रियो को जीता जा सकता है। हम लोग इन्द्रियो को जीतने का सीधा प्रयत्न करते है। सीधा इन्द्रियो को जीतना कभी संभव नही होता। आख को जीतना, कान को जीतना, जीभ को जीतना कभी सम्भव नही है। वास्तव मे उनको जीतना ही नही है। वे तो लड़ती ही नही है। इन्द्रिया वेचारी कव लडती है? कव हमे सताती है कि हम उनको जीते। वे वेचारी कुछ नही करती। वे तो ज्ञान की धारा है। उनके साथ लड़ना हमारी भ्राति है। यह तो ठीक वही वात है कि एक चिड़िया काच पर वैठी है और अपने प्रतिविम्व पर चोच मारती चली जाती है।

एक सिह कूए पर गया। जल मे प्रतिविम्व देखा। सिंह की आकृति देख उसने दहाड़ा। उसने सोचा—मेरा प्रतिद्वन्द्वी दहाड रहा है। वह उससे लड़ने के लिए कूए मे कूद पड़ा। दूसरे को मारने वाला स्वय पानी मे छटपटा कर मर गया।

आज मनुष्य भी यही कर रहा है। वह अपने ही प्रतिविम्व से लडने की वात सोच रहा है। इन्द्रिया हमारी ज्ञानधारा है। उनके साथ लडना

प्रतिबिम्ब के साथ लडना है। इन्द्रियो के साथ लड़ने की कोई आवश्यकता नही है। मन के साथ लड़ना आवश्यक है। जिसने मन को समझ लिया, वह इन्द्रियों के साथ आने वाली मूर्च्छा को समाप्त कर देता है। प्रियता और अप्रियता, राग और द्वेष, मूर्च्छा—ये सब मन के साथ आती है। ये इन्द्रियो की ज्ञान-धारा मे मिलती है। हम उस मूर्च्छा को समझें, मोह को समझें। वास्तव मे उसे ही समझना है। उसको समझ लेने पर तटस्थता आ सकती है। इन्द्रियो के संवर से पहले आवश्यक है मन का सवर। मन का सवर होने पर इन्द्रियो का संवर अपने आप हो जाता है। जिस व्यक्ति का मन शांत है, जिसका चित्त शात है, जिसकी बुद्धि शांत है, उसके समक्ष रूप आए तो वह रूप रूप होगा, ज्ञेय होगा किन्तु विकार नही होगा। ज्ञेय और विकार के बीच बहुत सूक्ष्म भेद-रेखा है। दोनो को अलग समझना चाहिए। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये ज्ञेय है, जानने योग्य है।

समस्या का हल : समाधि

इन्द्रिय और मन की परिधि मे जीने वाले लोग हजारो-हजारों प्रकार की समस्याए भोगते है। ये समस्याए सरकार नही सुलझा सकती। अनाज की समस्या, मकान या कपडे की समस्या को सरकार सुलझाने मे सक्षम होती है। किन्तु मन और इन्द्रियो की समस्या को कोई नही सुलझा पाता। इन समस्याओ को सुलझाने मे सक्षम है केवल व्यक्ति की अपनी समाधि। दूसरा कोई उपाय नही है। इसलिए आज हम समाधि की चर्चा कर रहे हैं। जिस समस्या को समाज या राज्य के स्तर पर नही सुलझाया जा सकता उस समस्या को व्यक्ति के स्तर पर समाधि के द्वारा सुलझाया जा सकता है।

समस्या का अर्थ है—आस्रव और समाधि का अर्थ है—सवर। समस्या का अर्थ है मूर्च्छा और समाधि का अर्थ है—चैतन्य का अनुभव। एक बात है, यदि मूर्च्छा नही होती तो आदमी दुनिया मे जी नही पाता। हर व्यक्ति मूर्च्छा से जुडा हुआ है, इसलिए वह जी रहा है। हमारे शरीर की एक व्यवस्था है। शरीर मे जब तक कष्टो को झेलने की क्षमता होती है तब तक वह जागृत रहता है। और जब कष्ट अधिक बढ जाता है और शरीर उसे झेलने मे असमर्थ होता है तब आदमी मूर्च्छित हो जाता है। जब भयंकर बीमारी, अवसाद और कष्ट होता है तब आदमी तत्काल मूर्च्छा मे चला जाता है। यह प्रकृति की अपनी व्यवस्था है कि जागृत रहकर आदमी उतने कष्ट झेल नही सकता, इसलिए उसे मूर्च्छित कर दो। या तो शरीर उसे स्वयं मूर्च्छित कर देता है या फिर डॉक्टर उसे बाहरी साधनो से मूर्च्छित कर देता है।

मूर्च्छा असमाधि है, समस्या है। चैतन्य का अनुभव समाधि है।

सोना समस्या है और जागना समाधि। हम सोते है, यह सवसे वडी समस्या हैं। हम जागते हैं, यह समाधि है। चैतन्य का अनुभव समाधि है। जागरण समाधि है, सवर समाधि है।

संयम

हमारे भीतर शक्ति का अनत कोप है। उस शक्ति का वहुत वडा भाग ढका हुआ है, प्रतिहत है। कुछ भाग सत्ता मे है और कुछ भाग उपयोग मे आ रहा है। हम अपनी शक्ति के प्रति यदि जागरूक हो तो सत्ता मे रही हुई शक्ति और प्रतिहत शक्ति को उपयोग की भूमिका तक ला सकते है।

शक्ति का जागरण सयम के द्वारा किया जा सकता है। हमारे मन की अनेक मागे होती है। हम उन मागो को पूरा करते चले जाते है। फलतः हमारी शक्ति स्खलित होती जाती है। उसके जागरण का सूत्र है—मन की माग का अस्वीकार। मन की माग के अस्वीकार का अर्थ है—संकल्प-शक्ति का विकास। यही सयम है। जिसका निश्चय [सकल्प या सयम] दृढ होता है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नही होता।

शुभ और अशुभ निमित्त कर्म के उदय मे परिवर्तन ला देते है, किन्तु मन का सकल्प उन सवसे वडा निमित्त है। इससे जितना परिवर्तन हो सकता है उतना अन्य निमित्तो से नही हो सकता। जो अपने निश्चय मे एकनिष्ठ होते है, वे महान् कार्य को सिद्ध कर लेते है। गौतम ने पूछा—'भते ! सयम से जीव क्या प्राप्त करता है?' भगवान् ने कहा—'सयम से जीव आस्रव का निरोध करता है। संयम का फल अनास्रव है। जिसमे सयम की शक्ति विकसित हो जाती है उसमे विजातीय द्रव्य का प्रवेश नही हो सकता। सयमी मनुष्य वाहरी प्रभावो से प्रभावित नही होता। कहा है, सब काम ठीक समय पर करो। खाने के समय खाओ। सोने के समय सोओ। सव काम ठीक समय पर करो। यदि आप नौ वजे ध्यान करते हैं और प्रतिदिन उस समय ही ध्यान करते है, मन की अन्य किसी मांग को स्वीकार नही करते तो आपकी सयम शक्ति प्रवल हो जायेगी।

सयम एक प्रकार का कुम्भक है। कुम्भक मे जैसे श्वास का निरोध होता है, वैसे ही सयम मे इच्छा का निरोध होता है। भगवान् महावीर ने कहा—सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, वीमारी, गाली, मारपीट—इन सव घटनाओ को सहन करो। यह उपदेश नही है। यह सयम का प्रयोग है। सर्दी लगती है तव मन की माग होती है कि गर्म कपड़ो का उपयोग किया जाए या सिगड़ी आदि कि शरण ली जाए। गर्मी लगती है तव मन ठंडे द्रव्यो की माग करता है। सयम का प्रयोग करने वाला उस माग की उपेक्षा करता है। वह मन की माग को जान लेता है, देख लेता है पर उसे पूरा नही करता। ऐसा करते-करते मन

मांग करना छोड़ देता है, फिर जो घटना घटती है वह सहजभाव से सह ली जाती है।

प्रेक्षा संयम है, उपेक्षा संयम है। आप पूरी एकाग्रता के साथ अपने लक्ष्य को देखें, अपने आप संयम हो जाएगा। फिर मन, वचन और शरीर की मांग आप को विचलित नही करेगी। उसके साथ उपेक्षा, मन, वचन ओर शरीर का संयम अपने आप सघ जाता है। भगवान् महावीर ने कहा है—

विणएतु सोयं णिक्खम्म, एस महं अकम्मा जाणति पासति।

इन्द्रिय विषयों का परित्याग कर निष्क्रमण करने वाला महान् सावक अकर्म [ध्यानस्थ] होकर जानता, देखता है।

संयम की निष्पत्ति-संवर

संयम के सधते ही संवर प्राप्त हो जाता है। संयम हमारी सावना है और संवर उसकी निष्पत्ति है। किसी विजातीय तत्त्व का वाहर से न आना संवर है। जव संयम की सावना होती है तव वाहर से आना अपने आप वन्द हो जाता है। जव संवर सधता है तव तप की चेतना शुरू हो जाती है। एक आन्दोलन प्रारम्भ हो जाता है। जव तक वाहर से रसद पहुच रहा था तव तक वहुत वड़ी शक्ति मिल रही थी। वाहर का सारा रसद वन्द हो गया, अव जो भीतर है, उसमे वडा आन्दोलन होने लग जाएगा। तप की प्रक्रिया एक सावना है। निर्जरा उसकी निष्पत्ति है। निर्जरा कोई सावना नही है, संवर कोई सावना नही है। ये दोनो निष्पत्तियां है। संयम की निष्पत्ति है संवर और तप की निष्पत्ति है निर्जरा। जव वाहर से आना वंद हो जाता है और जो भीतर है वह वाहर भागने लगता है, भीतर रहना कठिन होता है, उस समय अकर्म की स्थिति प्राप्त होती है। हमारी चंचलताएं समाप्त हो जाती है। हमारी प्रवृत्तियां समाप्त हो जाती है। सहज ही स्थिरता प्राप्त होती है, अकर्म की अवस्था उपलब्ध होती है। अकर्म की स्थिति प्राप्त होने के पश्चात् सिद्धि प्राप्त होती है। तव ज्ञाता और द्रष्टा-भाव स्थिर हो जाता है। जिस ज्ञाता और द्रष्टाभाव के लिए यात्रा प्रारम्भ की थी, वह यात्रा सम्पन्न हो जाती है। यह हमारी यात्रा की मंजिल है। इसमें हमारा स्वरूप प्रकट हो जाता है। हमारा स्वरूप है—सिद्ध, वुद्ध और मुक्त।

कायगुप्ति का प्रयोग

आप कायोत्सर्ग करें, काया का विसर्जन करे, शरीर को त्याग दें, जीते हुए भी मृतवत् अनुभव करें और शरीर को विलकुल निष्क्रिय, निश्चेष्ट और प्रवृत्तिशून्य वनाए। यह है कायगुप्ति, कायोत्सर्ग, काया का उत्सर्ग—वहुत

बड़ी बात है काया को छोड़ देना। मरने के बाद हर आदमी शरीर छोड़ देता है या वह छूट जाता है, किन्तु जीते-जी शरीर को छोड़ देना बहुत बड़ी साधना है। जब काया के उत्सर्ग की बात सामने आई तो गौतम के मन में भी प्रश्न खड़ा हुआ। उन्होंने भगवान् से पूछा—**'कायगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ'?** भगवान्! कायगुप्ति का परिणाम क्या है? भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा—**'कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ'**—कायगुप्ति के द्वारा संवर होता है। दो शब्द हैं—आस्रव और संवर। आस्रव वह है जिसके द्वारा दोष हमारे भीतर प्रवेश करते हैं। हमारे भीतर दोष नहीं है। हमारी आत्मा मे दोष नही है। घर साफ-सुथरा है। उसमें कोई गंदगी नही है। गंदगी या धूल आ रही है, दरवाजो मे तथा इन खिड़कियों से। जहां भी छोटा-सा छेद हुआ, उसमें धूल घुस जाती है। आंधी चल रही है, उसे रोका नही जा सकता। कोई रोक भी नही सकता। ऐसा कोई उपाय भी नहीं है कि आंधी न चले, हवा न चले, तूफान न आए। कोई उपाय नहीं है। कोई रोक नही सकता। किन्तु ऐसी व्यवस्था है, ऐसा उपाय है कि हम धूल को भीतर आने से रोक सकते है। यदि हम दरवाजो-खिड़कियों को बन्द कर देते हैं तो धूल अन्दर नहीं आ सकती। वह बाहर रह जाती है। हमारी चेतना मे कोई गदगी नही है। वह शुद्ध है, निर्मल है, स्वच्छ है। किन्तु जैसे हर मकान के साथ दरवाजे होते हैं, खिडकियां होती हैं, वैसे ही चेतना भी इससे मुक्त नही है। उसके साथ भी कुछ दरवाजे जुड़े हुए हैं, कुछ जुडी हुई हैं खिड़कियां। उसको हम आस्रव कहते है। आस्रव अर्थात् छिद्र। इनके द्वारा बाहर से तत्त्व आते हैं और हम उनसे भर जाते है। वे विजातीय तत्त्व हैं, पराए हैं। जो पराया होता है वह हमेशा संकट उत्पन्न करता है, कठिनाई पैदा करता है। जो अपना होता है, उससे कोई खतरा नही होता। पराए से खतरे की संभावना बनी रहती है। उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। हम ऐसा उपाय करें कि आस्रव न रहे। ये खिड़कियां खुली न रहें, ये दरवाजे खुले न रहें, ये नाले खुले न रहें, ये छेद खुले न रहे। ये सारे गुप्त हो जाएं। सुरक्षित हो जायें। संस्कृत में गुपू रक्षणे धातु है। गुप्त का अर्थ है—संरक्षण। कायगुप्ति का अर्थ है—काया की सुरक्षा। हम काया से इतने सुरक्षित हो गए कि भीतर किसी के लिए अवकाश नही है। बाहर से कोई आ नही सकता। केवल हम है, हमारी चेतना है, इसके सिवाय भीतर कुछ भी नहीं है। इस प्रक्रिया का नाम है सवर। भगवान् महावीर ने कहा—कायगुप्ति करने वाला संवर उत्पन्न करता है, आस्रव का अवरोध करता है, संवर पैदा करता है, संवर हो जाता है।

साधना का चरम शिखर : अयोग

आवेग चैतन्य का स्वभाव नही है। यह चैतन्य के साथ उत्पन्न नहीं होता

है। यह मोह है, विकृति है, किन्तु स्वभाव नही है। इसीलिए यह सम्भावना शेष रहती है कि आवेग को निरस्त किया जा सकता है। उस योग को दूर किया जा सकता है जो आकर जुड़ गया है। उसे काटा जा सकता है। उसे काटने के अनेक उपाय हैं, अनेक साधन हैं। उन सब साधनों मे महत्वपूर्ण साधन है–चैतन्य का अनुभव, संवर–शुद्ध उपयोग। जब हम चैतन्य के अनुभव मे होते हैं तब संवर की स्थिति होती है, हमारा संवर होता है। जब चैतन्य का अनुभव होता है तब कोई आवेग हो नही सकता। आवेग तब होता है जब हमारा चैतन्य का अनुभव लुप्त हो जाता है। जब चैतन्य पर मूर्च्छा छा जाती है, जब चैतन्य पर ढक्कन आ जाता है, तब आवेग को उभरने का अवसर मिलता है। जब चैतन्य की अनुभूति होती है तब आवेग आ ही नही सकता।

हमारी साधना का सूत्र है–चैतन्य का सतत अनुभव। जब चैतन्य के अनुभव की स्थिति निरन्तर बनी रहती है तब हमारा संवर पुष्ट होता रहता है। सवर के आते ही द्वार बंद हो जायेगा। चैतन्य का अनुभव होते ही सब द्वार बन्द हो जायेंगे। कोई द्वार खुला नही रहेगा। सब द्वार बंद, सब खिड़कियां बंद। उस समय न आवेग आ सकता है, न उत्तेजना आ सकती है और न वासना आ सकती है। कुछ भी नही आ सकता। सब विच्छिन्न हो जाते है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा कि साधना का चरम शिखर है—'अयोग'। वहां सब योग समाप्त हो जाते है। यह 'अयोग' शब्द बडा जटिल है। सभी आचार्यो ने शब्द चुना–'योग'। उन्होने कहा–योग की साधना करो। भगवान् महावीर ने कहा–'नही, अयोग की साधना करो। योगो को समाप्त करो, संबंधो को तोडो।' इससे क्या होगा? इससे सब कुछ घटित हो जायेगा। क्योकि पाना कुछ भी नही है। बाहर से लेना कुछ भी नही है। हम सब अपने आप मे परिपूर्ण हैं। कुछ भी उपादेय नही है। बाहर ऐसी कोई वस्तु नही है जो अपने लिए हितकर हो। बाहर जितनी वस्तुएं है, उन्हे छोडना ही हितकर है। अन्तिम शिखर है–अयोग। जब सम्यक्त्व का संवर हो जाता है, व्रत का सवर हो जाता है, अप्रमाद का संवर हो जाता है, अकषाय का संवर हो जाता है, तब अन्तिम शिखर आता है–अयोग संवर। जहा हमने सारे सबध काट डाले, वहा अयोग हो जाता है। वहा पूर्ण विकास हो जाता है, परमात्मा की पूर्ण स्थिति उपलब्ध हो जाती है। अयोग संवर के घटित होते ही जो पौद्गलिक संबंध आत्मा के साथ है, वे सब एक साथ विच्छिन्न हो जाते है। जब चैतन्य का अनुभव प्रारम्भ होता है तब योग टूटने शुरू होते हैं। मूढता का गहन वलय टूटने लगता है। कर्मो के जितने संबध हमने स्थापित किये है, वे सारे-के-सारे चैतन्य की विस्मृति के कारण हुए है। जब-जब चैतन्य की विस्मृति होती है तब-तब कोई-न-कोई पुद्गल हमारे साथ जुड जाता है और अपना प्रभाव जमा लेता है। हम जब अपने चैतन्य के

निर्जरा भावना

विजातीय द्रव्य सचित होता है तब शरीर अस्वस्थ वनता है। उसके निकल जाने पर शरीर स्वय स्वस्थ बन जाता है। वाहरी संचय का निर्जरण होने पर मानसिक चचलता के हेतु अपने आप समाप्त हो जाते है। निर्जरा का हेतु तपस्या है। जो साधक तपस्या का अर्थ नही जानता, वह ध्यान का मर्म नही जान सकता।

भीतर का आक्रमण

आखे वन्द कर ली। मन को एकाग्र करने का अभ्यास किया। 'सर्वेन्द्रिय संयम-मुद्रा' कर वाहर से सबध विच्छेद कर डाला। अव वाहर से न शब्द आ रहा है, न रूप और रस आ रहा है। सव कुछ वन्द है। किंतु मस्तिष्क मे लाखो-करोडो, असख्य शब्द, रूप, गध कैद किए हुए हैं। हजारों लाखो वर्षों से यह क्रम चल रहा है। वाहर से एक वार वन्द कर देते है। किन्तु जब ये भीतर मे संगृहीत शब्द, रूप उभरते है तव आदमी विस्मय से भर जाता है। जो व्यक्ति ध्यान से पूर्व स्थिर था, इतना चचल नही था, वह एकाग्र होते ही इतना चचल हो जाता है कि जिसकी कल्पना भी नही कर सकते। ध्यान दे–शब्द कहा से आ रहे है? वाहर का दरवाजा वन्द है। वाहर से कोई प्रवेश नही कर पाता। जव कोई वाहर से प्रवेश करता था, तव भीतर का सोया पड़ा था। जब वाहर से कोई नही आ रहा है तो भीतर वाले को जागने का अवसर मिल जाता है। जब चेतन मन जागता है तब अवचेतन मन सोया रहता है। मनोविज्ञान की भापा मे कहा जाता है जब कोन्शियस माइण्ड काम करता है, तव सबकोन्शियस माइण्ड काम नहीं करता। स्थानांग सूत्र का कथन है–जव सयमी जागता है तव उसके शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श–ये पाच सोए रहते है। जव सयमी सोता है तव ये पाचो जाग जाते है। जव चेतन मन जागता है तव भीतर का तत्र सोया रहता है। जब हम इस चेतन को सुला देते हैं तव भीतरी मन जाग जाता है। जव बाहरी मन जागता रहता है तव भीतर का भण्डार भरता जाता है और एक दिन ऐसा आ सकता है कि एक भीषण विस्फोट होता है और आदमी उसे झेल नही पाता। जव चेतन मन जागृत रहता है तव हमे ज्ञात होता है कि भीतर क्या-क्या है। जब तक सफाई का प्रयत्न नही किया जाता तव तक कुछ भा पता नही लगता।

समाधि है शोधन की प्रक्रिया

समाधि शोधन की प्रक्रिया है। जव वह प्रक्रिया चलती है तव शब्द जागते है, भावनाएं जागती है, ऐसे शब्द और ऐसी भावनाएं जिनकी कल्पना भी नही की जा सकती। जो आदमी भला और सज्जन दिखाई देता रहा है; वह भी अचानक हिंसक और वेईमान हो जाता है। उसके मन मे बुराई की भावना जागती है, हिसा की वात उभरती है, आत्महत्या के विचार आते है, चोरी करने की भावना जागृत होती है। गृहस्थ मे ही नही, साधु-सन्यासी में भी ऐसा परिवर्तन होता है। जव वह ध्यान की गहराइयो मे जाता है तव सस्कार उभरते है और परिणामस्वरूप ये सारी वृत्तियां जाग जाती है। स्वय के मन मे इन वृत्तियो के प्रति ग्लानि होती है। वह सोचता है–अरे, यह क्या ? मैने कभी इन निम्न वृत्तियो को पोषण दिया ही नही, फिर ये क्यो उभर रही है ? ये वृत्तिया इसीलिए उभरती है कि उनके मूल-संस्कार चेतना की गहराई मे दवे होते है। ध्यान से वे जब छेड़े जाते है तव विपरीत भावनाए आती है और व्यक्ति को वदल देती है। केवल आख वंद कर लेने मात्र से, केवल प्रतिसलीनता का अभ्यास कर लेने से या प्रियता या अप्रियता की भावना को साध लेने से समस्या का समाधान नही होता। समस्या का समाधान तव होता है जव भीतर मे रहे हुए शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श के भण्डार को रिक्त करना जान लें। जव यह रिक्त या रेचन करने की प्रक्रिया सीख ली जाती है तव वह भण्डार खाली हो जाता है। यही निर्जरा की प्रक्रिया है।

निर्जरा : रेचन की प्रक्रिया

धर्म के क्षेत्र मे यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या धर्म के पास कोई रेचन का उपाय है ? धर्म दमन सिखाता है। वह कहता है–गुस्से को दवाओ, कामवासना का दमन करो, भय और अह को दबाओ। धर्म केवल दवाने की ही वात करता है। यह सही नही है। धर्म ने कभी दमन नही सिखाया। उसके पास निर्जरा का सिद्धांत है। निर्जरा का अर्थ है–रेचन। जो भीतर संचित है उसको वाहर निकालना, यह है निर्जरा। इतना निकालना, इतना रेचन करना कि भीतर मे जो सचित है, केवल वही समाप्त न हो जाए, वल्कि स चित करने का तत्र भी समाप्त हो जाए।

जव किसी पंछी की पांखे रजो से भर जाती है तब वह अपनी पांखों को प्रकंपित कर सारे रजकणो को झाड़ देता है। इसी प्रकार इतना प्रकपन करो कि सारा दवाव समाप्त हो जाए, वाहर निकल जाए, रेचन हो जाए। यह निर्जरा की प्रक्रिया है। यह केवल क्रोध या भय के तनाव को समाप्त करने की ही प्रक्रिया नही है, किन्तु क्रोध और भय के मूल तंत्र को मिटाने

की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के द्वारा ही ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, चित्तवृत्तियो की निर्मलता, धर्मध्यान और शुक्लध्यान की स्थिति उपलब्ध होती है।

निर्जरा का मूल हेतु तपस्या है। तपस्या के द्वारा तीन वाते फलित होती हैं—

१. ऊर्जा का अधिक संचय।

२. ऊर्जा का अल्प व्यय।

३. ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा।

यह घटित होने पर ज्योतिपुज के साथ साधक का संपर्क स्थापित हो जाता है। वह रश्मि जो 'मैं हूं'—इतनी-सी प्रतीत होती थी वह ज्योति-पुज मे मिल जाती है। और तव 'मैं हू' वदल जाता है। केवल 'है' शेष रह जाता है। 'मैं' की वात समाप्त हो जाती है। जो रश्मियां विखरी पड़ी थी, जो एक जालीदार ढक्कन से छन-छनकर वाहर फैल रही थी, वे सारी रश्मियां सिमटकर ज्योतिपुज मे लीन हो जाती है। उस समय ज्योतिपुज के साक्षात्कार का प्रश्न भी समाप्त हो जाता है। वहा कौन ज्योतिपुज और कौन मैं—यह भेद मिट जाता है। सव कुछ ज्योतिमय वन जाता है।

धर्म भावना

भगवान् महावीर से पूछा गया—'धर्म की श्रद्धा से क्या होता है? उसका परिणाम क्या होता है?' भगवान् ने कहा—'धर्म-श्रद्धा से अनौत्सुक्य पैदा होता है। उत्सुकता समाप्त हो जाती है।' जिन स्पदनो के प्रति, पौद्-गलिक स्पदनो के प्रति उत्सुकता थी, वह धर्म की श्रद्धा जागने से मिट जाती है। सारी उत्सुकता समाप्त हो जाती है। उत्सुकता समाप्त होते ही अध्यात्म के स्पदनो का अनुभव होने लग जाता है।

धर्म भावना

धर्म का अर्थ है स्वभाव और वे साधन जिनसे व्यक्ति स्वय मे प्रतिष्ठित होता है। धर्म को प्राण, द्वीप, प्रतिष्ठा और गति कहा है। व्यक्ति जव धर्म को जान लेता है, उससे सम्यक् परिचित हो जाता है तव उसके लिए जो कुछ है वह सव धर्म ही है।

मेरी दृष्टि मे धर्म की परिभाषा है—

- धर्म हमारे जीवन का वह आलोक है जो हमारी इन्द्रियो को, मन को और बुद्धि को आलोकित करता है, प्रकाश से भर देता है।
- धर्म वह है जो हमारे जीवन की अन्धकारमय सस्कारो की परतो को प्रकाशमय वनाता है।
- धर्म वह है जो इन्द्रियो को, बुद्धि को और मन को निर्मल वनाता है।
- धर्म वह है जो इन्द्रिय, बुद्धि और मन को शक्तिशाली वनाता है।

कोई भी व्यक्ति अन्धकार की गुफा मे नही रहना चाहता, कोई भी व्यक्ति अज्ञानी नही रहना चाहता तथा कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति वीर्यहीन नही रहना चाहता। सव व्यक्ति प्रकाशी, ज्ञानी और वीर्यवान् वनना चाहते है।

अतीत का शोधन करना, अतीत के खजाने को खाली करना, यह है धर्म। यही है ध्यान का परिणाम या उद्देश्य। अतीत के परिणामों से वच जाना धर्म का उद्देश्य नही है। यह हो सकता है कि आज किसी व्यक्ति ने धर्म की आराधना प्रारभ की, वह अतीत के प्रति जागरूक वन गया, अतीत मे जो भडार भरा था, उसके प्रति इतना जागरूक हो गया कि वह उसे प्रभावित कर सकेगा। अतीत के सस्कारो के उदय मे उसने एक रुकावट पैदा कर दी। धर्म की आराधना का अर्थ है वर्तमान मे जागरूक रहना। वर्तमान मे

जागरूक रहने वाला व्यक्ति एक प्रतिरक्षा पक्ति खडी कर देता है और तब वह अतीत के सस्कारो के प्रभाव से बच जाता है। शरीर रोग से बचता है तो वह दवाइयो से नही बचता। वह अपनी प्रतिरक्षा पंक्ति से बचता है। हमारे शरीर मे एक प्रतिरक्षा पंक्ति है, जो रोग के कीटाणुओ से लडती रहती है। पूरा शरीर रोग के कीटाणुओ से भरा पडा है। वे उसी मे पल रहे है, पुप्ट हो रहे है। फिर प्रश्न होता है कि आदमी स्वस्थ कैसे रह पाता है? शरीर मे कीटाणु हैं, फिर भी हम स्वस्थ इसलिए रह पाते है कि शरीर मे प्रतिरोधात्मक शक्ति होती है। वह एण्टीबॉडी है। यह प्रति-शरीर रोग से बचाता है, कीटाणुओ को समाप्त करता है। उनके आक्रमण को विफल बना देता है। यदि यह प्रतिरोधात्मक शक्ति नही होती, यदि यह प्रति शरीर की प्रक्रिया नही होती तो कभी आदमी विस्तर को छोड़ ही नही सकता। हम ध्यान का प्रयोग करते है, धर्म की आराधना करते है तो इसका अर्थ है कि हम संस्कार के सामने प्रति-संस्कार पैदा कर रहे है। जो कर्म का खजाना हमे प्रभावित करता है, जो संस्कार हमे प्रभावित कर रहे है, उनके समक्ष ऐसी प्रतिरोधात्मक पक्ति खडी कर देते है कि हम संस्कारो के प्रहारो से बच जाते है। यह है धर्म का परिणाम और ध्यान का परिणाम। हम इस तथ्य को विस्मृत कर कह देते है कि धार्मिक के जीवन मे वह विपत्ति क्यो आयी? अरे, धार्मिक कौन-सा बडा आदमी है? ध्यान करने वाला कौन-सी तीसरी दुनिया से आया हुआ है? आज धर्म करने वाला या ध्यान करने वाला भी अतीत से बधा हुआ है। न जाने अतीत मे उसने क्या-क्या किया था। अपराध का चित्त उसमे विद्यमान था। कितने लोगो के जीवन मे उसने कितने प्रकार के विघ्न पैदा किए थे। बाधाएं डाली थी। आज यदि उसके जीवन मे विघ्न-बाधाए आती है तो वह कहता है, मै अच्छा काम करना चाहता था, पर विघ्न आ गया। अरे, तुम अपने अतीत को देखो। तुमने कितने विघ्न किये थे, कितनी अन्तराय पैदा की थी? उन सबका परिणाम आज तुम्हे भुगतना पड रहा है।

आदमी अच्छे काम प्रारम्भ करता है तो हजारो विघ्न सामने आ खडे हो जाते है। बुरे काम करो, अवरोध पैदा करने वाले कम मिलेगे। अच्छे काम करो, अवरोध पैदा करने वाले एकत्रित हो जाएगे। ऐसा होता है। यह संसार का क्रम है।

धार्मिक कौन?

धर्मध्यान वस्तु-सत्यो को खोजने की महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह कोई धर्म-अधर्म का ध्यान नही है, किन्तु वस्तु-धर्मो का ध्यान है, वस्तु के पर्यायो का ध्यान है। इससे वस्तु के रहस्यो का उद्घाटन होता है। आज वैज्ञानिक

जगत् मे जो वहुत सारी खोजे हो रही है, उन खोजों के पीछे धर्म-ध्यान ही काम कर रहा है। खोजना कोई बुरी वात नही है। खोज चाहे एक वैज्ञानिक करें या एक अध्यात्मवेत्ता करे, साधक करे। खोज खोज है। वह आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान नही है। शर्त इतनी ही है कि उस खोज के साथ राग-द्वेष की शृंखला है। किन्तु जहां शुद्ध सत्य की खोज है वहां केवल तत्व को खोजना है कि परमाणु क्या है? इलेक्ट्रान क्या है? प्रोटोन क्या है? न्यूट्रॉन क्या है? न्युक्लियस क्या है?—यह सारी तत्व की खोज है। यह धर्म-ध्यान है। इस प्रकार मानसिक समस्याओं को खोजना, संकल्प शक्ति के प्रभाव को खोजना—ये सारी चीजे वैज्ञानिक कर रहे है। जो खोजे अध्यात्म के साधक को करनी चाहिए थी वे सारी खोजे एक वैज्ञानिक कर रहा है। अध्यात्म-साधक इस ओर सुप्त है, उदासीन है। किन्तु वैज्ञानिक जागरूक है, प्रयत्न-शील है। यह अध्यात्म जगत् को वहुत वड़ी चुनौती है। वैज्ञानिक नि.स्पृह भाव से, राग-द्वेप, रहित भाव से यह कार्य कर रहा है। सत्य की खोज कोई भी करे, वह सत्य तक पहुचता है। हम क्यो नही माने कि सत्य की खोज करने वाला, चाहे फिर वह वैज्ञानिक हो या साधक, उस अंश मे अध्यात्म का साथी है जिस अंश मे वह राग-द्वेप से शून्य होकर सत्य की खोज मे लगा रहता है। इस मर्म को समझना चाहिए और साधको को सत्य की खोज मे लग जाना चाहिए।

हम कैसे जान सके कि व्यक्ति मे धर्म-ध्यान का अवतरण हुआ है या नही? कसौटी क्या है? प्राचीन साधको ने इसकी कसौटी भी वताई है। जव धर्म-ध्यान का अवतरण होता है तव व्यक्ति मे अर्थ की खोज स्पप्ट हो जाती है। कोई समस्या सामने आयी, तत्व सामने आया और ऐसा लगे कि उसका समाधान लिखा हुआ-सा है, तो समझना चाहिए कि व्यक्ति मे धर्म-ध्यान घटित हो रहा है। वस्तु-सत्य की खोज करते-करते वहुत सारी वाते सहज ही प्रकट हो जाती है। एक वीज मिला और उसका सारा रहस्य प्राप्त हो जाएगा। एक वाक्य के आधार पर वह सारी वात समझ लेगा। पदानुसारिता, वीजवुद्धि, कोष्ठवुद्धि—ये सव धर्म-ध्यान करने वाले व्यक्ति के लक्षण हैं। धर्म-ध्यान की अनुभूति आतरिक अधिक है और वाहरी कम। यह आंतरिक कसौटी है। व्यक्ति स्वयं इसका अनुभव कर सकता है कि उसमे धर्म-ध्यान उतर रहा है। उसका शील वदल जाता है। उसका स्वभाव वदल जाता है। उसमे मैत्री की भावना जाग उठती है। उसमे अहिंसा प्रस्फुटित होने लगती है। उसमे सत्य की प्रवल निष्ठा का उदय होता है। अचौर्य का विकास होता है। उसमे वासनाओ की विरति होती है। उसमें मध्यस्थभाव प्रकट होता है। उसकी मूर्च्छा घटती है। ये सव धर्म-ध्यान की आंतरिक कसौटिया है।

धर्म-ध्यान की वाहरी कसौटिया भी है। इससे शरीर की निश्चलता

सधती है। वैठते ही शरीर निश्चल हो जाए तो समझना चाहिए कि धर्म-ध्यान-उतर रहा है। जव हाथ, पैर, वाणी आदि का असंयम समाप्त हो जाता है तव मानना चाहिए कि धर्म-ध्यान का अवतरण हुआ है। ये दो वाहरी लक्षण है। तीसरा लक्षण है–श्वास की मंदता। श्वास तेज है तो समझ लेना चाहिए कि धर्म-ध्यान मे प्रवेश नहीं हुआ है। श्वास मंद है तो धर्म-ध्यान घटित हो रहा है। यह कसौटी जैन आचार्यो की ही नही है, हठयोग की भी यही कसौटी है। श्वास इतना मद हो जाता है कि पता ही नही चलता कि वह चल रहा है। इस प्रकार श्वास की मंदता, वृत्तियो की स्थिरता, व्यवहार मे उत्तेजित नही होना–ये सव कसौटियां है। सामान्य लोग साधक का यही अंकन करते है कि उसका व्यवहार कैसा है? अगर साधक का व्यवहार क्रोधपूर्ण और छलनापूर्ण है तो उसमे धर्म-ध्यान घटित नही हुआ है, इस वात को भी समझना जरूरी है। ध्यान करने वाले की वृत्तिया शान्त और व्यवहार अनुत्तेजित होना ही चाहिए।

धर्म-ध्यान शुद्ध लेश्याओ के आलवन से होता है। तैजस, पद्म और शुक्ल—ये तीन शुद्ध लेश्याएं हैं। ये जितनी होती है, उतना ही धर्म-ध्यान होता है। इन लेश्याओ के अभाव मे राग-द्वेष आ जाता है। तव धर्म-ध्यान धर्म-ध्यान नही रहता। तैजस लेश्या का काम है आनन्द का अनुभव कराना, सुखासिका–इतनी सुखासिका कि पौद्गलिक जगत् मे उसकी कोई तुलना नही है। एक वर्ष तक सम्यक् प्रकार से तेजोलेश्या की साधना करने वाला सर्वार्थसिद्ध के देवो के सुखो का अतिक्रमण कर देता है। पद्मलेश्या से शाति प्रकट होती है। मन की इतनी शांति, कषायो की इतनी शांति कि उसकी कोई सीमा नही रहती। शुक्ललेश्या से वीतरागता, कषायो की निर्मलता, मन की निर्मलता, चित्त की शुद्धि प्रकट होती है।

जो व्यक्ति आनंदित रहता है, निरन्तर आनंद का अनुभव करता है तो समझ लेना चाहिए कि धर्म-ध्यान जीवन मे उतरा है। जीवन यदि शाति से ओतप्रोत हो तो मानना चाहिए कि धर्म-ध्यान जीवन मे व्याप्त है। चित्त की निर्मलता हो, कोई प्रवंचना न हो, ठगाई न हो, आगे-पीछे कुछ ऐसा वर्ताव न हो तो धर्म-ध्यान का अवतरण समझ लेना चाहिए।

धर्म-ध्यान के लिए श्रद्धा, स्वाध्याय और भावना अपेक्षित है, यह उसके लक्षण, आलम्वन और अनुप्रेक्षाओ से फलित होता है। धर्म-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाए है—

१. एकत्व अनुप्रेक्षा : मैं अकेला हू, ऐसी भावना।
२. अनित्य अनुप्रेक्षा : सव संयोग अनित्य हैं, ऐसी भावना।
३. अशरण अनुप्रेक्षा : दूसरा कोई त्राण नही है, ऐसी भावना।
४ संसार अनुप्रेक्षा : जीव संसार मे परिभ्रमण कर रहा है, ऐसी भावना।

धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

एक वार स्वर्ण ने स्वर्णकार से कहा, 'तुम मुझे अग्नि मे जलते हो, इसका मुझे दुःख नही। लोहे मे मुझे पीटते हो, इसका भी मुझे दुःख नही। लेकिन दुःख इस वात का है कि तुम मुझे चिरमियों से तोलते हो।' ठीक यही वेदना समझदार व्यक्ति के मन मे होती है। जब वह सुनता है कि धर्म अफीम की गोली है या निकम्मी चीज है। किंतु मेरी यह मान्यता है कि व्यक्ति श्वास के विना जी सकता है, (चाहे कुछ क्षण तक ही सही)। लेकिन धर्म के विना दो क्षण भी जीवित नही रह सकता।

धर्म की परिभाषा समझने मे अनेक वार हमारे सामने कठिनाइयां आ जाती है। दर्शन की भाषा मे धर्म की परिभाषा है आत्मा की शुद्धि ही धर्म है। साहित्य की भाषा मे धर्म की परिभाषा है–जिसके द्वारा ज्ञान, आनंद और शक्ति का विकास हो, वही धर्म है। मनोविज्ञान की भाषा मे धर्म की परिभाषा है–समता।

प्राचीन समय में भारतवर्ष मे योग विद्या का वहुत वड़ा महत्व रहा है। पूर्वाचार्यो ने हजारो वर्षो तक अध्ययन करके अनेक उपलब्धियां प्राप्त की थी। लेकिन आज का मनोविज्ञान एक नयी शाखा है। वह अनेक प्रवृत्तियो मे वहुत उपयोगी प्रमाणित हुआ है। शिक्षा, स्वास्थ्य एव अन्य अनेक प्रवृत्तियों मे इसकी उपयोगिता सर्व-विदित है।

समता धर्म है और विषमता अधर्म। यह एक कसौटी है। एक जमाना था अर्थवाद का। लोग किसी भी चीज को वढ़ा-चढ़ाकर कहते थे। जैसे अगर तुम क्रोध करोगे तो काले हो जाओगे या अमुक काम करोगे तो स्वर्ग मे जाओगे आदि-आदि। लेकिन आज वह स्थिति नहीं रही। आज का वुद्धि-वादी इन वातो पर विश्वास नही करेगा। लोकमान्य तिलक को पुस्तको से वेहद प्यार था। उन्होंने एक वार कहा था, 'अगर मैं नरक मे भी जाऊं और वहा मुझे पुस्तके मिल जाएं तो मै स्वर्ग की कामना नही करूगा, वही मेरे लिए स्वर्ग वन जाएगा।' आज व्यक्ति नरक से डरता नही है। आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार के व्यक्ति वताये हैं–मंद, मध्यम और प्राज्ञ। तीनों को अलग-अलग तरीको से समझाया जाए। मन्द व्यक्ति को कहे, अगर तुम वुरा करोगे, पाप करोगे तो नरक मे जाओगे। मध्यम व्यक्ति को वस्तु-स्थिति समझायी जाए–यह काम वुरा है ऐसा करने मे तुम्हारा अहित होगा। प्राज्ञ व्यक्ति को तत्व क्या है, यह समझाने की आवश्यकता है। कौन-सा काम करने से किस प्रकार की प्रतिक्रिया होगी, यह समझ लेने पर प्राज्ञ व्यक्ति स्वत. सही मार्ग अपना लेता है।

क्रोध का क्या असर होता है हमारे मन, वचन और शरीर पर? साधारण व्यक्ति स्वयं इसका अनुमान नही लगा सकता, किन्तु इसका मनो-

वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर हम देखेंगे कि क्रोधी व्यक्ति का रक्त विषम वन जाता है। क्रोध मे डूबी हुई माता द्वारा वच्चे को स्तन-पान कराने पर कभी-कभी वच्चे की मृत्यु हो जाने के उदाहरण भी सामने आये है। घृणा से आंतों मे छाले हो जाते है, दस्त लगने लगते है। ईर्ष्या से घाव व मुंह मे छाले हो जाते है। यहा तक कि नव्वे प्रतिशत बीमारियां मानसिक अशुद्धि की उपज है और दस प्रतिशत शारीरिक। आयुर्वेद का मत है कि क्रोध, मान, लोभ, ईर्ष्या व भय आदि से मन्दाग्नि हो जाती है। जो रस वनता है वह कभी कम और कभी अधिक वनने लगता है, इसके कारण पाचन पर भयंकर प्रभाव पडता है। क्रोध, भय, लोभ आदि दुर्गुणों के कारण अनेक वार मृत्यु तक हो जाती है।

इन सब बुराइयो और दुर्गुणो का प्रतिकार मनोवैज्ञानिक ढंग से किया जाए, इसलिए हमे धर्म की ओर मुडना पडेगा। लेकिन केवल रूढि निभाना ही धर्म नही है। सामायिक का अर्थ समझे विना एक मुहूर्त्त तक मुख-वस्त्रिका मुहपर बाध कर बैठे रहना ही सामायिक नही है। सामायिक का अर्थ है—समता। मनरूपी घोडे पर लगाम लगाये विना, लडाई, निन्दा आदि विचारों व राग-द्वेष आदि भावो पर रोक लगाये विना शुद्ध सामायिक का फल भी कहा से प्राप्त होगा ?

धर्म क्या है ? आज के युग मे उसकी परिभाषा सीमित शब्दो मे नही की जा सकती। मूल तत्व है कषाय-मुक्ति। जो व्यक्ति कषाय से मुक्त होता है, वही सही अर्थ मे धार्मिक है। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, घृणा, हीन-भावना की मनोवृत्ति आदि अधर्म है। धर्म उनके मन मे टिकता है, जो शक्तिशाली है, पवित्र है, भय रहित है। अभय धर्म है, समता धर्म है, क्षमा-शीलता धर्म है, दूसरो की उन्नति देखकर सवके विकास की इच्छा करना धर्म है, मित्रता की भावना का विकास करना धर्म है। क्रोध नही करना, ऋजुता, सरलता, सन्तोष धर्म है। दुनिया मे कौन समर्थन नही करेगा, इस परिभाषा का ?

जैन नवकार मत्र का पाठ करता है तो वैदिक गायत्री का। एक मुसलमान कुरान का पाठ करता है तो ईसाई वाइविल का। यही भेद आ सकता है, लेकिन उपर्युक्त वातो के लिए किसी मे अन्तर नही आएगा। ये वाते सम्प्रदायातीत है। धर्म हमारे लिए शरण देने वाला है, किन्तु लोग आज धर्म का उपयोग करना नही जानते।

धर्म का विश्लेषण सही दृष्टिकोण से किया जाए तो निश्चित रूप से आपको स्वस्थ व सुखी जीवन विताने का साधन मिल जाएगा। दार्शनिक, साहित्यिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम धर्म को समझे। विषमता को छोडें और समता को ज्यादा-से-ज्यादा ग्रहण करे।

त्याग की शक्ति का उत्स : धर्म की चेतना

धर्म की सबसे बड़ी शक्ति है–त्याग की शक्ति। दुनिया में कोई भी तत्व ऐसा नही है जो त्याग की शक्ति पैदा कर सके। एक मात्र धर्म की चेतना से व्यक्ति में त्याग करने की क्षमता आती है। संसार के सारे शास्त्र भोग की बात सिखाते हैं, बटोरने की बात और इन्द्रियों के विषयों के सेवन की बात सिखाते है। एक मात्र धर्म की चेतना व्यक्ति को त्याग सिखाती है। वह कहती है–त्याग करो, विषयों का परित्याग करो, अनुपलब्ध को उपलब्ध करने का प्रयत्न मत करो। किन्तु आज मूल पर ही कुठाराघात हो चुका है। चरित्र की चेतना जब लुप्त हो जाती है, तब व्यक्ति के मन मे यह विचार उठता है कि चरित्रवान् दु.ख पाता है और चरित्रहीन सुख भोगता है। जब यह विचार दृढमूल बन जाता है तब उस व्यक्ति का, समाज का या राष्ट्र का चरित्र-पक्ष कभी उज्ज्वल नही रह सकता। वे कभी उन्नति के शिखर का स्पर्श नही कर सकते।

धर्म का एक मात्र उद्देश्य है–निर्जरा। उसका एकमात्र लक्ष्य है–पुराने सस्कारों को क्षीण करना। चैतन्य की उपलब्धि धर्म-भावना से ही संभव है। जो चैतन्य को उपलब्ध कराए, पुराने संस्कारों को मिटाए, भय को नष्ट करे, प्रलोभन से ऊपर उठाए, वही धर्म है, वही अध्यात्म है।

लोक-संस्थान भावना

सम्पूर्ण विश्व, जो पुरुषाकृति है, का चिन्तन करना लोक भावना है । जड़ और चेतन का यह आवासस्थल है । मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर, सूर्य, चन्द्र, नारक, देव और मुक्तात्मा (सिद्धि-स्थान)—ये सब लोक की सीमा के अन्तर्गत है । साधक लोक की विविधता का दर्शन कर और उसके हेतुओं का विचार कर अपने अन्त. स्थित चेतना (आत्मा) का ध्यान करे । यह सोचें—राग और द्वेष की उठने वाली तरंगो का यह परिणाम है । लोक-भावना का अभिप्राय है—इस वैविध्य और वैचित्र्य का सम्यग् अवलोकन कर स्वयं को सतत तटस्थ बनाये रखना ।

यह लोक विविधताओ की रगभूमि है । इसमे अनेक सस्थान और अनेक परिणमन है । उन सब मे एकत्व या समत्व की अनुभूति कर घृणा, अभिमान और हीन भावना पर विजय पायी जा सकती है । समत्व की साधना के लिए इस भावना के अभ्यास का बहुत महत्व है ।

बाहर से भीतर की ओर

भगवान् महावीर ने इसका उपाय बताते हुए कहा—एक कछुआ है । जब कोई कठिन स्थिति पैदा होती है, पक्षी उसे नोचने आते है, सियार आदि उसे खाने आते है, कोई असुरक्षा उत्पन्न हो जाती है, भय उत्पन्न होता है, तब तत्काल वह अपनी खाल मे चला जाता है । प्रकृति ने उसे ऐसी खाल भी दी है जो उसके लिए ढाल का काम करती है । प्राचीन काल मे जब तलवारो और भालो से युद्ध होता था, तब योद्धा अपने हाथ मे ढाल रखते थे । वह भी कछुए की खाल से ही बनती थी । कछुआ अपनी खाल के भीतर जाने के बाद सब प्रकार से सुरक्षित बन जाता था । क्या हमारे पास भी ऐसी कोई ढाल है जिसमे पहुचकर हम पापो मे बच सके ? हमारे मन मे वासना उभरती है । हमारे ऊपर वासना का आक्रमण होता है, क्रोध का आक्रमण होता है, आवेश का आक्रमण होता है । क्या कोई उपाय है इन आक्रमणो से बचने का ? हां, है उपाय। भगवान् ने कहा—'जैसे कछुआ बाहरी आक्रमण से बचने के लिए अपनी ढाल मे चला जाता है, वैसे ही तुम अध्यात्म मे चले जाओ । बच जाओगे सभी आक्रमणों से । अध्यात्म मे चले जाओ, चेतना के पास चले जाओ, भीतर चले जाओ, अन्दर प्रवेश कर लो, सुरक्षित हो जाओगे । जब तक मन बाहर भटकता है तब तक वासनाएं

उभरती है, आवेश उभरते हैं और जो स्थितियां चिन्ता, भय और दुःख उत्पन्न करने वाली हैं वे सारी उभरती हैं, उभर सकती हैं। तुम भीतर चले जाओ, चेतना के जगत् में चले जाओ, चेतना का नैकट्य प्राप्त कर लो, सुरक्षित हो जाओगे, पूर्ण सुरक्षित। कोई खतरा नहीं, कोई भय नहीं। यह ज्वलत शक्ति है। उसका अनुभव किया जा सकता है।

कछुए की उपमा साधक के लिए गीता, बुद्ध वचन, महावीर वाणी आदि में सर्वत्र प्रयुक्त हुई है। कछुआ भयभीत स्थान में तत्काल अपने अंगों को समेट कर सुरक्षित हो जाता है।

साधक के लिए कछुए की वृत्ति आवश्यक है। वह अपनी प्रवृत्तियों को सतत समेटे रखें। बाहर भय ही भय है। जहां भी अनुपयुक्त—प्रमत्त हुआ कि बंधा। मुक्ति के लिए अप्रमत्तता आवश्यक है।

बोधि-दुर्लभ भावना

मनुष्य का जन्म दुर्लभ है और वोधि उससे अधिक दुर्लभ है। यहूदी सन्त मौनीज के मृत्यु की वेला सन्निकट थी। पुरोहित पास मे खडा मन्त्र पढ रहा था। उसने कहा—'मूसा का स्मरण करो, यह अतिम क्षण है।' मौनीज ने आखे खोली और कहा, 'हटो यहां से। मेरे सामने नाम मत लो मूसा का।' पुरोहित को आश्चर्य हुआ, सव देखते रह गए। यह कैसी वात ! पुरोहित ने कहा—'जीवन भर जिनका गीत गुनगुनाया, हजारो लोगो को सन्देश दिया और अव यह क्या कह रहे हो ? जिन्दगी की सारी प्रतिष्ठा धूल मे मिला रहे हो ?' मौनीज ने कहा, 'मै जानता हू। किन्तु अभी प्रश्न वैयक्तिक है। मूसा यह नही पूछेगा कि तुम मूसा क्यों नही हुए, वह पूछेगा कि तुम मौनीज क्यो नही हुए ?'

स्वयं का होना वोधि है। जीवन मे सव कुछ पाकर भी जिसने वोधि नही पाई, उसने कुछ नही पाया और वोधि पाकर जिसने कुछ नही पाया उसने सव कुछ पा लिया। मरने के बाद सब कुछ छूट जाता है। खो जाता है, वह हमारी अपनी सम्पत्ति नही है। सवोधि अपनी सम्पत्ति है, उसे खोजना है। अनेक-अनेक योनियो मे जन्मे और मरे, किन्तु स्वयं के अस्तित्व को नही पहचाना। जन्म के पूर्व और मरने के वाद भी जिसका अस्तित्व अखण्ड रहता है, उसकी खोज मे निकलना वोधि भावना का अभिप्राय है। आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है—'भावनाओ मे रमण करता हुआ साधक इसी जीवन मे दिव्य मुक्तानन्द का स्पर्श कर लेता है। उसकी कपायाग्नि शान्त हो जाती है, पर-द्रव्यों के प्रति जो आसक्ति है वह नष्ट हो जाती है, अज्ञान का उन्मूलन होता है और हृदय मे वोध-प्रदीप प्रज्वलित हो जाता है।'

बोधि-सम्पन्नता

सम्यक्त्व या सही दृष्टिकोण की प्राप्ति वोधि-सपन्नता का पहला सोपान है। जो व्यक्ति सम्यक्त्व पा लेता है, वह साधना मे अग्रसर होता हुआ वोधि से सपन्न हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के पांच लक्षण हैं—

१. आस्तिक्य—आत्मा, कर्म आदि मे विश्वास।

२. शम—क्रोध आदि कपायो का उपशमन।

३. संवेग—मोक्ष के प्रति तीव्र अभिरुचि।

४. निर्वेद—वैराग्य। उसके तीन प्रकार हैं—संसार-वैराग्य, शरीर-वैराग्य और भोग-वैराग्य।

५. अनुकम्पा—कृपा भाव, सर्वभूतमैत्री-आत्मौपम्य भाव। प्राणीमात्र के प्रति अनुकम्पा।

अहिंसा दया का पर्यायवाची नाम है। पंचाध्यायी में इसका बड़ा सुन्दर विश्लेपण किया है। उसमे कहा है—'जो समग्र प्राणियों के प्रति अनुग्रह है, उस अनुकम्पा को दया जानना चाहिए। मैत्रीभाव, मध्यस्थता, शल्य-वर्जन और वैर-वर्जन—ये अनुकम्पा के अन्तर्गत है।' इससे दया का विशुद्ध स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। जिस दया मे किसी का भी उत्पीडन नही होता, वस्तुतः वही सच्ची अनुकम्पा है।

बोधि के प्रकार

बोधि के तीन प्रकार है—ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चरित्रबोधि। सहजतया मनुष्य का आकर्षण ऐश्वर्य और सुख-सुविधा मे होता है, किन्तु वे ही दुःख के हेतु बनते हैं, इस स्थिति को मनुष्य भुला देता है। प्रस्तुत भावना में मनुष्य के सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित होता है। इस जगत् मे दुर्लभ क्या है? धन-सम्पदा और सुख-सुविधा वस्तुत दुर्लभ नही है। दुर्लभ है मानसिक शान्ति। वह धन-सम्पदा और सुख-सुविधा से प्राप्त नहीं होती किन्तु सम्यग्-ज्ञान, सम्यग् दृष्टिकोण और सम्यग्चारित्र के द्वारा प्राप्त होती है।

मन की शान्ति का हेतु बोधि है। कारण प्राप्त होने पर कार्य की सिद्धि सहज हो जाती है। बोधि प्राप्त होने पर मन की शान्ति का प्रश्न जटिल नही होता।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—'भंते! दर्शन-सम्पन्नता का क्या लाभ है?' भगवान् ने कहा—'गौतम! दर्शन-सम्पन्नता से विपरीत दर्शन का अन्त होता है। दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति यथार्थद्रष्टा बन जाता है। उसमे सत्य की लौ जलती है, वह फिर बुझती नही। वह अनुत्तरज्ञान से आत्मा को भावित करता रहता है। यह आध्यात्मिक फल है। व्यावहारिक फल यह है कि सम्यग्दर्शी देवगति के सिवाय अन्य किसी गति का आयुष्य नही बाधता।'

योगी व्रतेन सम्पन्नो, न लोकस्यैषणाञ्चरेत्।
भावशुद्धिः क्रियाश्चापि, प्रथयन् शिवमश्नुते॥ ५९॥

महाव्रतो से सम्पन्न योगी लोकैषणा मे नहीं फंसता। वह मानसिक शुद्धि और सत्क्रियाओ का विस्तार करता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है।

एक बार गोतम ने पूछा—'भगवन्! तत्त्व क्या है?' भगवान् ने कहा—'उत्पाद तत्त्व है।' गौतम की समस्या सुलझी नही। उन्होने फिर

पूछा— 'भगवन् ! तत्त्व क्या है ?' भगवन् ने कहा—'विनाश तत्त्व है ।' अभी भी मन समाहित नही हुआ । तीसरी बार गौतम ने पूछा—'भगवन् ! तत्त्व क्या है ?' भगवान् ने कहा—'ध्रौव्य तत्त्व है ।'

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—यह त्रिपुटी है । गौतम गणधर ने इसी के आधार पर वाङ्मय का विस्तार किया था । उत्पाद और व्यय प्रत्येक चेतन और जड़ दोनो पदार्थों की अवस्थाएं हैं । जड़ और चेतन दोनों ध्रुव हैं । जड़ चेतन नही होता और चेतन जड़ नही होता । अवस्थाओ का परिवर्तन इन दोनो मे सतत चालू रहता है । चेतन एक अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्थाओ मे जाता है । यह आत्मा की अमरता है । गीता मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—'पुराने कपड़े के फट जाने पर जिस प्रकार नया कपड़ा धारण किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपनी वर्तमान जीर्ण स्थिति को त्यागकर नया रूप स्वीकार करती है । कभी देवत्व, कभी पशुत्व, कभी नारकीय, कभी मानवीय आकार मे आत्मा का परिवर्तन होता रहता है । वह बालक से युवक और युवक से बूढ़ा बन मृत्यु का आलिंगन करती है । इन सबमे आत्मा विद्यमान रहती है । ये उसकी विभिन्न अवस्थाएं है । चेतनत्व का विनाश नही होता ।'

जड मे भी यही परिवर्तन मिलता है । मिट्टी के अनेक आकार बनते हैं और बिगडते है । सोने की कितनी अवस्थाए होती हैं ? लेकिन सुवर्णत्व सब मे वैसा ही रहता है । एक व्यक्ति सोने का घट लेना चाहता है, एक व्यक्ति मुकुट और एक व्यक्ति केवल सुवर्ण । मुकुट को तोड़कर सोने का घट बनाने पर एक को प्रसन्नता होती है और मुकुट वाले को विषाद । लेकिन सुवर्ण वाले व्यक्ति को न प्रसन्नता है, न विषाद । सुवर्ण ध्रौव्य है । घट और मुकुट उसकी अवस्थाएं है । पुद्गल—जड़ के गुण किसी भी दशा मे मिटते नही । मिट्टी भले सोने के रूप मे परिणत हो जाए, शरीर चिता मे जलकर राख भी क्यो न बन जाए, इन सबमे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श—ये सदा अवस्थित रहेगे । एक परमाणु से लेकर अनन्त परमाणुओ के स्कन्ध में भी इनकी अवस्थिति है ।

संसार की अपेक्षा से मुक्त होने वाले जीव कम हो जाते हैं । वे अपने परमात्म-स्वरूप को पाकर जन्म और मृत्यु के घेरे को लांघ जाते है । किन्तु इससे आत्मा की संख्या मे कोई कमी-बेशी नही होती । आत्मत्व यहां और वहां सतत विद्यमान रहता है । संसारी आत्माएं अनन्त है और मुक्त आत्माएं भी अनन्त हैं । मुक्त जीवो की अपेक्षा संसारी जीव सदा अनन्त रहे हैं और रहेगे । । संसार कभी शून्य नही होगा । मुक्ति जाने के योग्य जीव भी सदा यहां मिलते रहेंगे ।

श्राविका जयन्ती के प्रश्न से इसका स्पष्ट हल सामने आ जाता है । जयन्ती ने भगवान् महावीर से पूछा—'भगवन् ! क्या सभी जीव मुक्त

हो जायेंगे ? यदि सभी मुक्त हो जाएंगे तो ससार जीवशून्य हो जाएगा।' भगवान् ने कहा–'ऐसा नही होता । मोक्ष मे वे ही जीव जाते है, जो भव्य होते हैं'। इससे एक प्रश्न और पैदा हो जाता है कि भव्य जीव सब मोक्ष में चले जायेंगे, तो क्या ससार भव्यशून्य नही हो जायेगा ?' भगवान् ने कहा—'ऐसा भी नही होगा। मोक्ष में जाने वाले भव्य जायेंगे। लेकिन वैसी अनुकूल स्थिति उत्पन्न होने पर ऐसा होता है। सबको ऐसे अवसर सुलभ नही होते।'

आत्मा ज्ञानमय है। उस को सब कुछ बोध होना चाहिए। उसके लिए यह अज्ञेय क्यो है कि वह कहा से आया है ? कहा जायेगा ? भविष्य की घटनाए क्यो अज्ञात रहती है ? ज्ञान की पूर्णता, तथा श्रद्धा और आचरण के विकास मे कौन बाधक है ?

भगवान् महावीर की दृष्टि मे ज्ञानावरणीय, अन्तराय और मोहनीय–ये तीन कर्म बाधक है। ज्ञान पर जो आवरण है वह ज्ञानावरणीय है, आत्मा को जानने मे यह बाधा डालता है । जब यह हट जाता है तब ज्ञान का क्षेत्र व्यापक बन जाता है। आत्म-विकास में विघ्न डालने वाला कर्म अन्तराय है । वह आत्मशक्ति के स्फोट को रोकता है। मनुष्य यथार्थ को जानता हुआ भी उसमे उद्योग नही करता। यथार्थ के प्रति श्रद्धाशील न होना और न उसको स्वीकार करना–यह मोहनीय कर्म की देन है । मोहोदय से मनुष्य भौतिक आकर्षणो मे फंसा रहता है । सत्य के प्रति न उसकी अभिरुचि होती है, न वह सत्य का आचरण ही करता है । किन्तु उल्टा इसे अपनी शांति मे बाधक मानता है। यह मूढता मोहजन्य है।

स्वसन्मत्याऽपि विज्ञाय, धर्मसारं निशम्य वा।
मतिमान् मानवो नूनं, प्रत्याचक्षीत पापकम् ॥

बुद्धिमान् मनुष्य धर्म के सार को अपनी सद्बुद्धि से जानकर या सुनकर पाप का प्रत्याख्यान करे।

बुद्ध ने कहा–भिक्षुओ ! मैं आदरणीय, श्रद्धेय और सम्माननीय हूं, इसलिए मेरी वाणी को स्वीकार मत करो, किन्तु अपनी मेधा–बुद्धि से परीक्षण करके स्वीकार करो,–'**परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात्।**' महावीर भी यही कहते है–अपनी बुद्धि से परखो–'**मइमं पास।**' और भी आत्मद्रष्टा ऋषियो का यही स्वर है। मुहम्मद ने कहा है–'सब जगह मुझे ही प्रमाण मत मानो।' किन्तु व्यवहार मे यह कम ही होता है। मनुष्य की बुद्धि कुछ परिपक्व होती है उससे पूर्व ही वह धर्म को पकड़ लेता है। जन्म के साथ धर्म का जन्म होना देखा जाता है। कहते है–दुनिया मे हजारो मत-मतान्तर है। प्राय· व्यक्ति अपनी सीमा मे खडे मिलते है।

हिन्दु, वौद्ध, जैन, ईसाई, मुस्लिम, सिक्ख आदि का चोला जन्म के साथ धारण हो जाता है।

मनुष्य मे धर्म की भूख–जिज्ञासा पैदा ही नही होती। उससे पूर्व धर्म का भोजन उसे प्राप्त हो जाता है। सत्य का मार्ग उद्घाटित नही होता। सत्य की प्यास पैदा होना कठिन है और प्यास पैदा हो जाए तो फिर पानी मिलना सरल नही है। जीसस ने कहा–'धन्य है वे जिन्हे धर्म की भूख है क्योकि उनकी भूख तृप्त हो जाएगी।' सवसे पहले यह अपेक्षित है कि व्यक्ति मे धर्म की भूख जागृत हो। पाप कर्म से निवृत्त होना कठिन नही है जितना कि धर्म की भूख का जागरण होना है। अर्जुनमाली, अगुलिमाल, वाल्मिकी आदि प्रसिद्ध हैं जिनको धर्म की प्यास पैदा होते ही मार्ग मिला और उनके पाप छूटते चले गए।

पाप अशुभ प्रवृत्ति है। अशुभ प्रवृत्ति मे व्यक्ति पहले अपने को सताता है और जो स्वयं को दुख देता है वही दूसरे को सताता है, इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि पाप है अपने को दु.ख देना। जो आत्मस्थ है, स्वय में स्थित है और जिसकी इन्द्रियां शान्त हो गई है वह स्वय मे प्रसन्न है, सुखी है, आनदित है। साधक व्यक्ति न स्वयं को सताता है और न दूसरों को कष्ट देता है। इसलिए पाप का अनुमोदन उसके द्वारा सभाव्य नहीं होता। अध्यात्म की साधना है–स्वयं मे प्रतिष्ठित होना। पाप से वचनें की अपेक्षा स्वयं में स्थित होने का प्रयत्न अधिक सशक्त है। अपने से वाहर जाना ही पाप है।

मैत्री भावना

भगवान् महावीर ने मैत्री का बहुत बडा सूत्र दिया। एक पादरी ने आचार्यश्री से कहा, प्रभु ईशु ने कितनी बडी बात कही है कि अपने शत्रु के साथ भी मैत्री करो। कितनी बडी बात है? क्या इससे बड़ी बात हो सकती है? आचार्यश्री ने कहा, यह बडी बात है, किन्तु भगवान् महावीर ने इससे आगे की बात कही है कि किसी को शत्रु मानो ही मत। पहले शत्रु माने और फिर मैत्री करे, इससे तो अच्छा है कि किसी को शत्रु माने ही नही। पादरी अवाक् रह गया। उसके अहं पर अव्यक्त चोट हुई। उसने रहस्य समझ लिया।

राष्ट्रपति लिंकन प्रबुद्ध व्यक्ति थे, आध्यात्मिक व्यक्ति थे। वे घूमने जाते। सामने मिलने वाले अभिवादन करते तो वे भी अपना टोप उतारकर अभिवादन का उत्तर देते। सामने वाला कोई भी क्यो न हो, गोरा हो या काला, उनके लिए सब बराबर थे। कुछ लोगों ने कहा, आप अमेरिका के राष्ट्रपति है और इस प्रकार सामान्य व्यक्तियो का अभिवादन करते है, यह पद के लिए गौरव की बात नही है। राष्ट्रपति ने कहा, मैं शिष्टता के मामले मे किसी से पीछे रहना नही चाहता। यह बात एक आध्यात्मिक व्यक्ति ही कह सकता है।

कुछ व्यक्तियो ने लिंकन से कहा, आपके शत्रु बहुत है। अभी आप सत्ता मे है। उनको समाप्त क्यो नही कर देते? लिंकन ने कहा, 'उन्हे समाप्त कर रहा हूं।' लोगो ने कहा, अभी तक किसी को जेल मे नही डाला, फासी नही दी, देश से नही निकाला। फिर कैसे समाप्त कर रहे है? लिंकन बोले, शिष्ट व्यवहार से सबको जीत रहा हूं। कुछ ही समय मे वे मेरे मित्र बन जाएगे। फिर कोई शत्रु नही रहेगा। सब शत्रु समाप्त हो जाएगे।

यह मैत्री का महान् सूत्र है। इसके समक्ष शत्रु कोई रहता ही नही। मैत्री की भावना जागने पर अनेक समस्याएं समाहित हो जाती है। प्रतिदिन हमारे मन पर अनेक मैल जमा होते जा रहे है। उनमे सबसे क्लिष्ट मैल है शत्रुता का, द्वेष का। इस दुनिया का यह अटल नियम है कि आदमी जैसा चाहता है वैसा होता नही है। इस संसार मे रुचि और चिंतन का भेद है, व्यवहार और व्यवस्था का भेद है, रहन-सहन और खान-पान का भेद है, रीति-रीवाजो का भेद है—ये सब भेद न रहे, यह कभी संभव नही है।

रुचि की भिन्नता है तब तक भेद समाप्त नही हो सकते। इन भेदो के कारण हमारे मन में शत्रुता और द्वेष का भाव पनपता है, यह अवांछनीय है। भगवान् ने कहा, दूसरे के साथ बुरा व्यवहार करने मे यह देखो कि तुम्हारा स्वयं का अहित हो रहा है। दूसरे का अहित हो या नही, यह विकल्प है, निश्चित नही है, किन्तु तुम्हारा अहित निश्चित है, उसमे कोई विकल्प नही है। दूसरे के प्रति तुम्हारे मन मे बुरा विचार आया, चाहे उसका पता किसी को न लगे, पर उसका अंकन तुम्हारे मस्तिष्कीय कोशो मे हो जाएगा। उसका बुरा परिणाम तुम्हे अवश्य ही भोगना पडेगा। दूसरे का अनिष्ट करने मे स्वय का अनिष्ट है—जो इस सूत्र को पकड लेता है वह कभी दूसरे का अनिष्ट नही कर सकता। 'मैं दूसरे का अनिष्ट कर रहा हूं'—यह सोचना मूर्च्छा है। वह नहीं जानता कि पर्दे के पीछे क्या हो रहा है? भीतर क्या हो रहा है? जिसके मन मे मैत्री की भावना का जागरण होता है वह कभी किसी का अहित नही कर सकता।

सबके प्रति आत्मीय या पारिवारिक भावना होने पर मन प्रफुल्ल रहता है। उसे किसी से भी भय नही होता। शत्रुता और भय, मैत्री और अभय—ये दो युगल हैं। जिसका मन भय से भरा होता है, वही दूसरे को शत्रु मानता है। जिसके मन मे कोई भय नही होता, वह अनिष्ट करने वाले को अज्ञानी मान सकता है किन्तु शत्रु नही मानता। सब जीवो के हित-चिंतन का बार-बार अभ्यास करने से मैत्री का संस्कार पुष्ट होता है।

मनुष्य के ज्ञात सम्बन्धों की कडी बहुत छोटी है और अज्ञात की शृंखला बहुत प्रलम्ब है। ज्ञात स्पष्ट है और अज्ञात अस्पष्ट, इसलिए शत्रु, मित्र आदि की कल्पनाए खडी होती है। अज्ञात सामने आ जाए तो ये भाव स्वत. शान्त हो सकते हैं। जन्म-मृत्यु की लम्बी परम्परा से कौन अपरिचित है? किन्तु इसे साधारण लोग नही समझते। साधक आत्म-तुला के पथ पर अग्रसर होता है, उसे यह स्पष्ट हो जाए तो बहुत अच्छा है, किन्तु बहुत कम व्यक्तियो को अतीत ज्ञात होता है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि मैं पहले भी था, अब भी हूं और आगे भी रहूंगा। अतीत मे था तो कहां था, कौन मेरे सम्बन्धी थे, आदि प्रश्न स्वत. खड़े हो जाते हैं। इस दृष्टि से साधक का मन सबके प्रति मित्रभाव धारण कर लेता है। **'मित्ति मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई'**—मेरा सबके साथ मैत्री-भाव है। कोई मेरा शत्रु नही है। आन्तरिक चेतना से जैसे-जैसे यह भाव पुष्ट होता जाता है वैसे-वैसे साधक के मन मे शत्रुता का भाव नष्ट होता चला जाता है। मित्र-मन सर्वत्र प्रसन्न रहता है और अमित्र-मन अप्रसन्न। शत्रु-मन अशान्त, हिंसक, घृणायुक्त और क्लिष्ट रहता है। उसमे प्रतिशोध की आग निरन्तर प्रज्वलित रहती है। मित्र-मन मे ये सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसे भय नहीं रहता।

मैत्री-भावना का साधक स्वयं अपने को कष्ट मे डाल सकता है, किन्तु दूसरों को कष्ट नही देता। उसकी दृष्टि मे पर-शत्रु जैसा कोई रहता ही नही। शत्रु का भाव ही अनिष्ट करता है। खलीफा अली अपने शत्रु के साथ वर्षो लडता रहा। एक दिन शत्रु हाथ मे आ गया। उसकी छाती पर बैठ भाला मारने वाला ही था, इतने मे शत्रु ने मुह पर थूक दिया। अली को एक क्षण गुस्सा आया और बोला—'आज नही लडेंगे।' लोगो ने कहा, 'कैसी मूर्खता कर रहे है ? वर्षो से शत्रु हाथ आया और आप छोड़ रहे है।' अली ने कहा—'कुरान का वचन है—क्रोध मे मत लडो।' मुझे गुस्सा आ गया। शत्रु को बडा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—'इतने वर्षों क्या आप विना क्रोध के लड रहे थे ?' अली ने उत्तर दिया—'हा।' शत्रु चरणो मे गिर पडा। उसे पता ही आज चला कि बिना क्रोध के भी लडा जा सकता है। वह मित्र हो गया। लडने का हेतु भिन्न हो सकता है, किन्तु क्रोध मे नही लड़ना—यह मित्रता का परिचायक है। मैत्री भाव का विराट् रूप जब सामने आता है तब द्वैत नही रहता। **'आयतुले पयासु'**—प्राणियो को अपने समान देखो—यह उसका फलितार्थ है।

स्वयं सत्य खोजें : सबके साथ मैत्री करें

हमे सत्य को जानना है और अपने आपको बदलना है कि हमारा शत्रुता का भाव सर्वथा नष्ट हो जाए। हमारे मन मे शत्रुता का भाव रहे ही नही। हम आदमी को शत्रु मान लेते है। अपना प्रमाद, अपना दोष दूसरे के सिर पर आरोपित कर देते है कि उसने मेरा अनिष्ट किया है, उसने मेरा ऐसा कर दिया। कोई भी आदमी यह देखने को तैयार नही है कि उसने भी कुछ किया है। सारा-का-सारा दोष हम दूसरो के सिर मढ देते है—'पत्थर कितने ऊबड़-खाबड है, मुझे ठोकर लग गयी।' अपनी गलती से, अपने प्रमाद से ठोकर लगी, इस बात को हम स्वीकार नही करेंगे, किन्तु कहेगे कि पत्थर ठीक स्थान पर नही थे, इसलिए ठोकर लगी। दरवाजा छोटा है, इसलिए सिर मे चोट लगी; किन्तु मैंने दरवाजे को छोटा समझकर भी अपने को छोटा नही किया, सिकोडा नही, इसलिए चोट लगी, ऐसा कोई नही सोचता। उसने मेरे साथ ऐसा किया, वैसा किया। उसने मेरे मित्र को बिगाड डाला। उसने उसे भ्रमित कर दिया। हम सारा दोषारोपण दूसरों पर करते है। दूसरो मे दोष देखते है और दूसरों को दोषी मानकर अपने आपको बचा लेते है। परन्तु जिसने सत्य को खोजा है, जो सत्य का खोजी है, वह दूसरो पर आरोप नही लगाता। वह इस बात का अनुभव करता है कि उसका अपना ही प्रमाद बहुत सारी विकृतियां उत्पन्न कर रहा है। इसलिए वह इस प्रयत्न मे रहेगा कि वह अप्रमत्त रह सके, जागृत रह सके, सतत जागरूक रह सके।

शत्रुता का इतना ही अर्थ नही है कि दूसरे से द्वेप रहे और मित्रता का अर्थ इतना ही नही है कि दूसरे से प्रेम रहे। शत्रुता का अर्थ है—अपने कर्त्तव्य को भुलाकर दूसरे के कर्त्तव्य मे बुराइयां देखना। यह शत्रुता है एक प्रकार की। पत्थर के प्रति भी हमारी शत्रुता हो जाती है। हम पत्थर को भी गालियां देने लग जाते है। पूरा वर्तन पानी से भरा था। एक हाथ से उसे उठाया वह फूट गया। अव इस सचाई को नही खोजा कि पानी से भरा हुआ पात्र एक हाथ से उठाया जाएगा तो छूटेगा और फूटेगा। इसको हम नही सोचेंगे। हम कहेंगे—पात्र इतना कच्चा था कि नही फूटता तो और क्या होता ? यह परिणाम तो अवश्यंभावी था। इस प्रकार अपने कर्त्तव्य को वचाने की जो वात है वह भी एक प्रकार मे दूसरो के प्रति शत्रुता है। दूसरी वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव, मित्रता का अर्थ केवल प्रेम ही नही है। प्रेम भी मित्रता है। किन्तु वास्तव में मित्रता है—सवके अस्तित्व को स्वीकार करना, जो जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करना, किसी को किसी पर आरोपित न करना। यह है मित्रता। यह अनाशातना है। जैन साहित्य का महत्वपूर्ण शव्द है 'आशातना।' जीव की आशातना होती है। अजीव की आशातना होती है। मकान की आशातना होती है। आशातना द्वेप है, शत्रुता है। अनाशातना मैत्री है। हमारा यह व्यापक दृष्टिकोण है कि हम सत्य को खोजे और सवके साथ मैत्री करे। अर्थात् जो जिसका जितना है उसे स्वीकार करे सहज भाव से और किसी पर कुछ आरोपित न करे। यह सचाई है। इसे हम पकडे। इस सचाई को पकड़े विना कोई साधना नही कर सकता।

मैत्री का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

मानवीय सम्वन्धो की दूसरी कठिनाई है—कठोरता। आदमी अपने से छोटे व्यक्ति के साथ मृदु व्यवहार नही करता। अपने से वडे व्यक्ति के साथ उसे मृदु व्यवहार करना पडता है। अन्यथा उसे स्वयं को कठिनाई भोगनी पड़ती है। छोटे के साथ मृदु व्यवहार करने पर वडे का वडप्पन भी कैसे सुरक्षित रह सकता है ? यह धारणा रूढ हो गयी है। एक मालिक अपने नौकर के साथ मृदु व्यवहार करने मे कठिनाई का अनुभव करता है। किन्तु वरावर के साथी के साथ वह विनम्र और मृदु व्यवहार करने मे गौरव अनुभव करता है। भला नौकर के साथ मृदु व्यवहार कैसे किया जाए? उसको तो दो-चार गालियां ही दी जानी चाहिए। इस धारणा ने सारे व्यवहारो को अव्यवस्थित कर डाला है। आज सर्वत्र यह धारणा ही वन गयी कि छोटे के साथ तो कठोर व्यवहार ही करना चाहिए। एक मिल मेनेजर यदि मजदूरो के साथ मृदु व्यवहार करता है तो भला मिल कैसे चल सकेगी ? इस प्रकार की धारणाओ ने सामाजिक सम्पर्कों, सामाजिक सम्वन्धो और

मानवीय सम्बन्धो मे बहुत बड़ी दरार पैदा कर दी। हम इस बात को भूल गए कि मैत्री और प्रेमपूर्ण भावनाओ के द्वारा, निर्मल और पवित्र भावनाओं के द्वारा आदमी को जितना जगाया जा सकता है, जितना प्रेरित किया जा सकता है, उतना कठोर व्यवहार से नही किया जा सकता। आज वैज्ञानिक खोजो के द्वारा नयी सचाइया सामने आयी है कि पवित्र और सद्भावना पूर्ण भावनाओ के द्वारा पौधों को विकसित किया जा सकता है। खेती को बढ़ाया जा सकता है। फूल को और अधिक विकसित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे पूर्ण चेतनाशील व्यक्ति को निर्मल और सद्भावनापूर्ण चेतना के द्वारा क्या विकसित नही किया जा सकता ? क्या वह निरा पत्थर है ? पत्थर को भी पवित्र भावनाओ से चैतन्य जैसा किया जा सकता है। जब बडी चट्टान को उठाना होता है तब पाच-सात आदमी उस चट्टान के प्रति समर्पित होकर, सकल्पशक्ति के सहारे उसे उठा देते हैं।

विनम्रता, मृदुता, हर किसी को पिघाल देती है। आप किसी के प्रति सद्भावना करे, प्रेमपूर्ण भावना करे, वह पिघल जाता है। गाय अधिक दूध देने लग जाती है, वृक्ष अधिक फल-फूल देने लग जाते है और लताए अपनी दिशा बदल देती हे। एक ईसाई महिला ने एक प्रयोग किया। उसने कुछ पौधे लगाए। किन्तु एक लता उन पर छा जाती, उन पौधो को ढंक देती। पौधों को पनपने का मौका ही नही मिलता। एक दिन महिला उस लता के पास गयी और विनम्र स्वर मे बोली—'लता ! मुझे दु.ख है कि तुझे काटना पडेगा। मुझे खेद है ! तू मुझे क्षमा करना।' उस महिला ने पौधे पर छा जाने वाली लता के भाग को काट डाला। फिर लता को सुझाव दिया कि तुम अमुक दिशा मे बढती जाओ। कुछ दिनों बाद देखा कि उस लता ने अपना मार्ग बदल डाला और दूसरी दिशा मे बढना प्रारम्भ कर दिया। जब लता भी विनम्र बात सुन लेती है, पौधा भी सुन लेता है, तब आदमी हमारी भावना क्यों नही सुनेगा ? हमारी मृदुता को वह न समझे, यह कैसे हो सकता है ? किन्तु हमने यह रूढ़ धारणा बना ली है कि आदमी पर मृदुता से शासन नही किया जा सकता। इस धारणा से मानवीय सम्बन्धों मे कटुता आयी है। एक आदमी दूसरे आदमी को शत्रु या पराया मानता चला जा रहा है।

सरस जीवन की प्रक्रिया—मृदुता

जीवन की सफलता का सूत्र है—सरसता। मृदु व्यवहार जीवन की सरसता का सूचक है। जिसका व्यवहार कठोर होता है, उसका जीवन सरस नही हो सकता। वह स्वय भी सरस नही हो सकता और दूसरो मे भी सरसता नही भर सकता। जिसका व्यवहार मृदु होता है वह स्वय सरस होता है और दूसरो मे भी सरसता भरता है।

आचार्य भिक्षु के समय की बात है। मुनि भिक्षा लेकर आए। भिक्षा दिखाई। एक पात्र मे चने की दाल और मूग की दाल मिश्रित थी। आचार्य भिक्षु ने मुनि से कहा, 'दोनों दालों को मिलाकर क्यो लाये ? अलग-अलग पात्र मे लाना चाहिए।' मुनि ने सहजभाव से उत्तर दिया, 'दाल दाल होती है। क्या अन्तर आता है। साथ ले आया।' आचार्य भिक्षु ने कहा, 'चने की दाल बीमार को नही दी जा सकती। मूग की दाल बीमार को दी जा सकती है। तुमने गलती की है।' भिक्षु ने उसे उलाहना दिया।

मुनि को बात खटक गयी। वे भोजन न कर, सो गए। भिक्षु भोजन मंडली मे बैठे। साधु को उपस्थित न देखकर पूछताछ की। पता चला कि वे सो रहे हैं। भिक्षु व्यवहार-पटु थे। मनोवैज्ञानिक थे। उन्होने मुनि के मन को पढ़ा और जोर से पुकारा, 'अरे! सोते-सोते दोष मेरा देख रहा है या अपना ?' इतना सुनते ही मुनि का गुस्सा शात हो गया। वे उठे, बाहर आए, भिक्षु को वंदना कर बोले, 'दोष तो अपना ही देख रहा था।' बस, सारा वातावरण सजीव हो गया।

आचार्य भिक्षु के शब्दो ने उसमे सरसता भर दी। मुनि सरसता से अभिभूत हो गए। सरसता वही भर सकता है जिसके जीवन-व्यवहार में सरसता हो। सरसहीन व्यक्ति का व्यवहार मृदु नही हो सकता। वह कभी दूसरो को सरस नही बना सकता। मैत्री सरसता का घटक है।

जीवन-विकास के सूत्रो की यह संक्षिप्त चर्चा है। जीवन को सफल बनाने के लिए हम जीवन को विस्तार दे, जीवन मे छाया उपलब्ध करे, सौरभ और सरसता को प्राप्त करे। ऐसा होने पर जीवन-वृक्ष ऐसा सरस बन जाएगा कि वह आसपास को सुरभिमय बना सकेगा और प्रत्येक व्यक्ति रस से आप्लावित हो सकेगा।

मैत्री की आराधना : शक्ति की आराधना

शक्ति के बिना मैत्री नही हो सकती। मैत्री की आराधना का अर्थ है—शक्ति की आराधना। सहिष्णुता एक शक्ति है। शक्ति की जब तक उपासना नही होती, मैत्री का भाव स्थायी नही हो सकता। दूसरी बात है, शक्ति के बिना कलुषता का निरसन भी नही हो सकता। कमजोर आदमी दिन मे सौ बार मैत्री का संकल्प करता है और शत्रुता के भाव को मन से निकाल देता है। फिर परिस्थिति आती है और उसके चित्त पर शत्रुता का भाव छा जाता है। यह चित्त का आकाश कभी निर्मल नही होता। उसको निर्मल करने के लिए सहिष्णुता की शक्ति चाहिए, निर्मलता की शक्ति चाहिए।

प्रमोद भावना

प्रमोद का अर्थ है—प्रसन्नता। जो स्वयं मे प्रसन्न नही होता, प्रमोद भावना को समझना उसके लिए कठिन होता है। जो अपना मित्र वनता है, वही प्रमोद–प्रसन्न रह सकता है। जिसकी अपने मे प्रसन्नता है उसकी सर्वत्र प्रसन्नता है। वह अप्रसन्नता को देखता नही। अपने से जो राजी नही है, वह दूसरो के दोप देखता है, दूसरो की प्रसन्नता–विशिप्टता से ईर्ष्या करता है। दूसरो के गुणो को देखकर व्यक्ति स्वय को प्रमोद भावना के द्वारा कितना ही भावित करे, किन्तु ईर्ष्या की ग्रथि खुलनी कठिन है, भले ही कुछ देर के लिए मन को तृप्त करले। जिसे ईर्ष्या से मुक्त होना है उसे सतत प्रसन्नता का जीवन जीना चाहिए। यह कोई असम्भव नहीं है। जो कुछ प्राप्त है,उसमें सदा प्रसन्न रहे। अतृप्ति को पास फटकने न दे। जैसे-जैसे हम अपने से राजी होते जाएगे, कोई वासना नही रहेगी। तव सहज ही दूसरो की विशेपताएं या अविशेपताएं हमारे लिए कोई महत्वपूर्ण नही होगी। विशेपताएं जहां प्रसन्नता के लिए होगी वहा अविशेषताएं करुणा उत्पन्न करेगी। जैसे एक व्यक्ति विकास के चरम पद को पा सकता है, वैसे दूसरा भी पा सकता है, किन्तु वह अपने को गलत दिशा मे नियोजित कर रहा है इसलिए करुणा का पात्र है। स्वयं मे प्रसन्न रहना सीखें, फिर दूसरो से अप्रसन्नता भी नही आयेगी और दूसरो के गुणो के उत्कर्ष से अप्रसन्नता भी नही होगी।

गुणों का मूल्यांकन

आचार्य ने अभ्यर्थना की–प्रभो! गुणी मनुप्यो के प्रति मेरी प्रमोद भावना जागृत हो। जो मुझसे ज्यादा गुणवान् है, जो मुझसे ज्यादा क्षमतावान् है, उनके प्रति मन मे प्रमोद जागे, ईर्ष्या की भावना न आए।

ईर्ष्या वहुत वडी वीमारी है। यह व्यापक रोग है। साधु-संत भी इससे अछूते नही है। जव एक साधु का यश वढता है, महत्व और शोभा वढती है, उस समय प्रमोद या हर्प प्रदर्शित करना वहुत कठिन हो जाता है। दूसरे के मन मे तत्काल यह भावना जागती है कि किन उपायो से इसके यश को और महत्व को धूलिसात् करू। वहुत भयकर रोग है ईर्ष्या का। इससे विरले ही वच पाते है। ईर्ष्या की चिकित्सा अध्यात्म से ही हो सकती है। जो सचमुच आध्यात्मिक रस मे ओत-प्रोत है वे गुणवान् व्यक्ति के प्रति प्रमोद प्रदर्शित कर अपने आत्मगुणो का जागरण करते है। गुणी के गुणो का

नि.स्वार्थ भाव से मूल्यांकन करना, दूसरों के समक्ष उन्हें अभिव्यक्ति देना, साधना-लभ्य उपलब्धि है। हर व्यक्ति ऐसा कर नही सकता।

अभी कुछ ही समय पूर्व मुझे युवाचार्य पद पर मनोनीत किया गया। अनेक ऊहापोह हुए। मेरे सहपाठी और साथी मुनि बुद्धमलजी ने जिस भाव-भाषा मे प्रमोद भावना व्यक्त की, उससे आचार्यश्री और स्वयं मैं—दोनों गद्गद् थे। इनके भावों को सुनकर आचार्यश्री को बड़ा हर्ष हुआ और मुझे भी बडी प्रसन्नता हुई। ऐसी भावना वही व्यक्ति प्रदर्शित कर सकता है जिसमे कुछ गंभीरता होती है, साधना की ऊंचाई होती है। अन्यथा ऐसी भावना निकलती नही। जानते सब हैं कि हमारे संघ की एक सुनिश्चित व्यवस्था है कि आचार्य ने जिस मुनि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया, भावी आचार्य घोषित कर दिया, फिर कोई राजी हो या नाराज, उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। मर्यादा को जानना सरल है, पर प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्मन की मर्यादा कुछ और ही होती है। वह अपनी-अपनी वृत्ति पर निर्भर होती है।

ईर्ष्या जटिलतम मानसिक उलझनों में से एक है। आदमी अकारण ही दु:खी बन जाता है। ईर्ष्या से मानसिक तनाव बढ़ता है। आदमी अनेक दु.ख मोल ले लेता है।

आचार्य का आत्म-निवेदन है, 'प्रभो ! गुणी जनो के प्रति मेरे मन में आदर की भावना जागे, प्रमोद की भावना जागे और मैं यह सोच सकू कि इन्होंने पुरुपार्थ कर अपनी क्षमताएं अर्जित की हैं, अपना विकास किया है। मैं भी ऐसा प्रयत्न कर इन क्षमताओं को अर्जित करूं।'

समानता का दर्शन

ईर्ष्या उस व्यक्ति के मन में पैदा होती है जिसे अधिक आत्मिक समानता मे विश्वास नही होता। जो मानता है कि हर आत्मा समान है, हर आत्मा मे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति है, हर आत्मा को विकास करने का अधिकार है और हर आत्मा उसका विकास कर सकती है, वह व्यक्ति दूसरे का विकास देखकर ईर्ष्यालु नही होता किन्तु प्रसन्न होता है। ईर्ष्या नास्तिकता का चिन्ह है। क्या आत्मनिष्ठ व्यक्ति आत्म-विकास पर एकाधिकार मान सकता है ?

दूसरे के विकास को नकारने का अर्थ गुणो की श्रेष्ठता को नकारना है। यदि गुणो की अच्छाई में हमारा विश्वास है तो वे गुण किसी में भी प्रकट हुए हो, हमारे लिए अभिनन्दनीय है। इस चिन्तन की पुष्टि से मानसिक हर्ष निश्छिद्र और अव्यवच्छिन्न बन जाता है। दूसरे की विशेपता देखी तो प्रमोद की भावना जागी, हर्ष की भावना जागी; कभी कोई हीनता का अनुभव नही

हुआ और अपने पुरुषार्थ की ओर ही ध्यान गया। यह हंसने वाली चेतना है। समस्या मे से समाधान खोजने वाली चेतना या दुःख में सुख खोजने वाली चेतना है। ऐसे लोग भी वहुत मिलते है जो इस चेतना का विकास कर लेते हैं और निरन्तर सुख में रहते है, दुःख का अनुभव नही करते। अज्ञानी मनुष्य के लिए यह संसार समुद्र जहर से भरा हुआ है और प्रमोद भावना वाले मनुष्य के लिए यह ससार समुद्र अमृत से भरा हुआ है। अमृत ही अमृत है उसके लिए। एक के लिए जहर और एक के लिए अमृत।

करुणा भावना

करुणा मैत्री का प्रयोग है । जिसका सब जगत् मित्र है, उसकी करुणा भी जागतिक हो जाती है । उस करुणा का सम्बन्ध पर-सापेक्ष नही होता । वह भीतर का एक बहाव है जो प्रतिपल सरिता की धारा की तरह प्रवाहित रहता है । महावीर, बुद्ध, जीसस आदि संत इसके अनन्यतम उदाहरण है । महायान बौद्ध कहते है–बुद्ध का निर्वाण हुआ । वे निर्वाण के द्वार पर रुक गये । कहा–भीतर आओ । बुद्ध कहते है–जब तक समस्त प्राणी दु:ख से मुक्त नही होते तब तक मै भीतर कैसे आ सकता हूं ? प्रेम का हृदय-सागर जब छलछला जाता है तब करुणा की ऊर्मियां तट पर टकराने लगती है । जितने भी सत बोले है, वे सब प्रेम–मैत्री के मूर्त रूप थे और वह प्रेम करुणा के माध्यम से वाणी के द्वारा बाहर बहा है ।

अमेरिकन विचारक हेनरी थारो से एक व्यक्ति मिलने के लिये आया। हाथ मिलाया और तत्क्षण हेनरी ने हाथ छोड दिया । कहा–यह हाथ जीवन्त नही है, मृत है । इसमे प्रेम, करुणा, सौहार्द, सहानुभूति नही है । यह उदात्त प्रेम की सूचना है । करुणा, सौहार्द आदि गुण मनुष्य की आन्तरिक चेतना की शुद्धि का प्रतिनिधित्व करते है ।

हजरत उमर ने एक व्यक्ति को किसी प्रान्त का गवर्नर नियुक्त किया । नियुक्ति पत्र लिखा और आवश्यक सूचना दी । इतने मे एक छोटा बच्चा आ गया, हजरत उसे प्रेम करने लगे । उसने कहा, 'मेरे दस बच्चे है, किन्तु मैने इतना प्रेम और इस प्रकार आलाप-सलाप कभी नही किया ।' हजरत ने वह नियुक्ति-पत्र वापस लेकर फाडते हुए कहा–'जब तुम अपने बच्चो से भी प्रेम नही कर सकते, तब प्रजा से प्रेम की आशा मै कैसे करूं ?'

एक संत के पास एक व्यक्ति संन्यासी बनने आया । सत ने पूछा–'क्या तुम किसी से प्रेम करते हो ?' उसने कहा........'आप क्या बात कर रहे है ? मेरा किसी से प्रेम नही है ।' सत ने कहा–'तब मुश्किल है । अगर प्रेम हो तो उसे व्यापक बनाया जा सकता है, किन्तु है ही नही, तब मैं क्या करू ?' प्रेम, करुणा, सहानुभूति ये अन्तस्तल के सूचना-सस्थान है । दु:खी, पीडित, त्रस्त व्यक्ति को देखकर जो करुणा का भाव जागृत होता है वह यह सूचना देता है कि आपका चित्त कोमल, मृदु और प्रेम से शून्य नही है । उसी करुणा को आत्मा से जोडना है, दु:ख के कारणो को मिटाना है, जिससे अनन्त करुणा का जन्म हो सके ।

सुदूर क्षितिज मे बिजली का कौधना देखकर हमें बादलों के अस्तित्व का बोध हो जाता है। इसी प्रकार अन्तःकरण मे करुणा का प्रवाह देखकर हम जान पाते है कि अमुक व्यक्ति में सत्य की जिज्ञासा है। उसे सत्य का कुछ साक्षात् हुआ है और उसका दृष्टिकोण समीचीन है। क्रूरता का विसर्जन किए बिना कोई भी आदमी सत्य की दिशा मे गतिशील नही हो सकता। इस अनुभूति की तीव्रता के द्वारा मनुष्य मे करुणा का संस्कार सुदृढ़ हो जाता है।

आचार्य की अभ्यर्थना है, 'प्रभो ! दु.ख पाने वाले प्राणियो के प्रति मेरे मन मे करुणा की भावना जागे।' आदमी मे क्रूरता होती है, निर्दयता होती है। उसमे दूसरो के प्रति सहानुभूति की भावना नही रहती। मुझे आश्चर्य होता है जब मैं देखता हूं कि आदमी धार्मिक भी है और क्रूर भी है। धार्मिकता और क्रूरता—दोनो साथ-साथ नही चल सकती। अनेक धार्मिक कहलाने वालो को इतना क्रूर देखा है कि उनको धार्मिक कहने मे हिचक होती है। वह छोटो के साथ क्रूर व्यवहार करने मे ही अपना बड़प्पन मानते है।

नैतिकता का आधार—करुणा

कल ही एक भाई ने पूछा था—नैतिकता का आधार क्या है ? नैतिकता का आधार है—करुणा। हमारी दो वृत्तिया है—एक है क्रूरता की वृत्ति और दूसरी है करुणा की वृत्ति। करुणा का सम्बन्ध है सवेदनशीलता से। मनुष्य जितना सवेदनशील होता है, उतनी करुणा उसमे जागती जाती है। मनुष्य जितना असवेदनशील होता है, उतनी ही क्रूरता बढती जाती है।

मेरे सामने एक प्रश्न आया कि क्या ध्यान के अभ्यास के द्वारा पुलिस-कर्मियों को पराक्रमहीन एवं शौर्यहीन बनाना चाहते है ? मुझे बडा आश्चर्य हुआ। मैं पूछना चाहता हूं, क्या शौर्य और क्रूरता एक ही है ? नही, दोनों मे बहुत बडा अन्तर है। शौर्य भिन्न वस्तु है और क्रूरता भिन्न वस्तु है। रात और दिन मे जितना अन्तर है उससे भी अधिक अन्तर है क्रूरता और शौर्य मे। शौर्य पराक्रम है। उसे न्यून करने की बात ही प्राप्त नही होती। पराक्रम को बढ़ाया जा सकता है। उसका विकास किया जा सकता है। उसका विकास वांछनीय है। क्रूरता अमानवीय दृष्टिकोण है, राक्षसी कार्य है। उसे कम करना जरूरी है।

एक सस्कृत कवि ने कहा है—

'विद्या विवादाय धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतत्,
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥'

विद्या विवाद के लिए, धन अहंतुष्टि के लिए और शक्ति दूसरों को पीड़ित करने के लिए–ये तीन बातें हैं। दुष्ट व्यक्ति के लिए ये तीनों प्राप्त है और सज्जन व्यक्ति के लिए ये तीनों विपरीत रूप मे होती है। उसके लिए विद्या विवाद के लिए नही, ज्ञान के लिए होती है। उसके लिए धन अहंकार का कारण न बनकर दान का कारण बनता है और शक्ति का उपयोग दूसरो को पीडित करने के लिए नही किन्तु दूसरों की रक्षा के लिए होता है। वह क्रूर नही होता। उसमे करुणा का अजस्र स्रोत बहता रहता है।

क्रूरता की समस्या : करुणा का समाधान

क्रूरता का सबसे बडा कारण है–लोभ, धनार्जन की अति आकांक्षा या संग्रह की वृत्ति। प्रश्न है कि क्या क्रूरता को मिटाया जा सकता है? क्या इसका विसर्जन किया जा सकता है? क्या इसका कोई उपाय है? हम समस्या को जानते है। हमे उसके निराकरण को भी जानना होगा। समस्या का अन्त तब तक नही होता जब तक हम उसके निराकरण का सही उपाय नही जानेंगे। समस्या है तो उसके निराकरण का उपाय भी है। उपाय वही होता है जो मूल को छूता है। सहायक कारण अनेक हो सकते हैं, पर उनसे मूल समस्या का अन्त नही होता। समस्या का अन्त तभी होता है जब सही उपाय हस्तगत हो जाता है।

रास्ते मे प्यास से व्याकुल होने पर शिवाजी के गुरु रामदास ने प्यास मिटाने के लिए खेत से एक गन्ने का टुकड़ा तोडा। तोड़ते ही किसान ने रामदास को डण्डे से पीटा। गुरु को डण्डे से पीटे जाने पर शिवाजी का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। लेकिन रामदास ने रहस्य को समझते हुए कहा–'तुम्हें बात समझ मे नही आयी। कोई गूढ़ रहस्य नही है। देखो, यह किसान गरीब है। यदि यह गरीबी से ग्रस्त नही होता तो ऐसा व्यवहार कभी नही करता। इसने गरीबी के कारण ही ऐसा व्यवहार किया है। यदि इसकी अपराध-वृत्ति को मिटाना है तो इसकी गरीबी को मिटाना होगा। इसे पांच बीघा जमीन और दे दो, फिर यह ऐसा व्यवहार कभी नही करेगा।'

यह है समस्या का समाधान और यह है समस्या का सम्यक् उपाय। हम मूल कारण की खोज नही करते और मूल कारण को खोजे बिना समस्या का भी समाधान नही हो सकता। क्रूरता की समस्या का मूल है–अमानवीय दृष्टिकोण, फिर चाहे वह लोभ के रूप मे अभिव्यक्त हो या संग्रहवृत्ति के रूप मे विकसित हो। इसको मिटाने का एक मात्र उपाय है–मानवीय दृष्टिकोण का विकास। इसे ही प्राचीन भाषा मे आत्मौपम्यदृष्टि कहा गया है। इसका अर्थ है प्रत्येक प्राणी को अपने समान समझना। आधुनिक भाषा मे यही है

मानवीय दृष्टि। इसका फलित है कि प्रत्येक व्यक्ति मे चेतना जागे कि 'सब मेरे जैसे ही मनुष्य है। हम सब एक ही है। मैं भी मनुष्य हूं। वह भी मनुष्य है। मुझे मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से देखना चाहिए।'

इस दृष्टि का विकास बहुत जरूरी है आज सामाजिक जीवन मे। जब तक इस दृष्टि का विकास नही होगा तब तक क्रूरता समाप्त नही होगी, व्यवहार नही बदलेगा। आदमी दूसरे आदमी के प्रति बहुत क्रूर व्यवहार कर लेता है। मिल मालिक मजदूर के प्रति, सेठ कर्मचारी के प्रति, अफसर अपने अधीनस्थ व्यक्तियो के प्रति क्रूर व्यवहार करता है। सर्वत्र क्रूर व्यवहार देखा जाता है। इसका कारण है—बडप्पन और छुटपन का मनोभाव। यह मान लिया गया है कि एक बडा है, एक छोटा है। बडा छोटे के प्रति क्रूर व्यवहार कर सकता है, मानो कि यह मान्यता-प्राप्त स्थिति है। यहां का आदमी पशुओ के प्रति भी क्रूर व्यवहार करता है। जिस गाय से दूध लेना है आदमी उसी को पीट देता है। ऐसा पीटता है कि गाय आगे-आगे दौडती है और आदमी उस पर लाठियां बरसाता हुआ पीछे-पीछे दौडता चला जाता है। जिस गाय से दूध लेना है उस गाय को पीटने से दूध कहां रहेगा ? दूध सूख जाएगा। दूध भी प्रेमपूर्ण व्यवहार किए बिना नही मिलता। जिन लोगो ने यह समझ लिया है कि गाय के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करने से अधिक दूध देगी, उन्होने पशुओ के रहन-सहन की सुन्दरतम व्यवस्थाए की है। उनके रहने के लिए मकान बनाये है। वहा पखे चलते है। वहा कही-कही वातानुकूलित मकान है। रेडियो बजते है। सगीत की स्वर-लहरियां थिरकती है। इस वातावरण मे रहने वाली गाये अधिक दूध देती है। जिन गायो के प्रति क्रूर व्यवहार होता है, जिनको पीटा जाता है, गालियां दी जाती है, तिरस्कार किया जाता है उनका दूध धीरे-धीरे सूख जाता है।

हर प्राणी प्रेमपूर्ण व्यवहार चाहता है। वैज्ञानिको ने वनस्पति जगत् पर प्रयोग कर यह सिद्ध कर दिया कि जिन पौधो को प्रेमपूर्ण भावना से पानी सीचा जाता है, वे पौधे अधिक विकसित होते है। जिन पौधो को उपेक्षा वृत्ति से पानी सीचा जाता है, वे कुम्हला जाते है। पानी वही है, सीचने वाला भी वही है, कोई रासायनिक परिवर्तन नही है, किन्तु भावनात्मक परिवर्तन के द्वारा एक दिशा के पौधे बढ गए और दूसरी दिशा के पौधे मुरझा गए। जिनको आवेश मे, क्रोध की स्थिति मे पानी दिया गया, वे मुरझा गये और प्रेमपूर्ण भावना से सिंचन मिलने वाले पौधे बहुत बढ गए।

हम प्राणी से काम भी लेना चाहते है और क्रूरता भी करते चले जाते है। यह प्रतिकूल आचरण है। दुनिया का नियम है कि प्रेमपूर्ण व्यवहार से दूसरे से अधिक काम लिया जा सकता है, जीवन मे सफल हुआ जा सकता

है, अधिक सहयोग लिया जा सकता है, परन्तु अभी तक मानवीय दृष्टिकोण जितना विकसित होना चाहिए उतना विकसित नही हुआ है। इसमे दोपी सभी है। हम किसी एक को दोपी नही वता सकते। एक मिल मालिक अपने मजदूरो के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है तो मजदूर भी दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करते है। एक वडा अफसर अपने अधीनस्थ छोटे अफसरों के प्रति क्रूरता का व्यवहार करता है तो वे छोटे अफसर अपने अधीनस्थ व्यक्तियो के प्रति वैसा ही व्यवहार करते है। जिस किसी के पास थोडी भी सत्ता है, शक्ति है, वह क्रूरता का व्यवहार न करे, यह नही देखा जाता। सब दोपी हैं। कोई भी दोप-मुक्त नही है। सत्ता न मिले, कुर्सी न मिले; तव तक सव ठीक है, नम्र है। जव सत्ता हस्तगत हो जाती है, फिर न जाने क्यों सारा व्यवहार वदल जाता है, नम्रता समाप्त हो जाती है, क्रूरता का व्यवहार हो जाता है, वडप्पन की भावना पनपती है और फिर वह सवको प्रतिद्विप्ट मानता है।

एक हाकिम था। उसके पास एक चारण का केस आया। हाकिम ने निर्णय सुना दिया। चारण को लगा कि न्याय नही हुआ है। वह कवि तो था ही। उसने तत्काल एक कवित्त कह सुनाया—

'सुण हाकिम संग्राम!, आंधो मत हो यार।
औरां के दो चाहिजे, थारे चाहिजे चार॥'

'हाकिम सग्रामसिंह! तुम सत्ता मे अन्वे मत वनो! सुनो, और व्यक्तियो के लिए दो आखे पर्याप्त है पर तुम न्याय की कुर्सी पर वैठे हो, तुम्हारे चार आखे चाहिए। दो आखे वाहर को देखने के लिए और दो भीतर को देखने के लिए।

जव सत्ता आती है तव आदमी अन्धा हो जाता है। वह न्याय के स्थान पर अन्याय अधिक करता है। सत्ता और शक्ति का दुरुपयोग न हो, धन और शक्ति का दुरुपयोग न हो तो मानना चाहिए कि मानवीय दृष्टिकोण का विकास हुआ है। तव समझना चाहिए कि करुणा की ज्योति, करुणा की दीपशिखा प्रज्वलित हुई है। यह होने पर ही अन्याय मिट सकता है, आदमी को आदमी समझकर न्यायपूर्ण व्यवहार हो सकता है। यह निश्चित है कि किसी के पास पैसा कम हो, किसी के पास पैसा अधिक हो, किसी के पास अधिकार अधिक हो और किसी के पास कम अधिकार हो, यह भेद वुद्धि और शक्ति के तारतम्य पर आधारित है। यह होता है। कभी ऐसा नही होता कि सवमे वुद्धि और शक्ति समान हो। तरतमता वनी रहती है। पर अन्ततः आदमी आदमी है। यदि यह तथ्य अनुभूत होता है तो आदमी की सवेदन-शीलता वढती है और तव समस्याओ का समाधान हो सकता है।

सामाजिक स्वास्थ्य का सूत्र है—करुणा। जीवन में करुणा का विकास

हो, संवेदनशीलता जागे और मनुष्य प्राणी जगत् के प्रति करुणार्द्र बना रहे। ऐसा होने पर ही क्रूरता समाप्त हो सकती है।

करुणा का अजस्र स्रोत

वर्षा ने विदा ले ली। शरद् का प्रवेश-द्वार खुल गया। हरियाली का विस्तार कम हो गया। पथ प्रशस्त हो गए। भगवान् महावीर अस्थिक-ग्राम से प्रस्थान कर मोराक सन्निवेश पहुचे। बाहर के उद्यान मे ठहरे।

उस सन्निवेश मे अच्छदक नामक तपस्वी रहते थे। वे ज्योतिष, वशीकरण, मन्त्र-तन्त्र आदि विद्याओ मे कुशल थे। एक अच्छदक की वहा बहुत प्रसिद्धि थी। जनता उसके चमत्कारों मे बहुत प्रभावित थी।

उद्यानपालक ने देखा कोई तपस्वी ध्यान किए खडा है। उसने दूसरे दिन फिर देखा कि तपस्वी वैसे ही खडा है तो उसके मन में श्रद्धा जाग गई। उसने सन्निवेश मे लोगो को सूचना दी। लोग आने लगे। भगवान् ने ध्यान और मौन का क्रम नही तोडा। फिर भी लोग आते और कुछ समय उपासना कर चले जाते। वे भगवान् की ध्यान-मुद्रा पर मुग्ध हो गए। भगवान् की सन्निधि उनके शान्ति का स्रोत बन गई।

सन्निवेश की जनता का झुकाव भगवान् की ओर देख अच्छदक विचलित हो उठा। उसने भगवान् को पराजित करने का उपाय सोचा। वह अपने समर्थको को साथ ले भगवान् के सामने उपस्थित हो गया।

भगवान् आत्म-दर्शन की उस गहराई मे निमग्न थे, जहां जय-पराजय का अस्तित्व ही नही है। अच्छदक तपस्वी का मन जय-पराजय के झूले मे झूल रहा था। वह बोला, 'तरुण तपस्वी! मौन क्यो खडे हो? यदि तुम ज्ञानी हो तो मेरे प्रश्न का उत्तर दो। मेरे हाथ मे यह तिनका है। यह अभी टूटेगा या नही टूटेगा?' इतना कहने पर भी भगवान् का ध्यान भग नही हुआ।

सिद्धार्थ भगवान् का भक्त था। वह कुछ दिनो से भगवान् की सन्निधि मे रह रहा था। अतिशय ज्ञानी था। उसने कहा, 'अच्छदक! इतने सीधे प्रश्न का उत्तर पाने के लिए भगवान् का ध्यान भग करने की क्या आवश्यकता है? इसका सीधा-सा उत्तर है। वह मै ही बता देता हू। यह तिनका जड है। इसमे अपना कर्तृत्व नही है। अत. तुम इसे तोडना चाहो तो टूट जाएगा और नही चाहो तो नही टूटेगा।' उपस्थित जनता ने कहा, 'अच्छदक इतनी सीधी-सरल बात को भी नही जानता तब गूढ तत्त्व को क्या जानता होगा?' जन-मानस मे उसके आदर की प्रतिमा खडित हो गई। साथ-साथ उसके चिन्तन की प्रतिमा भी खडित हो गई। उसने सोचा था—महावीर कहेंगे कि तिनका टूट जाएगा तो मैं इसे नही तोडूगा और वे कहेगे कि नहीं

टूटेगा तो मैं इसे तोड दूगा। दोनों ओर उनकी पराजय होगी। किन्तु जो महावीर को पराजित करने चला था, वह जनता की संसद मे स्वयं पराजित हो गया।

अच्छंदक अवसर की खोज में था। एक दिन उसने देखा, भगवान् अकेले खड़े है। वह भगवान् के निकट आकर बोला 'भंते! आप सर्वत्र पूज्य हैं। आपका व्यक्तित्व विशाल है। मैं जानता हूं महान् व्यक्ति क्षुद्र व्यक्तियों को ढांकने के लिए अवतरित नही होते। मुझे आशा है कि भगवान् मेरी भावना का सम्मान करेगे।

इधर अच्छंदक अपने गाव की ओर लौटा, उधर भगवान् वाचाला की ओर चल पड़े। उनकी करुणा ने उन्हे एक क्षण भी वहां रुकने की स्वीकृति नही दी।

भगवान् महावीर करुणा के अजस्र स्रोत थे।

उपेक्षा भावना

अनुकूल और प्रतिकूल—दोनो ही स्थितियो मे सर्वत्र सम रहना 'उपेक्षा' है। साधक को न पदार्थों से जुडना है और न बिछुडना है। पदार्थ पदार्थ है। उसमे राग-द्वेष नही है। राग-द्वेष है अपने भीतर। जब आदमी किसी से जुडता है तो राग और बिछुडता या घृणा करता है तो द्वेष आता है। साधक को जहा कही भी राग और द्वेष दिखाई दे, तत्काल उनकी उपेक्षा कर अपने भीतर चला जाये। यह जैसे पदार्थो के साथ होता है, वैसे व्यक्ति के व्यक्तित्व, रूप, विशिष्ट कौशल आदि पर भी होता है। भिक्षु वक्कलि बुद्ध के रूप पर इतना मुग्ध हो गया, बस, उसे ही निहारता रहता। बुद्ध ने कहा—क्या है वक्कलि मेरे इस शरीर मे ? जैसा हाड़, मास, रक्त आदि तुम्हारे शरीर मे है, वैसा ही इसमे है। रूप को देखना है, तो बुद्ध के धर्म-कार्य का रूप देखो। जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है। यह भी बन्धन है। आनन्द बुद्ध से बधे रहे। गौतम महावीर से बधे रहे। बन्धन का मार्ग सरल है। मनुष्य बन्धन-प्रिय है। पर वह बन्धन छोडता है तो दूसरा कही न कही जोड लेता है। उपेक्षा करना कठिन है। उपेक्षा भावना का साधक कही किसी भी जड़ और चेतन के साथ बधता नही। वह आने वाले समस्त बन्धनो की उपेक्षा कर तटस्थ भाव से अपने ध्येय मे गति करता रहता है।

अब्राहम लिंकन राष्ट्रपति बने। ससद मे भाषण देने जब खडे हुए तब किसी ने व्यंग्य कसा। कहा—आपको याद है, आप चमार के लड़के है। लिंकन ने कहा—धन्यवाद, आपने पिता का स्मरण दिलाया और आगे आपसे कहना चाहता हूं, मेरे पिताजी कुशल चमार थे। मैं इतना कुशल राष्ट्रपति नही बन सकूगा। दूसरी बार फिर कहा—वे जूते बनाते थे। लिंकन बिलकुल उत्तेजित नही हुए। उसी तटस्थ भाव से कहा—'हा, किन्तु किसी ने भी कोई शिकायत नही की। क्या आपको कोई शिकायत है ?'

साधक जब उपेक्षा भावना मे निष्णात हो जाता है तब हर्ष और विषाद, सुख और दुःख, सम्मान और अपमान आदि द्वन्द्व सहजतया क्षीण होते चले जाते है।

मध्यस्थ भाव की इसीलिए आचार्य ने अभ्यर्थना की है—प्रभो! जो मेरी निंदा करते है, अवज्ञा करते है, मुझसे विपरीत व्यवहार करते है, मेरी बात नही मानते, उन सबके प्रति मेरे मन मे मध्यस्थता का भाव जागे। मैं

उनके इन विपरीत आचरणो के प्रति उदासीन रहूं। उनके प्रति अन्यथा भाव न आए। मै यही सोचू कि मैंने अपना काम कर लिया। वे सव अपना काम करते है, मुझे क्या !

आचार्य सोमदेव ने लिखा है—**समता परमं आचरणम्।** आचार का सवसे वडा सूत्र है—समता, साम्यभाव, समानता। यह केवल समाजवाद या साम्यवाद का ही सूत्र नही है। यह हर चिंतन की अच्छाई का सूत्र है कि जहां समतापूर्ण मन:स्थिति होती है, वहा ममाज का विकास होता है और जहा समाज की आचारधारा मे विपमता होती है, वहा समाज का पतन होता है। आचार के परिष्कार का अर्थ है—समता का विकास।

तटस्थता कैसे ?

पूछा गया, तटस्थता कैसे सभव हो सकती है ? मैंने कहा—तटस्थता इन्द्रिय-संवर के द्वारा फलित होती है। जिस व्यक्ति ने इन्द्रिय-सवर साध लिया, वह तटस्थ हो जाता है। जव मन से प्रियता और अप्रियता का भाव समाप्त हो जाता है, तव पदार्थ पदार्थ मात्र रह जाता है, प्राणी प्राणी मात्र रह जाता है। हम कह देते है, अच्छी वस्तु के साथ हमारी प्रियता जुडती है और वुरी वस्तु के साथ हमारी अप्रियता जुडती है। यह भ्रान्ति है। वस्तु रुचिकर लगती है प्रियता के कारण, वस्तु अरुचिकर लगती है अप्रियता के कारण। प्रियता और अप्रियता के संस्कार धुल जाने पर वस्तु वस्तु रहती है, पदार्थ पदार्थ रहता है। क्या यह संभव है कि प्रियता और अप्रियता का भाव समाप्त हो जाए ? वहुत सभव है। यदि हम प्रायोगिक जीवन जीएं तो ऐसा संभव है कि पदार्थ है, प्राणी है, किन्तु प्रियता और अप्रियता का संस्कार समाप्त। प्रश्न होता है—क्या आखो और कानो को वंद रखें ? क्या इन्द्रियों के दरवाजो को वद रखे ? जिससे कि यह स्थिति वन जाए। इन्द्रियो के दरवाजो को दीर्घकाल तक वंद नही रखा जा सकता। जीवन की लंवी अवधि में, इस दीर्घकालीन यात्रा मे यह कभी संभव नही है कि आदमी आख वंद कर वैठ जाए, कानो के पडदे फाड़ दे। यह कभी सभव नही है। इन्द्रियों के द्वार खुले रहेगे। द्वार खुले रहेगे, पानी आयेगा पर गंदगी नही आएगी। इन्द्रियो का काम है जागना, संवेदन करना, ज्ञान करना। लोगों ने भ्रान्तिवश यह मान लिया है कि इन्द्रियो का काम है—राग-द्वेप करना, प्रियता और अप्रियता करना। यह काम इन्द्रियों का काम नही है। आंख का काम मूर्च्छित होना नही है। आख का काम प्रियता-अप्रियता पैदा करना नही है। आख तो ज्ञान की एक धारा है, चैतन्य की एक धारा है। इसमे कैसी प्रियता और कैसी अप्रियता ! ज्ञान और मूर्च्छा के योग को हमने एक मान लिया, यह वहुत वडी भ्रान्ति हो गई। ज्ञान की धारा भिन्न है। मूर्च्छा की धारा भिन्न

है। राग और द्वेष की धारा ज्ञान-धारा के साथ जुड़ जाती है और हम दोनो को एक मानकर प्रियता और अप्रियता के भ्रम मे फंस जाते है।

जब यह भ्रान्ति टूटती है, हमे अपने चैतन्य का अनुभव होता है, तब इन्द्रिय-संवर सहज घटित हो सकता है। बेचारा हरिण दौड रहा है मृग-मरीचिका के पीछे। सूरज की किरणे ताल मे पडती है। मृग को लगता है कि वहा पानी लहलहा रहा है। वह पानी पीने दौडता है। निकट जाने पर वहा पानी नही मिलता। वहा से देखने पर आगे पानी दीखता है। वहा जाता है, पर पानी नही मिलता। वह इस दौडधूप मे ही प्राण गवा बैठता है।

विवेक की निष्पत्ति—तटस्थता

अस्तित्व की झलक का पहला फल है—विवेक। हमारी चेतना के जागरण की पहली भूमिका है—विवेक। विवेक की निष्पत्ति है—तटस्थता। यह चेतना के जागरण की दूसरी भूमिका है। तटस्थता अर्थात् उपेक्षा। उपेक्षा के दो अर्थ है—ध्यान न देना और निकटता से देखना। उप+ईक्षा= उपेक्षा। जो तटस्थ होता है वही निकटता से देख सकता है। पक्षपात मे रहने वाला निकटता से नही देख सकता। वह प्रिय के प्रति अनुरक्त होगा और अप्रिय के प्रति द्विष्ट होगा। वह एक के प्रति राग करेगा और दूसरे के प्रति द्वेष करेगा। जिसमे झुकाव होता है वह सही अर्थ मे निकटता से नही देख सकता। वह दूर से ही देखता है। न प्रिय को ठीक से समझ सकता है और न अप्रिय को ठीक से समझ सकता है।

उपेक्षा का एक अर्थ है—ध्यान न देना, अवगणना करना। जो तटस्थ हो जाता है, उसके सामने प्रिय भी आता है, अप्रिय भी आता है किन्तु वह दोनो की उपेक्षा कर, अवगणना कर आगे बढ जाता है। उपेक्षा का फल है—समता।

विवेक का फल है—तटस्थता। तटस्थता का फल है—उपेक्षा। उपेक्षा का फल है—समता।

अतीत को क्षीण करने का एकमात्र उपाय है—द्रष्टाभाव का विकास। जिस व्यक्ति ने अपने द्रष्टाभाव को विकसित कर लिया उसने अतीत से अपना पिंड छुडा लिया। जिसने द्रष्टाभाव का विकास नही किया, उसे अतीत भूत की भाति सताता रहता है। जब वह ध्यान करने बैठता है तब हजारो प्रकार की वासनाए उभर आती है। व्यक्ति निराश हो जाता है। सोचता है—ध्यान मेरे वश की बात नही है। ध्यान मन की शाति के लिए करता हूं किन्तु ध्यान करने के लिये बैठते ही मन अशात हो जाता है। वह निराश व्यक्ति ध्यान को छोड देता है। जब तक द्रष्टाभाव का विकास नही होता तब तक स्थिति मे परिवर्तन नही हो सकता। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से

द्रष्टाभाव विकसित होता है। प्रेक्षाध्यान से वह सुस्थिर होता है। हमारी चेतना की ऐसी अवस्था निर्मित हो जाती है कि जो कुछ घटित होता है वह देख जाता है, प्रतिक्रिया नही होती। साधक मात्र द्रष्टा रहे, प्रतिक्रिया न करे। द्रष्टाभाव का विकास होते ही प्रतिक्रियाएं पीछे रह जाती है।

प्रेक्षा ही तटस्थता

मध्यस्थता या तटस्थता प्रेक्षा का ही दूसरा रूप है। जो देखता है वह सम रहता है। वह प्रिय के प्रति राग-रजित नही होता और अप्रिय के प्रति द्वेपपूर्ण नही होता। वह प्रिय और अप्रिय दोनो की उपेक्षा करता है—दोनो को निकटता से देखता है इसलिए वह उनके प्रति सम, मध्यस्थ या तटस्थ रह सकता है। उपेक्षा या मध्यस्थता को प्रेक्षा से पृथक् नही किया जा सकता। जो इस महान् लोक की उपेक्षा करता है, उसे निकटता से देखता है, वह अप्रमत्त विहार कर सकता है।

चक्षु दृश्य को देखता है, पर उसे न निर्मित करता है और न उसका फल-भोग करता है। वह अकारक और अवेदक है। इसी प्रकार चैतन्य भी अकारक और अवेदक है। ज्ञानी जब केवल जानता या देखता है तब न वह कर्मबंध करता है और न विपाक मे आए हुए कर्म का वेदन करता है। जिसे केवल जानने या देखने का अभ्यास उपलब्ध हो जाता है वह व्याधि या अन्य आगन्तुक कष्ट को देख लेता है, जान लेता है पर उसके साथ तादात्म्य का अनुभव नही करता। इस वेदना की प्रेक्षा से कष्ट की अनुभूति ही कम नही होती किन्तु कर्म के बंध, सत्ता, उदय और निर्जरा को देखने की क्षमता भी विकसित हो जाती है।

प्रश्न होता है कि किसे देखें ? क्या देखें ? अच्छा-बुरा जो भी आए उसे देखे। क्रोध आए तो उसे भी देखो। मान आए तो उसे भी देखो। वास्तव मे जो क्रोध को देखता है, वही मान को देखता है। क्रोध हमारी सबसे स्थूल वृत्ति है। यह सबके समक्ष प्रत्यक्ष होती है। मान छिपा रहता है। प्रकट कम होता है। क्रोध तत्काल प्रकट हो जाता है। क्रोध को देखो, मान को देखो। इसका पूरा चक्र है। देखते-देखते दु:ख तक चले जाओ। दु:ख को देखना प्रारम्भ करो। उपायों को देखो, हेतुओं को देखो। आतक को देखो। परिणाम को देखो। क्रोध का परिणाम है—दु:ख। दु:ख को देखो। सुख को भी देखो। सुख के सवेदनों को देखो। दु:ख के स्पदनो को देखो। जो भी अच्छा या बुरा हो, उसे देखो। श्वास को देखो। शरीर को देखो। समत्व को देखो। तटस्थता को देखो। अन्यदर्शी को देखो। उसको देखो जहा दूसरा कोई नही है। चेतना के उस शुद्ध स्वभाव को देखो जहा जानने-देखने के सिवाय कुछ भी नही है। वही परम दर्शन है। उसके

आगे कुछ भी नही है। देखने मे यह भेदरेखा मत खीचो कि इसे देखूगा और उसे नही देखूगा। अच्छे को देखूगा। बुरे को नही देखूगा। देखने के क्षेत्र मे अच्छा या बुरा कुछ भी नही होता। ये विकल्प होते है—सोचने-विचारने के क्षेत्र मे। जो भी आए देखते रहो। देखते-देखते वह विन्दु आ जाएगा जहां आगे देखना शेप नही है। परम आ जाएगा। वहा हमारी यात्रा की सम्पन्नता होगी, अनन्य आ जाएगा। तव हम अपने शुद्ध चैतन्य के अनुभव मे, ज्ञान और दर्शन की समग्रता मे पहुच जाएगे। वहा केवल जानना देखना ही रहेगा और सव समाप्त। यह यात्रा का अन्तिम विन्दु है।

समत्व की दूसरी अवस्था है—तटस्थता

समत्व का अर्थ है तटस्थता। तुम तटस्थ रहो। एक ओर मत झुको। इस संसार मे कभी कुछ अप्रिय घटित होता है और कभी कुछ प्रिय घटित होता है। कभी वह घटित होता है जो हम चाहते है और कभी वह घटित होता है जो हम नही चाहते। चाहा भी घटित होता है, अनचाहा भी घटित होता है। अव यदि इसके साथ हमारे मन का चक्का भी घूमता रहेगा तो इतनी उलझनें वढ जाएगी कि अन्तत· आत्म-हत्या के सिवाय कोई विकल्प नही वचेगा। एक आदमी का जव मनचाहा होता है तव वह अत्यन्त प्रसन्न रहता है। जव वह देखता है कि विश्व के इस क्षितिज पर अनचाहा भी घटित हो रहा है तव उसका मन उलझनो से भर जाता है। इन उलझनो से पार जाने के लिए वह आत्म-हत्या को कारगर मान वैठता है।

एक सुन्दरी है। फिल्म अभिनेत्री या नर्तकी है। वह अभी यौवन की दहलीज पर है। राष्ट्र या विश्व मे उसका सम्मान होता है। वह विश्व-प्रसिद्ध हो जाती है। उसकी अवस्था वदलती है। वह यौवन को पार कर वृद्धावस्था की ओर वढती है। अब उसे लगता है कि उसे कम सम्मान मिल रहा है। उसका आकर्षण कम हो गया है। जो प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि प्राप्त थी, वह धीरे-धीरे कम हो रही है। लोगो मे जो प्रियता थी, वह कम हो रही है, तव वह सुन्दरी सन्तुलन खो वैठती है और अपने जीवन को समाप्त करने पर तुल जाती है। इस प्रकार अनेक महिलाओ ने आत्म-हत्या कर अपनी जीवन-लीला समाप्त की है। ऐसा क्यो होता है? यह इसलिए नही होता है कि पहले जो सम्मान प्राप्त था वह आज नही है, जो प्रियता या आकर्षण था वह आज नही है। किन्तु यह इसलिए घटित होता है कि मन के साथ एक रागात्मक भाव जुडा था, उसकी अव पूर्ति नही हो पाती। ऐसी स्थिति मे मन को इतनी गहरी ठेस लगती है कि व्यक्ति तिलमिला उठता है, वह अपने आप को सभाल नही पाता।

एक व्यक्ति के पास करोडों की सपत्ति है। क्या उसके लिए इतनी

संपत्ति उपयोगी है ? नही। वह उस संपत्ति को भूमि मे गाड़कर रखेगा। क्या उसका कोई उपयोग है ? फिर भी मन मे एक रागात्मक भाव जुडा हुआ है कि यह मेरा है। यह मेरी संपत्ति है। यह भाव उसे संतोप दे रहा है। उससे मानसिक संतोप मिलता है, मानसिक तृप्ति मिलती है। जिस दिन संपत्ति चली जाती है या उस पर रहा हुआ स्वामित्व छूट जाता है, तव आदमी अस्त-व्यस्त, आकुल-व्याकुल हो जाता है। स्वामित्व छूटने मे क्या अंतर पड़ा ? कोई भी अन्तर नही पडा। वह संपत्ति तो वही की वही पड़ी है। वैसी की वैसी है। केवल स्वामी वदला है। किन्तु मन का वह धागा टूट गया है। अव वह एकात मे या जगल मे जाकर रहने की सोचता है। देश को छोड़ देने की वात मोचता है या शरीर को छोड देने की वात सोचता है। यह सव इसलिए होता है कि व्यक्ति मे तटस्थता नही है। जव व्यक्ति तटस्थ नही होता तव वह प्रत्येक परिस्थिति के साथ अपने आपको जोड़ देता है। वह मन को परिस्थिति से अलग नही रख पाता। जव समत्व की अवस्था जागती है तव तटस्थता भी जाग जाती है। जो व्यक्ति तटस्थ होता है, वह लाभ-अलाभ, जो भी घटित होता है उसे जान लेता है, उसे देख लेता है, पर उसमे लिप्त नही होता। अपने को उसके साथ नही जोडता। जान लेता है, भोगता नहीं। जानने वाला न दु:खी होता है और न सुखी होता है। भोगने वाला दु:खी भी होता है और सुखी भी होता है। दोनो भार उसे उठाने पड़ते हैं। समत्व की दूसरी अवस्था है— तटस्थता।

तटस्थता का फलित— मानसिक स्वास्थ्य

मानसिक स्वास्थ्य की एक कसौटी है। जो व्यक्ति मन से स्वस्थ होता है वह अच्छा व्यवहार करने वाले के प्रति अच्छा व्यवहार करता है और उस व्यक्ति के प्रति भी अच्छा व्यवहार करता है जो प्रतिकूल व्यवहार करता है। अच्छे के प्रति अच्छा और बुरे के प्रति भी अच्छा। वह ऐसा इसलिए करता है कि यदि सामने वाला व्यक्ति मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ है तो क्या वह भी अस्वस्थ हो जाए ? वमन करने वाले को देखकर क्या स्वयं भी वमन करने लग जाए ? मन की स्वस्थता रखने वाला व्यक्ति ऐसा नही कर सकता। प्रतिकूल व्यवहार वही व्यक्ति करता है जो मन से दुर्वल है, मन से अस्वस्थ है। जिन व्यक्तियो ने इस सूत्र का विकास किया है कि 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' ईंट का जवाव पत्थर से—' वे व्यक्ति वास्तव मे ही मन से रोगी थे। यदि वे स्वस्थ होते तो इस प्रकार के सूत्रों का प्रतिपादन नही होता। आवश्यकता यह है कि सामने वाला व्यक्ति यदि मन से दुर्वल है, अस्वस्थ है तो तुम अपने मानसिक स्वास्थ्य का परिचय दो और उसे यह समझने का अवसर दो कि तुम अपने मन से रुग्ण नही हो, मन से स्वस्थ हो।

किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनुरक्त होने और उससे भिन्न वस्तु या व्यक्ति के प्रति द्विष्ट होने का अर्थ पक्षपात है। पक्षपात यानी विषमता। राग और द्वेष से होने वाले अन्याय के परिणामो को समझे विना क्या कोई भी व्यक्ति मानसिक झुकाव से वच सकता है ?

कोई व्यक्ति उन्मार्ग की ओर जा रहा है। उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना कर्त्तव्य है, किन्तु बल-प्रयोग के द्वारा उस कर्त्तव्य की पालना नही हो सकती। हृदय परिवर्तन का प्रयत्न करने पर भी यदि सामने वाला व्यक्ति उन्मार्ग से विमुख नही होता है तो उसके लिए प्रतीक्षा ही की जा सकती है किन्तु क्रोध करके अपने मन को धूमिल और परिस्थिति को जटिल वनाना समुचित नही हो सकता। उलझन-भरी परिस्थिति व वातावरण मे अपने मानसिक सतुलन को बनाए रखने का अभ्यास करने, न्याय के प्रति दृढ निष्ठा होने तथा हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त मे आस्था होने से मध्यस्थता का सस्कार सुस्थिर होता है। भगवान् महावीर ने कहा—**'उवेहमाणो अणुवेहमाणं बुया उवेहाहि समियाए'** —मध्यस्थभाव रखने वाला व्यक्ति मध्यस्थभाव न रखने वाले से कहे —'तुम सत्य के लिए मध्यस्थ भाव का आलम्बन लो।'

अनुप्रेक्षा

कर्त्तव्यनिष्ठा अनुप्रेक्षा

कर्त्तव्यनिष्ठा सदाचार की प्रेरक शक्ति है। अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक व्यक्ति अकरणीय कर्म से विरत रहता है। जब कभी उसके चरण प्रमाद की ओर बढते है, कर्त्तव्य की प्रेरणा उसे वापस मोड़ देती है और वह सत्सकल्प कर लेता है।

मानवीय एकता का संघाटक ही कर्त्तव्य हो सकता है। उसकी प्रेरणा समानता है। जाति, रग, भाषा और राष्ट्रीयता की भिन्नता मे भी मानवीय अभिन्नता है। उसे गौण करने का मुख्य हेतु है व्यक्तिगत आकाक्षा और अहम्। अपनी समृद्धि और बड़प्पन मे जो रस है, वह एक सीमा तक न्याय-संगत हो सकता है। किन्तु जब वह दूसरो को संकट मे डालने लगता है तब सर्वमान्य न्याय-सगत धरातल के नीचे उतर जाता है।

अध्यात्म और व्यवहार

अध्यात्म के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार और व्यवहार के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार भिन्न होता है। व्यवहार से मुक्त कोई भी नही हो सकता। जो शरीरधारी है वह व्यवहार करता है। व्यवहार के बिना वह जी नही सकता, उसका जीवन चल नही सकता। किन्तु दोनो का व्यवहार बहुत भिन्न होता है। आचाराग सूत्र का कथन है कि आध्यात्मिक व्यक्ति को अन्यथा व्यवहार करना चाहिए। व्यवहार की भूमिका पर जीने वाला जैसा व्यवहार करता है, वैसा व्यवहार अध्यात्म की भूमिका पर जीने वाले को नही करना चाहिए, किन्तु उसे भिन्न प्रकार से व्यवहार करना चाहिए, अन्यथा व्यवहार करना चाहिए।

हम 'अन्यथा' शब्द को समझे, इसके तात्पर्य को समझे। व्यावहारिक व्यक्ति का व्यवहार क्रियात्मक नही होता, वह प्रतिक्रियात्मक होता है। वह सोचता है, उसने मेरे प्रति ऐसा व्यवहार किया है तो मैं भी उसके प्रति ऐसा ही व्यवहार करू। यह क्रियात्मक व्यवहार नही, प्रतिक्रियात्मक व्यवहार है। ऐसे व्यक्ति मे कर्त्तव्य की स्वतत्र प्रेरणा नही होती और कर्त्तव्य का स्वतत्र मूल्य भी नही होता। उसका कर्त्तव्य स्व-सकल्प से प्रेरित नही होता, वह होता है दूसरो से प्रेरित। वर्तमान के आचार-शास्त्रियो और दार्शनिको ने आचार के मूल्य की मीमासा मे इस प्रश्न पर बहुत चर्चा की है कि हमारे कर्त्तव्य की प्रेरणा और हमारे कर्त्तव्य का स्वरूप क्या होना चाहिए? प्रसिद्ध दार्शनिक

कांट ने कहा—'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य होना चाहिए, न दया के लिए, न अनुकम्पा के लिए और न दूसरों का भला करने के लिए। ये सब नैतिक कर्म के हामी नहीं है और उससे सम्बद्ध भी नही हैं। केवल मनुष्य का स्वतंत्र संकल्प उसका स्वलक्ष्य मूल्य है। इसीलिए कर्त्तव्य के लिए ही हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए।'

कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य की यह बात बहुत ही मूल्यवान् है। यह क्रियात्मक बात है, प्रतिक्रियात्मक नही। कोई व्यक्ति दया का पात्र है, उस पर कोई दया करता है तो यह कोई स्वतंत्र क्रिया नही है। यह प्रतिक्रिया है। मै पर को आत्मा के समान समझता हूं और उसके साथ मैत्री का व्यवहार करता हूं, यह स्वतंत्र कर्त्तव्य है, स्वतंत्र मूल्य है, क्रियात्मक कार्य है।

कर्त्तव्य-बोध

रचनात्मक दृष्टिकोण का दूसरा सूत्र है कर्त्तव्य-बोध। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का बोध होना चाहिए। जिस समाज मे कर्त्तव्य-बोध नही होता, वहा ध्वंश शुरू हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना कर्त्तव्य होता है, दायित्व होता है। जहां कर्त्तव्य-बोध और दायित्व-बोध होता है, वह समाज स्वस्थ होता है।

कर्त्तव्य और दायित्व-बोध

सामाजिक स्वास्थ्य के लिए बहुत जरूरी होता है कर्त्तव्य-बोध और दायित्व-बोध, कर्त्तव्य की चेतना का जागरण और दायित्व की चेतना का जागरण। आखिर दंड और यंत्रणा से कब तक कार्य चलेगा? क्या पूरे जीवन-काल तक आदमी नियंत्रण से रहेगा? क्या यह भय निरंतर सबके सिर पर सवार ही रहेगा? भयभीत समाज सदा रोग-ग्रस्त रहता है, वह कभी स्वस्थ नही हो सकता। भय सबसे बड़ी बीमारी है। भय तब होता है जब दायित्व और कर्त्तव्य की चेतना नही जागती। जिस समाज मे कर्त्तव्य और दायित्व की चेतना जाग जाती है उसे डरने की जरूरत नही होती।

जिन लोगो मे दायित्व की चेतना जागृत हो जाती है, वे व्यक्ति उन बातो से ऊपर उठ जाते हैं। वे अपने चरित्र का निर्माण दायित्व के आधार पर करते है। जिन्हे दायित्व की अनुभूति हो जाती है, उन्हें दायित्व सोंपकर बदलने का प्रयत्न किया जाता है। लोग तो सोचते है कि यह व्यक्ति उसके योग्य नही था, फिर इस पर यह दायित्व क्यो डाला गया? किन्तु मैं यह अनुभव करता हूं कि दायित्व डालने पर उस व्यक्ति मे सचमुच परिवर्तन आ जाता है। परन्तु दायित्व की अनुभूति अवश्य होनी चाहिए। ऐसा व्यक्ति जिसे दायित्व का अनुभव न हो, उसमे भी परिवर्तन आने लग जाता है। चरित्र-निर्माण की दूसरी श्रेणी का हेतु है—दायित्व-बोध।

युवक का कर्त्तव्य-बोध

हम धर्म की बात सोचते हैं तो वह देशातीत और कालातीत बात होती है। उसमे देश और काल की कोई मर्यादा नही होती। न कोई बालक, न कोई बूढा और न कोई युवक। किन्तु जहां व्यवहार की क्रियान्विति का प्रश्न होता है, वहां देश को भी मानना होता है और काल को भी मानना होता है। उन दोनों से हटकर हम व्यवहार को नही चला सकते, कोई भी क्रियान्विति नही कर सकते।

युवक शब्द भी एक काल की संज्ञा को सूचित करता है। यौवन दो अवस्थाओं के बीच एक शक्ति की अवस्था है। बालक में क्षमताएं होती हैं किन्तु विकसित नही होती, क्योंकि उसका शरीर-तंत्र समर्थ नही होता। बूढ़े मे शरीर-तंत्र और क्षमताएं दोनों विकासातीत हो जाती हैं, विकास से परे चलने लग जाती हैं। उसके शरीर की बहुत सारी कोशिकाएं, मस्तिष्क की बहुत सारी कोशिकाएं खप चुकती है और शरीर का तंत्र शिथिल हो जाता है। उसमे अनुभव होते हुए भी कार्य-क्षमता समाप्त हो जाती है। इन दोनों के बीच की अवस्था है—यौवन। युवा दोनो के बीच मे है। उसमें शरीर की क्षमता भी है और क्रियान्विति की क्षमता भी है। इसीलिए युवक एक शक्ति का या शक्ति की अभिव्यक्ति का स्रोत होता है। इसलिए युवक से बहुत आशाएं होती है। कोई भी देश, कोई भी समाज, कार्य-क्षमता का जहां प्रश्न है, वहां युवकों को आगे रखता है। चाहे देश-रक्षा का कार्य हो, चाहे समाज-सेवा का कार्य हो, चाहे और कोई दूसरा, तीसरा, चौथा कार्य हो, युवक की अपेक्षा होती है। किन्तु आप जानते हैं कि युवक के लिए भी बहुत कठिनाई है। कठिनाई इसलिए कि एक ओर उसके शरीर के सारे उपकरण बहुत सक्रिय होते हैं। रक्त भी बहुत तेज बहता है। दूसरी ओर दुनिया का वातावरण उसके प्रतिकूल भी हो सकता है और होता भी है। उन दोनो मे सामंजस्य स्थापित करना, दोनो के साथ संगति जुटा लेना बहुत कठिन बात है और यही संघर्ष आज सारी दुनिया मे चल रहा है। आज के साहित्य का एक शब्द है—**'भोगा हुआ यथार्थ।'** हमे केवल कल्पना के जीवन मे नही जीना है। युवक मे बहुत कल्पनाएं उभरती हैं। उसका घरेलू पक्ष उसके अभिभावको के हाथ मे होता है। समाज का क्षेत्र कुछ पुराने कार्यकर्त्ताओं के हाथ मे होता है तो युवक के लिए कल्पना करने का बहुत अवकाश रहता है। किन्तु आप निश्चित मानिए कि कल्पना तब तक अर्थवान् नही होती जब तक कि 'भोगे हुए यथार्थ' पर हम नही चल पाते। हमारा जीवन यथार्थ का होना चाहिए। हमारे पैरों के तले क्या है, इस बात का भी हमे बोध होना चाहिए।

मूल बात है कि हम किस भूमि पर चल रहे हैं। हमारे पैरो के नीचे

क्या है ? हमारी भूमिका क्या है ? हमारी कल्पनाएं तव तक अर्थवान् नही होती, मूल्यवान् नही होती जव तक कि हमे यथार्थ का वोध नहीं होता, अपने ही पैरो के नीचे की भूमि का वोध नही होता। वोध होना वहुत जरूरी है। यथार्थ पर चले विना कोई भी आदमी आगे नही वढ़ सकता। उसके लिए गड्ढे वहुत है। दुनिया मे इतने गड्ढे है कि पग-पग पर उसमें गिर पड़ने की संभावना वनी रहती है। गड्ढों को पार कर वही आगे वढ़ सकता है जो अथार्थ की आंख से अपने पैरों के नीचे धरातल को देखकर चलता है। आज युवको को भी यह सोचना है कि उनके पैरो के नीचे धरातल क्या है ? आज की सामाजिक परिस्थिति, आज की राजनैतिक परिस्थिति और आज की धार्मिक परिस्थिति—तीनो परिस्थितियां हमारे सामने है। आप भी जानते है कि दुनिया का जो वातावरण होता है, वह उसके सन्दर्भ में जीता है और उससे लेता है। कोई भी उससे वच नही सकता। जो व्यक्ति व्यवहार में चलता है, वह स्वयं अपनी क्रिया से प्रतिक्रिया को प्राप्त होता है और दूसरे को प्रतिक्रिया देता है। वह प्रभावित होता है और प्रभावित करता है। अलग कोई नही रह सकता। हम प्रभावों को ग्रहण करते हैं और आप भी प्रभावो को ग्रहण करते है, किन्तु आने वाले प्रभावो से अपने आप को कितना वचा सकते है और कितना लाभ उठा सकते हैं, यह है यथार्थ की भूमिका। यदि हम इस भूमिका पर वास्तव मे चले तो जो प्रभाव आ रहे है उनसे लाभ उठा सकते है। लाभ उठाना वहुत जरूरी है, क्योंकि मैं मानता हूं कि वर्तमान मे वहुत सारी चीजें ऐसी अच्छी हैं जो पुराने काल में नही थी। उन-उन चीजों से हमे लाभ भी उठाना चाहिए। कुछ चीजें व्यर्थ होती है, उनसे अपने आप को वचाना चाहिए। दोनो वातें वरावर होनी चाहिएं। उसके लिए यथार्थ की भूमिका पर चलना वहुत जरूरी है। आज देखिए, युवक का मतलव एक 'क्रांति' से जुड़ गया। क्रांति के साथ-साथ एक उत्तेजना से जुड़ गया, आवेश से जुड़ गया। आवेश और युवक एक दूसरे के पर्याय जैसे हो गए। एक वार मैं डा० कोठारी से वात कर रहा था। मैंने पूछा, 'आज के विश्वविद्यालयों में इतने उग्र आंदोलन हो रहे है तो क्या आप इनसे सहमत है ?' उन्होने कहा, 'देखिए महाराज ! मैं मानता हूं कि आज व्यापारी वर्ग मे कोई क्षमता नही है। राज्य कर्मचारियो में तो है ही नही कि वे वुराई का प्रतिकार कर सके। आज जितना अन्याय चल रहा है, उसके प्रति एकमात्र प्रतिकार की शक्ति किसी मे है तो वह है युवक और विद्यार्थी मे। विद्यार्थी ही सचमुच क्रान्ति कर सकता है और उसमे वह क्षमता भी है। इसलिए विद्यार्थी की क्षमता को और उसकी क्रांति करने की शक्ति को हमे नही कुचलना है, नहीं रोकना है। मैं युवक के इस पक्ष का समर्थक हूं। किन्तु इतना जरूर है कि आवेश के स्थान पर थोड़ा

संतुलन, थोड़ा विचार और थोडा विवेक होना चाहिए ।' उनकी शक्ति को रोकना नही है । शक्ति का उपयोग करना है और शक्ति का उपयोग होना भी चाहिए । इण्डोनेशिया में जो कुछ परिवर्तन हुआ, उसकी पृष्ठभूमि मे युवक वर्ग था । विद्यार्थियों ने सारे शासन को पलट दिया । आज ऐसा कही भी हो सकता है । यदि आज के समूचे विद्यार्थी, हिन्दुस्तान के करोड़ो-करोडों विद्यार्थी अगर वात को पकड़ ले तो शायद हिन्दुस्तान का भी काया-कल्प हो सकता है। किन्तु मुझे लगता है कि शक्ति का सही नियोजन नही हो रहा है। शक्ति का सही दिशा मे नियोजन हो और उसके साथ विवेक और संतुलन हो जाए और सही मार्गदर्शन हो तो उसकी सम्भावनाए वढ सकती है । आज निर्माण की अपेक्षा है । किन्तु आप निश्चित मानिए कि निर्माण तव तक नही होगा जव तक कि चरित्र का विकास नहीं होगा । आज हिन्दुस्तान की सारी कठिनाई, सारी गरीवी इस वात पर पल रही है कि यहा भ्रष्टाचार वहुत है । पुल वनता है तो एक ही वर्षा मे टूट जाता है । वाध वनता है तो एक ही वर्षा मे उसमे दरारे पड जाती हैं । मकान वनता है तो काम में आने से पहले ही ढह जाता है । यह सारा इसीलिए होता है कि सभी क्षेत्रो मे भ्रष्टाचार खुलकर चल रहा है । आज धन के प्रति इतना व्यापक मोह है कि जो होना चाहिए उसका उल्टा परिणाम आ रहा है ।

आज के युवक को यथार्थ की भूमिका का अनुभव करना चाहिए । पहली वात है कि केवल वातो पर भरोसा नही, कार्य क्षमता मे विश्वास होना चाहिए । यह मैं अनुभव करता हूं, आज भी हिन्दुस्तानी युवक मे वाते ज्यादा है, काम कम है । आप दूसरे देशो की तुलना मे देखिए । एक व्यक्ति वता रहा था कि अमरीकी लोग सप्ताह मे दो दिन तो पूरी छुट्टी मनाते है, किन्तु पांच दिन वे निष्ठापूर्वक तन्मयता से काम करते है । जितना काम वे पाच दिन मे करते है, उतना ही हिन्दुस्तानी युवक शायद पाच सप्ताह मे नहीं कर सकता । यह कोई सुनी हुई वात नही है । जिस व्यक्ति का यह अनुभव था, वह स्वयं वता रहा था । केवल वातो से कुछ नही वनता ।

वात से आप किसी दूसरे को राजी कर सकते है । वातो से आपको हम राजी कर सकते है और आप हमे राजी कर सकते है । कोरी वाते-ही-वाते चलेगी, क्रियान्विति नही होगी, कोई कार्य नही होगा तो कुछ भी नही बनेगा । हमारी शक्ति नष्ट हो जाएगी ।

यदि आप विसर्जन करना चाहते हैं, समर्पण करना चाहते है तो उस मन का समर्पण करे जिसके द्वारा धन देना चाहते है, सेवा देना चाहते है और श्रम देना चाहते है । उस मन का विसर्जन कर दे, सव अपने आप हो जाएगा । यदि उस मन का विसर्जन नही हुआ, मन का समर्पण नही हुआ तो

सेवा देते समय भी सेवा नही दे सकते। क्योंकि मन नही दिया गया। मन दिये बिना कुछ नही हो सकता। न सेवा दी जा सकती है, न श्रम दिया जा सकता है, न धन दिया जा सकता है। धन देते समय भी आपका सारा गणित सामने आ जाता है कि इतना दे दूंगा तो इतना कम हो जाएगा। यह कैसे होगा? काम किससे चलेगा? तो सही वात है—अपने मन के नियोजन की। यदि आपका मन उसमे नियोजित हो जाए तो सारी वाते सुलझ सकती हैं। मन का नियोजन न हो, मन का विसर्जन न हो तो हर काम के सामने तर्क खड़ा हो जाएगा और उस तर्क मे आप इस प्रकार उलझ जाएगे जैसे मकडी अपने जाल मे उलझ जाती है। तो दूसरी वात है तीर्थ-सेवा का संकल्प। पहली वात है आत्म-सेवा का सकल्प—स्व-निर्माण। दूसरी वात है तीर्थ-सेवा का संकल्प—जन-निर्माण।

एक वात याद आ रही है, दादा धर्माधिकारी की। जव मैं दिल्ली शिविर मे था तो उन्होने एक वात कही, 'यदि अणुव्रत वाले या जैन लोग समता का प्रयोग करें, एक ऐसा कारखाना, एक ऐसा उद्योग और फैक्टरी चलाएं जिसमें कोई मालिक न हो और कोई मजदूर न हो, सव समभागी हो, काम करने वाला हर व्यक्ति उसे संचालित करने वाला हो, उसका डायरेक्टर, उसका श्रमिक सब-के-सव समभागी हो। न कोई स्वामी हो, न कोई सेवक। न कोई मिल-मालिक हो, न कोई मजदूर। अगर एक भी ऐसा प्रयोग हो जाय तो हम देखेगे कि अध्यात्म मे आज भी प्राण है और अध्यात्म मे आज भी शक्ति है। अध्यात्म और अपरिग्रह का आज भी प्रयोग किया जा सकता है। आध्यात्मिक ममतावाद का प्रयोग किया जा सकता है और यदि वह नही किया जा सकता तो फिर अध्यात्म, अपरिग्रह और समता—इन शब्दों को सदा के लिए दफना देना चाहिए। क्यो भार ढोते फिरेंगे इनका, यदि कोई प्रयोग नही हो सकता है तो? क्या केवल शब्दो का भार ढोना है? आगे ही सिर पर वहुत भार है और वेचारे गृहस्थो पर कितना भार है। कमाई का भार, परिवार को चलाने का भार, महंगाई का भार, कितनी समस्याओं का भार, इनकमटैक्स का भार, मृत्यु टैक्स का भार, सारे भार ढोते-ढोते छोटे-मे दिमाग को परेशानी हो रही है।

आज के युवक मे कहां है अध्ययन? मैं मानता हूं कि क्रियान्विति के लिए सवसे पहले विचार-विकास की आवश्यकता होती है। वौद्धिक क्षमता वढ़ती है तो सारी वातें वढती है। आज के संसार मे वौद्धिक विकास चरम सीमा को छू रहा है। प्रतिदिन नये-नये आयाम खुल रहे है। साधारण-से साधारण विपय पर इतना अन्वेपण और सूक्ष्म अध्ययन हुआ है कि एककोपीय जीव जैसे साधारण-से लगने वाले विपय पर 'चेम्वर डिक्शनरी' जैसी वीस-वीस पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। जो व्यक्ति आज के विचार और विकास के

सम्पर्क मे नही रहता, अगर दो सप्ताह तक वह उससे कट जाता है तो वह पिछड़ जाता है। इतनी तेज गति से और इतनी तेज रफ्तार से मनुष्य का ज्ञान वढता चला जा रहा है। उस स्थिति मे यदि अध्ययन की उपेक्षा की जाती है तो व्यक्ति युग के साथ कैसे चल सकता है? कैसे हमारा युग-वोध स्पष्ट हो सकता है? नही हो सकता। आज का युवक पढता तो है किन्तु ऐसे उपन्यास जो रोमाटिक है, ऐसे उपन्यास जो जासूसी से भरे-पूरे है। वे कहानियां जो सेक्स से भरी-पूरी है, जीवन के विकास मे इनका कोई वडा योगदान नही होता। जव तक अध्ययन की गम्भीरता नही आती तव तक कोई वडी वात नही हो सकती। आप निश्चित मानिए, ऊचाई हमेशा गम्भीरता के साथ पैदा होती है। वड़े भवन को खडा करना है, पचास मजिल और सौ मजिल का प्रासाद खडा करना है तो गहराई मे जाना होगा। हो सकता है कि आप उस मकान को वालू की नीव पर खडा कर दे या विना नीव के खडा कर दे, किन्तु वह टिकेगा नही, ढह पडेगा। मजवूत मकान के लिए मजवूत नीव की आवश्यकता होती है। गहराई के विना ऊचाई सभव नही है। हम तीन आयामो मे फैलते है—लम्वाई, ऊचाई और चौडाई। इन सारी वातो मे फैलने के लिए गहराई की वहुत जरूरत है और गहराई विचार-विकास के विना नही आ सकती। आज तक के इतिहास मे आप देखेगे कि जहां विचारो मे गहराई नही आयी, किसी भी व्यक्ति ने विकास नही किया—चाहे भौतिक क्षेत्र मे, चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र मे। आध्यात्मिक क्षेत्र मे रहने वाले जिन लोगों ने ध्यान की गहराई मे जाने का प्रयत्न नही किया उन्होने कोई भी नई वात नही दी। आज तत्त्वज्ञान का जितना विकास हुआ है, सत्य का जितना प्रकटीकरण हुआ है, जितना सत्य दुनिया के सामने प्रस्तुत किया गया है वह आध्यात्मिकता के द्वारा, उन आध्यात्मिक लोगो ने किया, जो ध्यान की गहराई मे चलते चले गये, डुवकिया लेते रहे, और गहरे-से-गहरे उतरते चले गये। भौतिक क्षेत्र मे भी उन व्यक्तियों ने ही अपूर्व देन दी है जो अध्ययन और विचार की गहराई मे गये है। इन्ही लोगो ने संसार को सव कुछ दिया है। चाहे विजली, चाहे वडे-वड़े प्रासाद, चाहे सडके, चाहे वड़े-वडे कारखाने, चाहे जीवन की सुख-सुविधा के सारे साधन और उपकरण, उन्ही लोगो ने दिये है जिन्होने गहराई मे जाकर सोचा है। आप देखेगे, हमारे किसान, हिन्दुस्तानी किसान सैकडो वर्षो से खेती करते चले आ रहे है, पारिवारिक ढग से करते चले आ रहे है। आपने कभी सकर वाजरा नही सुना होगा, कभी संकर गेहूं नही सुना होगा, सकर मक्का नही सुना होगा, आपने कभी यह नही सुना कि नयी-नयी पौधे तैयार की जा सकती है। नये फलो का विकास हो सकता है। आज लाल अमरूद भी पैदा किए जा रहे है। अनेक फलो मे अनेक प्रकार की सुगन्धे भी पैदा की जा रही

है। ये सारे प्रयोग किस आधार पर हो रहे है ? सारे विज्ञान और ज्ञान की गहराई के आधार पर हो रहे है। अन्यथा जैसा चलता था वैसा ही चलता रहता। हमारे लोग झोपडों मे रहते थे। शताब्दियों तक झोपड़ो मे रहते ही चले गए। उन्हे उससे आगे कभी कुछ नही सूझा। ऐसा क्यों हुआ ? साथ मे अध्ययन नही था। अध्ययन के विना विकास नही होता। जो विकास होता है, वह अध्ययन के आधार पर ही होता है। तो कर्म और ज्ञान–ये दो है। ज्ञान गहराई है और कर्म उसकी ऊंचाई है या अभिव्यक्ति है। व्यक्त और अव्यक्त–ये दो बाते है। भारतीय दर्शन मे व्यक्त और अव्यक्त की चर्चा बहुत मिलेगी। अव्यक्त नीचे रहता है, छिपा हुआ रहता है। व्यक्त हमारे सामने आता है, प्रकट रहता है। किन्तु कोई भी व्यक्त अव्यक्त के बिना नही होता। जिस व्यक्त के नीचे अव्यक्त नही है, वह कभी व्यक्त नही हो सकता। व्यक्त हो सकता है ज्ञान के आधार पर, जब कर्म का योग मिलता है। हमारा कर्म इसलिए विकसित नही हो रहा है कि हमारे ज्ञान मे गहराई नही है। यदि ज्ञान मे गहराई हो तो कर्म को विकसित होने का मौका मिलेगा।

युवक को अध्ययन की दिशा मे आगे बढना चाहिए और अध्ययन भी वैसा अध्ययन जो शतशाखी बन सके। मै मानता हू, तत्त्व का जितना गहरा चिन्तन जैन-दर्शन मे हुआ है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। भगवती सूत्र इसका ज्वलत प्रमाण है। मै जैन हू, इसलिए यह नही कह रहा हू, किन्तु सारे दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि एक भगवती सूत्र मे जितना तात्त्विक चिन्तन हुआ है उतना किसी भी भारतीय ग्रथ मे नही मिलेगा। इतनी बडी सम्पत्ति है आपके पास, इतना बडा महाग्रथ है आपके घर मे, आपके दर्शन मे, फिर भी आप उससे अपरिचित है। आप उसके परिचय मे नही आते, उसके सम्पर्क मे नही आते और कभी उसे गहराई से जानने का प्रयत्न नही करते, इस स्थिति मे आप उसमे लाभान्वित कैसे हो सकते है ? आज हमारे बहुत सारे युवक व्यापक सम्पर्क मे आते है। एक भाई दो-चार दिन पहले बता रहा था कि मै लन्दन मे रहता हू। अमरीका जाता हूं; मुझसे लोग पूछते है भाई ! 'जैन धर्म क्या है ? मै शर्मिन्दा हो जाता हू। और क्या करू ? पास मे कुछ भी नही। जैन हूं, नाम के पीछे जैन लिखता हूं, किन्तु जैन धर्म के बारे मे मै कुछ नही जानता, और दूसरे लोग देखते है कि जैन है तो जैन धर्म के बारे मे तो जानता ही होगा।' एक युवक ने बताया कि जब वह जर्मनी गया तब उसे वहा एक प्रोफेसर मिला। वह जैन-धर्म का गम्भीर अध्येता था। वह युवक को अपने घर ले गया। उसने अपनी लाइब्रेरी दिखाई। लाइब्रेरी देखकर वह अवाक् रह गया। उसने जैन धर्म की चर्चा की तो युवक खिसया गया। उसे लगा

कि यदि जमीन मे कोई गड्ढा हो तो वह उसमे नीचे चला जाए। वह शर्मिन्दा हो गया। उसने सोचा—यह विदेशी तो मुझसे जैन धर्म की बड़ी-बड़ी बातें पूछने लगा है, मैं तो क-ख-ग भी नही जानता। इन बातो को मैं समझ भी कैसे सकता हूं। उस युवक ने मुझसे कहा, 'उसी दिन से मैंने मन-ही मन यह संकल्प कर लिया कि मुझे जैन दर्शन का अध्ययन करना है अन्यथा मुझे अन्यत्र लज्जित होना पड़ेगा।' तो इन सारी स्थितियो को ध्यान मे रखकर आप एक मानसिक संकल्प लें, और विशेषत. वे युवक, जिनमे क्षमता है, जिनमे अर्हता है, जो कुछ कर सकते हैं, वे ऐसा संकल्प करे कि हम चतुर्वर्षीय या पंचवर्षीय ऐसा कार्यक्रम निर्धारित करे, ऐसी योजना बनाये कि पांच वर्ष के बाद ऐसा लगे कि हमारे युवकों मे अनेक ऐसे प्रवक्ता है जो जैन-धर्म का प्रतिनिधित्व कर सकते है, और जैन-धर्म मे से बहुत कुछ दूसरो को दे सकते है, समझा सकते है।

एक समय था, पाच-सात सौ वर्षो तक ऐसा क्रम चला कि किसी राजा को अमात्य की जरूरत है, किसी राजा को दण्डनायक की जरूरत है, किसी राजा को सेनापति की जरूरत है, किसी राजा को कोषाध्यक्ष की जरूरत है, वह चुनाव कराता, चुनाव मे प्राथमिकता प्राप्त होती जैन को। व्यक्ति जैन है तो उसे सेनापति नियुक्त किया जा सकता है, दण्डनायक नियुक्त किया जा सकता है। प्रधानमत्री बनाया जा सकता है, क्योकि वह प्रामाणिक होगा, सच्चा होगा, ईमानदार होगा, धोखा नही देगा और अपनी जेब नही भरेगा। यह जैन के साथ जुड़ा हुआ था। जैन होने का मतलब था प्रामाणिक होना। यह जैन धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करने वाली प्रवृत्ति थी।

वर्तमान मे महावीर की श्रेष्ठता प्रमाणित हो सकती है जैन लोगो के चरित्र की विशिष्टता के द्वारा। हमे जीवन को नया मोड देना है। नया मोड देने के लिए जो पहली शर्त होगी वह है—चरित्र-निर्माण, आत्म-निर्माण। महावीर को आज के इतिहासकारो ने नीति का प्रथम प्रतिष्ठापक बतलाया है। जिन्होने नीति का प्रतिपादन किया उनमे सबसे पहला नाम भगवान् महावीर का आता है। महावीर ने धर्म के साथ नीति का प्रतिपादन किया। दूसरो ने उपासना धर्म का प्रतिपादन किया, कर्मकाण्ड का प्रतिपादन किया। महावीर ने उसका प्रतिपादन नही किया। महावीर ने कभी नही कहा कि मेरी पूजा करो। महावीर ने कभी नही कहा की मेरा नाम जपो। आप समूचे प्राचीन साहित्य को उठाकर देख लीजिए, कही कोई ऐसा कथन नही मिलेगा कि जिसमे महावीर ने कहा हो कि मुझे पूजो, मेरे नाम का जप करो। उन्होने कभी नही कहा कि मेरे नाम पर बैठे रहो और भगवान् के भरोसे (राम भरोसे) बैठे रहो। महावीर पुरुपार्थवादी थे। वे पराक्रम मे विश्वास करते थे। उन्होने यही कहा कि तुम सच्चे बनो। उन्होने नीति-धर्म का प्रतिपादन किया,

चरित्र धर्म का प्रतिपादन किया । युवको के लिए सबसे पहली बात जो करणीय है, वह है आत्म-निर्माण की दिशा मे गति और प्रयत्न । महावीर स्याद्‌वादी थे । वादी नही थे वे, किन्तु उन्होने जो कहा उससे स्याद्वाद् फलित हो गया । उन्होने सत्य को वास्तविकता की दृष्टि से भी देखा और व्यवहार की दृष्टि से भी देखा । उन्होने दो नयों की बात कही । वे दो नय है, निश्चय और व्यवहार । आत्मा को देखो और साथ-साथ व्यवहार को भी देखो, क्योंकि तुम्हे इस दुनिया के रंगमंच पर जीना है तो तुम व्यवहार का अतिक्रमण नही कर सकते । इस आधार पर तीर्थ-धर्म का प्रवर्तन हुआ । तुम्हें सत्य को पाना है तो वह सत्य संगठन के द्वारा प्राप्त नही हो सकता, वह आत्मा की गहराई मे जाने से प्राप्त हो सकता है । इस आधार पर उनके अर्हत् धर्म का प्रतिपादन हुआ ।

नारी का कर्त्तव्य-बोध

सबसे पहले हम यह निर्धारण करें कि हमे समाज को कैसा बनाना है ? इसके पश्चात् हम सबसे पहले स्त्रियो को प्रबुद्ध करें और उन्हें एक ऐसा संकल्प दे कि उन्हे कैसे पुत्र पैदा करना है ? यह बहुत ही कार्यकारी बात होगी । माता के मन मे जो संकल्प होता है, जैसा पुत्र वह चाहती है, यदि संकल्प बलवान् होता है तो वैसा ही पुत्र उसे प्राप्त हो जाता है । दुनिया मे जितने भी शक्तिशाली पुरुष हुए है, उनकी शक्ति के पीछे माता के दृढ संकल्प ने भी काम किया है । जो माता गर्भ से पूर्व या पश्चात् अच्छे संकल्प करती है, अच्छे व्यवहार करती है, अच्छा साहित्य पढ़ती है, अच्छे स्वप्न देखती है, उसका पुत्र शक्तिशाली होता है । जिसकी माता हीन भावना से ग्रस्त होती है, बुरे भाव रखती है, बुरे स्वप्न देखती है, उसका पुत्र कभी शक्तिशाली नही होता । वह डरपोक ही नही, अंगहीन भी होता है ।

महिलाओं मे भी शक्ति होती है । वे बड़े-बड़े कार्य कर सकती हैं । आचार्य श्री की यात्रा के माध्यम से हमने देखा कि कुछेक महिलाओं ने व्यवस्थित शिक्षा-सस्थान चलाने मे अपना कीर्त्तिमान स्थापित किया है । महिलाएं कार्य कर सकती है–इसमे मुझे सदेह नही है । वे अपनी शक्ति को इस दिशा मे नियोजित करें तो आश्चर्यकारी कार्य संपन्न हो सकते है । वे इस बात में न उलझे कि स्त्री दुर्बल है या पुरुष दुर्बल है । कोई दुर्बल नही है । दुर्बलता और सबलता का कथन सापेक्ष होता है । उत्तराध्ययन सूत्र मे नारी को राक्षसी कहा गया है । क्या पुरुष राक्षस नही होता ? पुरुष भी राक्षस होता है और नारी भी राक्षसी होती है । पुरुष भी देवता होता है, नारी भी देवी होती है । जहां नारी को राक्षसी कहा गया वहां यह भी कहा गया, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः' । यह सब सापेक्ष कथन है । इतिहास

मे प्राप्त होता है कि अतीत मे भारतीय समाज मे दो प्रकार की व्यवस्थाएं प्रचलित थी। एक थी प्रितृ-सत्ताक व्यवस्था और दूसरी थी मातृ-सत्ताक व्यवस्था। पुरुष प्रधान व्यवस्था थी तो नारी प्रधान व्यवस्था भी थी। आज भी सीमात प्रदेशों मे ऐसी जातियां है जहां स्त्री प्रधान होती है। पुरुष रसोई वनाता है, सन्तान का पालन करता है। नारी वाजार जाती है, सौदा लाती है। पुरुष घूघट निकालता है, नारी खुले मुह मुक्त विचरण करती है। ये सव देश-काल सापेक्ष स्थितियां है। यदि इन्हे हम शाश्वत सत्य मान ले तो वडी भ्रांति होगी। हमे इन्हे सापेक्ष ही मानना चाहिए। हमे यह सोचना चाहिए कि हमे क्या वनना है, हमे क्या करना है ? इस प्रश्न को सुलझाने से पहले हमे यह स्वीकार करना होगा कि स्त्रियों के पिछडेपन मे उनकी अशिक्षा ही मूलभूत कारण है। यह सच है कि शिक्षा ही सव कुछ नही है, किन्तु उसका भी अपना महत्त्व है। शिक्षा यह पहली भूमिका है। जव तक यह पहली भूमिक तैयार नही होगी तव तक अगली भूमिकाए प्राप्त ही नही होगी। महिलाओ का यह प्रथम कार्य है कि वे ज्ञान की दिशा मे आगे वढे। वे अक्षर ज्ञान के प्रचार मे अपना समय दे। वे स्वय शिक्षित वने और अपनी वहिनों को भी शिक्षित करने का प्रयास करे। जव ज्ञान जागता है तव हीन-भावना समाप्त हो जाती है, स्वय की शक्ति का भान होता है और कुछ करने की वात प्राप्त होती है।

स्त्रिया यदि स्वाध्याय-मण्डल और ध्यान-मण्डल का सचालन करना प्रारम्भ करती है तो अशिक्षा का वातावरण कुछ अशो मे समाप्त हो जाता है।

स्त्रियो को सवसे पहले अपने आपको शक्तिशाली वनाना होगा। जो शक्तिशाली नही होता उसकी कोई सहायता नहीं करता। देव भी उसी की सहायता करता है जो पुरुपार्थी और पराक्रमी होता है।

स्त्रियां अपने कर्त्तव्यों की लौ को प्रज्वलित करे और ज्ञान वढाए। कुछ ही वर्षो मे ऐसा परिवर्तन आएगा कि लोग नारी की दुर्वलताओ को भूल-कर यह सोचने के लिए वाध्य होगे की नारी की शक्ति का कैसे उपयोग किया जाए ?

विचारों में नयापन

पुरानेपन का मोह हमारे भीतर नही होना चाहिए। आज हम वीसवी-इक्कीसवी शताब्दी मे जी रहे है। हमारे शास्त्र, हमारे ग्रंथ, हमारे नियम दो हजार, चार हजार और पांच हजार वर्ष पहले वनाये गए थे। देश का परिवर्तन हुआ है, काल का परिवर्तन हुआ है, हमारी सोचने की क्षमताए वढी है, वैज्ञानिक उपलव्धियां हमारे सामने आई है, नये ग्रंथ हमारे

सामने आए है। उन सवकी ओर आंख मूदकर, केवल अतीत की ओर झांक कर हम सब बातों का निर्णय लेना चाहें तो वह एकांगिता सचमुच दरिद्र वना देने वाली है। हिन्दुस्तान जो कई वातो मे पिछडा रहता है, इसका कारण मैं यह मानता हूं कि उसने विज्ञान के क्षेत्र मे और उपलब्धियों के क्षेत्र मे पहल करने की वात वन्द कर दी। महाभारत से पहले का जमाना हिन्दुस्तान की उपलब्धियो का जमाना था। नये-नये चिंतन के अयामो को उद्घाटित करने का जमाना था और उसमे बहुत कुछ हुआ था। पर इन दो हजार वर्षो मे तो मुझे लगता है कि द्वार विल्कुल ही वन्द हो गया है।

हिन्दुस्तान बार-बार पराजित हुआ। बाहर के आने वाले लोगो से पराजित हुआ। क्यों हुआ ? क्या यहां लडने वाले नही थे ? क्या पराक्रमी योद्धा नही थे ? पराक्रम की दृष्टि से हिन्दुस्तान की तुलना में दुनिया में वहुत कम योद्धा मिलेगे। प्राणो की आहुति देने वाले, प्राणो को न्योछावर करने वाले और प्राणो का विसर्जन करने वाले यहां वहुत मिलेंगे। किन्तु उनका तकनीक विकसित नही था। वाहरी लोग लडते हैं वारूद से, तो हिन्दुस्तानी लडते हैं तलवार से। तलवार और वारूद का मेल कहा ? अंग्रेजो के पास तोपे थीं, तव यहां बन्दूक आयी। हिन्दुस्तानी लोग-दो-चार नही, कई पीढ़ियां पीछे चलते है। यह हारने का क्रम हमारे पराक्रम के अभाव मे नही हुआ, यह हमारी शक्ति के अभाव मे नही हुआ, किन्तु विज्ञान के क्षेत्र मे पिछड़ने के कारण ऐसा हुआ है। हमारे मन मे अतीत का मोह नही होना चाहिए। अतीत से हमे पूरा लाभ उठाना है। आज तक जितना विकास हुआ है, उससे पूरा लाभ उठाना है। लडका हमेशा पिता के कंधे पर चढ़कर देखता है। पिता के कंधे की ऊचाई तो उसे सहज ही प्राप्त हो जाती है। उसकी ऊंचाई और ज्यादा होती है। हमारे यहां यह मान लिया गया की शिष्य को गुरु से आगे नही बढना चाहिए। गुरु ने जो कह दिया, उससे आगे की वात किसी को कैसे कहनी चाहिए ? मैं सोचता हूं कि विनीत शिष्य वह होता है जो गुरु ने कहा, उस बात को और आगे वढा दे। गुरु की कही हुई वात को और अधिक विकसित कर दे, न कि गुरु की वात को रटता ही रहे। जो ऐसा नहीं करता, मैं तो उसे बहुत विनीत या योग्य शिष्य नही मानता।

अभी भी दूसरो का अनुकरण चल रहा है। मौलिकता कम है। हिन्दुस्तान के अध्यापक, हिन्दुस्तान के शिक्षक और प्रशिक्षक इस बात की ओर ध्यान दें कि हमारे शिक्षण की पद्धतियों मे मौलिकता आनी चाहिए। दूसरों का अनुकरण और नकल नही होनी चाहिए। अनुकरण आखिर अनुकरण होता है।

हिन्दुस्तान मे आज भी अनुकरण की वृत्ति वहुत है। हमे सचमुच दूसरो के आधार पर नही, किन्तु अपने आधार पर प्रशिक्षण की योजनाएं

बनानी चाहिए। मैंने दिल्ली मे युनिवर्सिटी ग्राट कमीशन के सचिव श्री नाइक से कहा कि आपका यह जो प्रशिक्षण का क्रम चलता है एक वर्ष का, क्या यह दो वर्ष का नही हो सकता ? जो विषय चल रहा है, क्या उसके साथ मानसिक विकास और नैतिक विकास के प्रशिक्षण की बात को जोड़ा नही जा सकता ? आज हमारी बहुत सारी समस्याओ का कारण है मानसिक दुर्बलता। उन्होने तो मेरी बात को तो स्वीकार किया किंतु अपनी असमर्थता प्रकट की। उन्होने कहा—'हमारे आयोग के जो बहुत सारे विदेशी लोग है, वे जो परामर्श देगे, सरकार उन्हे मान्य करेगी।' हमारी बात वही समाप्त हो गई।

अन्त मे मैं यही कहना चाहूंगा कि शिक्षक अपने उत्तरदायित्व को समझकर राष्ट्र की भावी सम्पत्ति के नैतिक निर्माण मे अपना योग दे। वे स्वय कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते हुए राष्ट्र को भी उस ओर अभिमुख करें।

कर्त्तव्य-परायणता

कर्त्तव्य-परायणता की सबसे पहली शर्त है–निष्ठा और जागरूकता। जिस व्यक्ति की कर्त्तव्य-पालन मे निष्ठा है, वह प्रमाद, अन्याय और मुफ्त-खोरी जैसा कोई काम नही कर सकता। कर्त्तव्य-भावना की कमी का कारण राष्ट्रीय प्रेम की न्यूनता भी है। अपने राष्ट्र के प्रति उदात्त प्रेम होगा तो प्रमाद जैसी स्थिति को पनपने का अवकाश ही नही मिलेगा। परिवार और अपने चरित्र-बल के लिए भी व्यक्ति के कुछ कर्त्तव्य है। श्रमिक अणुव्रत के ये विधान कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहने के लिए ही है। जिस श्रमिक का जीवन सस्कारी होता है, जिसमे किसी प्रकार का दुर्व्यसन नही होता, जो जुआ नही खेलता, बाल-विवाह, मृत्युभोज जैसी सामाजिक कुरीतियो को प्रश्रय नही देता, अपने अर्जित अर्थ का सुरा, सिनेमा, सिगरेट आदि आदतो की पूर्ति के लिए अपव्यय नही करता, श्रम से जी नही चुराता और अपने दायित्व के प्रति जागरूक रहता है वह श्रमिक कभी कर्त्तव्य-च्युत नही हो सकता। श्रमिक जीवन एक प्रशस्त जीवन पद्धति ही नही, देश की बहुत बडी शक्ति है। श्रमिक अणुव्रत की धाराएं इस शक्ति को चारित्रिक सम्पदा से परिमडित कर कर्त्तव्यपालन की अपूर्व क्षमता दे सकती है।

स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा

ध्यान एक परम पुरुषार्थ है, यह दृष्टि जब तक स्पष्ट नही हो जाती है, व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का कल्याण नही हो सकता। दृष्टि की स्पष्टता किसी भी कार्य की सफलता का वह बिन्दु है, जिसे नजर अदाज कर कोई भी व्यक्ति आगे नही बढ़ सकता। ध्यान से शक्ति का अर्जन होता है और उस अर्जित शक्ति से व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

कुछ लोग ध्यान को निष्क्रियता का प्रतीक मानते है। उनकी दृष्टि मे ध्यान का प्रयोग वे व्यक्ति करते है, जिनके पास कोई दूसरा महत्त्वपूर्ण काम नही होता। पर मैं इस मान्यता से सहमत नही हूं। मेरे अभिमत से यह चिन्तन उन लोगो का हो सकता है जो ध्यान की विधि से परिचित नही है और उस प्रक्रिया से गुजरे नहीं है। जो ध्यान अकर्मण्यता को निष्पन्न करता है, मैं उसे ध्यान मानने के लिए भी तैयार नही हू। ध्यान की शक्ति इतनी विस्फोटक होती है कि वह मानव चेतना मे छिपी हुई अनेक विशिष्ट शक्तियो का जागरण कर मनुष्य को कहा से कहा पहुंचा देती है।

मैं चाहता हूं कि हमारे साधक निराशा या भय से मुक्त हो और प्रलोभन के प्रवाह मे न बहे। भय और प्रलोभन से चित्त विक्षिप्त होता है। इसलिए सही गुरु के सही पथ-दर्शन मे सही गुर सीखकर उसका अभ्यास करना चाहिए। इस क्रम से अपना ही नही समूची मानवता का भला हो सकता है।

पुरुषार्थ हर व्यक्ति के हाथ की बात है, पर ध्यान का पुरुषार्थ कोई-कोई ही कर सकता है। इसीलिए हर व्यक्ति को इसके लिए प्रयत्नशील रहने की अपेक्षा है। ध्यान का पुरुषार्थ करने वाले व्यक्तियो को दो बातो पर ध्यान देना जरूरी है। पहली बात यह है कि ध्यान के साधक में किसी प्रकार का भय न हो और दूसरी बात है—उसमे किसी प्रकार का प्रलोभन न हो।

भय की उत्पत्ति आशंका से होती है। साधक के मन मे यह आशका हो कि मैं जो साधना कर रहा हूं, उससे मेरा अहित तो नही हो जाएगा। इतने वर्ष हो गये साधना करते-करते, अब तक कोई परिणाम नही निकला है। पता नहीं क्या होने वाला है ? यह स्थिति व्यक्ति को अपने प्रति सदिग्ध बना देती है। संशय की स्थिति मे निराशा और भय की उत्पत्ति अस्वाभाविक नही है।

कुछ व्यक्तियो मे भय तो नही होता पर उनके विचार स्थिर नही हो पाते। शायद वह ठीक है, वहां अच्छा हो रहा है, इस चिंतन मे वे अपने निर्धारित लक्ष्य के प्रति समर्पित नही रह पाते। दूर से पर्वत सुहावने लगते है—इस जनश्रुति के अनुसार सही पथ पा लेने के वाद भी उनका झुकाव दूसरी ओर वना रहता है। यह भटकने की स्थिति है। किसी भी प्रलोभन मे आकर इधर उधर भटकने वाला साधक कभी सही रास्ता पा ही नही सकता।

स्वावलंवन और पुरुपार्थ—ये दोनो अस्तित्व के चक्षु हैं। ये वे चक्षु है, जो भीतर और वाहर—दोनो ओर समानरूप से देखते है। मनुष्य अस्तित्व की शृंखला की एक कडी है। पुरुपार्थ उसकी प्रकृति है। जिसका अस्तित्व है, वह कोई भी वस्तु क्रियाशून्य नही हो सकती। इस सत्य को तर्कशास्त्रीय भापा मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—अस्तित्व का लक्षण है क्रियाकारित्व। जिसमे क्रियाकारित्व नही होता, वह आकाश-कुसुम की भाति असत् होता है। मनुष्य सत् है, इसलिए पुरुपार्थ उसके पैर और स्वावलवन उसकी गति है।

स्वावलंबन और पुरुषार्थ

हमारे वैयक्तिक जीवन की दूसरी फलश्रुति है—स्वावलंवन। स्वावलवन कहां है? इतना परावलवन होता है कि आदमी दूसरे पर निर्भर होता चला जाता है। आपने अमरवेल का नाम सुना होगा। नाम तो वहुत सुन्दर, पर वडी खतरनाक वेल होती है। जिस पौधे पर चढ जाती है उसका तो अंत ही समझिये। अपने पैरो पर खडी नही होती। दूसरे का आलवन ढूढती है, दूसरो के सहारे खडी होती है। वडी अजीव प्रकृति है। जिसके सहारे खडी होती है उसे खाना शुरू कर देती है। कहा जाता है कि अमरवेल एक किलोमीटर तक अपना पैर फैला देती है। वह दूसरो पर फैलती है और दूसरो को समाप्त करती चली जाती है। परावलंवन का सवसे अच्छा उदाहरण है—अमरवेल। आदमी भी कम परावलंवी नही है, अमरवेल से कम खतरनाक नही है। वह भी दूसरो के कधो पर अपना वैभव, अपना ऐश्वर्य चलाता है और उनको चट करता चला जाता है।

आज व्यक्ति इतना परावलवी हो गया कि उसने स्वावलवन को विलकुल भुला डाला है। लगता तो यह है, यदि दूसरा काम करने वाला मिलता हो तो शायद कुछ लोग तो हाथ हिलाना भी पसन्द नही करेगे। मुह मे कौर डालना भी नही चाहेगे। चाह रहे है कि ऐसी मशीन का निर्माण हो जो कोरी रसोई ही नही पकाए, मुह मे कौर भी दे। फिर ऐसी मशीन की खोज भी करनी होगी जो पचा भी दे। पचाने की भी फिर क्या जरूरत है? इतनी सुविधावादी मनोवृत्ति वन जाती है कि आदमी हर वात के लिए दूसरों का मुंह ताकता रहता है। इससे एक वहुत वडा अनर्थ हुआ है कि आदमी

श्रम करना भूल गया ।

हमारे शरीर का स्वभाव है–श्रम, पुरुपार्थ । यह व्यक्तिगत जीवन की तीसरी फलश्रुति है । जिसे अपने पुरुपार्थ पर विश्वास नही होता, वह आदमी सव कुछ होने पर भी कुछ भी उपलव्ध नही कर पाता । परन्तु वहुत लोग इस ओर ध्यान नही देते, क्योकि वडा आदमी तो यह समझता है कि काम करना छुटपन की वात है और दूसरो के देखते काम करना तो और भी छुटपन की वात है । हम इस सचाई को समझे कि शरीर को श्रम आवश्यक है, जरूरी है।

प्रश्न होता है स्वावलवन और पुरुपार्थ मे क्या अन्तर है ? पुरुपार्थ हमारे शरीर की प्रक्रिया है । अगो को काम मे लेना और नियोजित करना, यानी शक्ति का उपयोग करना है पुरुपार्थ, और अपनी शक्ति पर भरोसा करना है स्वावलवन । पहले स्वावलवन होता है । स्वावलंवन होता है तो पुरुपार्थ होता है । अपनी शक्ति पर भरोसा नही है तो फिर स्वावलंवन की वात नही आती । जिसे अपने पैरो पर भरोसा नही है, उसे लाठी लेनी पड़ती है या फिर वैशाखी के सहारे चलना पडता है । अपनी शक्ति पर भरोसा होना पहली वात है । यह स्वावलंवन का दृप्टिकोण है और अपनी शक्ति का उपयोग करना, काम मे लाना, पुरुपार्थ है ।

जव तक पूरा श्रम शरीर को नही मिलता, रोग समाप्त नही होते, हमारे रक्त की प्रणालियां स्पप्ट नही होती, स्वास्थ्य उपलव्ध नही होता । सचमुच शरीर को श्रम चाहिए । श्रम वहुत आवश्यक है । कोई श्रम न कर सके तो योगासन का आलंवन ले सकता है । योगासन के द्वारा शरीर को भी स्वास्थ्य मिलता है । श्रम हमारे जीवन के लिए वहुत आवश्यक है ।

स्वतत्रता, स्वावलंवन और पुरुपार्थ पर विश्वास–ये व्यक्ति की तीन वैयक्तिकताएं है । व्यक्ति की तीन सीमाए हैं, जो व्यक्ति को अलग व्यक्तित्व प्रदान करती है ।

पुरुष और पौरुष

१. मनुष्य अपने सुख-दु.ख का कर्ता स्वय है । अपने भाग्य का विधाता वह स्वयं है ।

२. राजा देव नही है, ईश्वर का अवतार नही है । वह मनुष्य है, उसे देव मत कहो, संपन्न मनुप्य कहो ।

३. ग्रथ मनुप्य की कृति है । पहले मनुप्य फिर ग्रथ । कोई भी ग्रंथ ईश्वरीय नही है ।

४. विश्व की व्यवस्था शाश्वत द्रव्यो के योग या परस्परापेक्षिता से

स्वतः संचालित है। वह किसी एक सर्वशक्तिमान् सत्ता द्वारा संचालित नही है।

५. यह विश्व छह द्रव्यो की संघटना है। वे ये है—

१. धर्म—गतितत्व।
२. अधर्म—स्थितितत्व।
३. आकाश।
४. काल।
५. पुद्गल।
६. जीव।

६. मनुष्य अपने ही कर्त्तव्य मे उत्क्रान्ति और अपक्रान्ति करता है। इस प्रसग मे महावीर ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—इन तत्त्वो की व्याख्या की।

७. मनुष्य भाग्य या कर्म के यत्र का पुर्जा नही है। भाग्य मनुष्य को नहीं बनाता, मनुष्य भाग्य को बनाता है। वह अपने पुरुपार्थ से भाग्य को बदल सकता है।

स्वावलंबन नैतिक जीवन की पहली शर्त है। समाज की भूमिका में स्वावलवन का अर्थ यह नही होता कि मनुष्य दूसरो का सहयोग ले ही नही। मेरी सम्मति मे उसका अर्थ यही होना चाहिए कि मनुष्य अपनी शक्ति का संगोपन न करे, जिस सीमा तक अपनी आवश्यकताओ को पूरा कर सके तथा विलासी जीवन को उच्च और श्रमरत जीवन को हेय न माने।

विलास और आराम के प्रति मनुष्य का झुकाव सहज ही होता है और इस धारणा से उसे पुष्टि मिल जाती है कि श्रम करने वाला छोटा होता है। परावलंबी जीवन का यही आधार है।

स्वावलंबन (अपनी श्रम शक्ति) का अनुपयोग और परावलंबन (दूसरों की श्रम शक्ति) का उपयोग शोषणपूर्ण जीवन का आरंभ विन्दु है। शोपण अनैतिकता की जड है। अणुव्रती चाहता है कि समाज मे शोषण न रहे। अतः उसके लिए यह प्राप्त होता है कि वह स्वावलंबन या श्रम की भावना को जन-जन तक पहुंचाए।

अणुव्रती कार्यकर्ता स्वावलंबी केन्द्रो की स्थापना पर विचार कर रहे है, पर उन्हे बहुत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि श्रम या स्वावलंबन का कोई अतिरिक्त मूल्य नही है। यह जीवन का स्वाभाविक मूल्य है। इसे अतिरिक्त मूल्य दिए जाने की स्थिति मे यह जीवन मे प्रतिष्ठित नही होता, बल्कि जीवन पर समारोपित होता है।

स्व-निर्भरता

एक राजकुमार दीक्षित हो रहा था। माता-पिता ने कहा—'कुमार !

तुम वडे सुकुमार हो, वहुत कोमल हो। तुम दीक्षित हो रहे हो। तुम्हें ज्ञात नही है, शरीर मे वीमारी पैदा हो जाएगी, हो सकती है, तो चिकित्सा नही करा सकोगे। अचिकित्स्य है यह संयम का मार्ग। वीमारी पैदा होने पर क्या करोगे ? कौन आहार, पानी लाकर देगा ? भूखे-प्यासे और रुग्ण होकर वैठे रहोगे। क्या प्राप्त होगा ?'

राजकुमार वोला—'माता-पिता ! जंगल मे रहने वाले पशु वीमार हो जाते है। कौन उनकी परिचर्या करता है ? कौन उन्हे भोजन-पानी लाकर देता है ? रुग्ण पड़े रहते है। जव स्वस्थ होते है तव जंगल मे जाकर खा-पी लेते है। जव ये पशु भी ऐसा कर सकते है तो मैं मनुष्य हूं, ऐसा क्यों नहीं कर सकूगा ?'

यह एक महत्वपूर्ण खोज थी स्वावलंवन और स्व-निर्भरता की। रोग की स्थिति मे भी दूसरे का सहारा न लिया जाए। यदि रोग का प्रतिकार करना हो तो वाहरी वस्तु से न किया जाए।

अमेरिका मे एक संस्थान ऐसा है जिसके सदस्य दवा का भी प्रयोग नही करते। वे कोई दवा नही लेते। ऑपरेशन की आवश्यकता होने पर भी ऑपरेशन नही कराते। सदस्य थोडे है, पर जो है, वे कट्टरता से इसका पालन करते है। सव कुछ वे ईश्वर पर छोड़ देते है।

'तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा'—जैन मुनि चिकित्सा की इच्छा न करे। यह वहुत प्राचीन सिद्धान्त है। जैन आगमो मे यह उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। यह कैसे सभव हो सकता है कि वीमारी हो और चिकित्सा न हो ? चिकित्सा हो सकती है पर वह वाहरी वस्तु से न हो, यह इस सूत्र का हार्द है। स्वावलवन और स्व-निर्भर होकर अपनी वस्तु से चिकित्सा करो, वाह्य वस्तु से चिकित्सा मत करो, पर-वस्तु मे चिकित्सा मत करो।

शरीर मे रोग पैदा होता है तो शरीर मे नीरोगता की भी पूरी व्यवस्था है। आसनो का विकास इस दिशा मे हुआ था। चिकित्सा के लिए व्राहरी वस्तुओ की अपेक्षा नही है। आसनो का प्रयोग करो, चिकित्सा हो जाएगी। श्वास और विभिन्न मुद्राओ का प्रयोग रोग निवारण की दिशा मे हुआ था। इसमे नाडी-विज्ञान का पूरा उपयोग किया गया था।

पाचन कमजोर है। भोजन के वाद वज्रासन मे वैठो, पाचन की दुर्वलता मिट जाएगी।

पाचन की गडवड़ी है। भोजन के वाद दाएं नथुने से पन्द्रह मिनट तक श्वास लो, पाचन स्वस्थ होने लगेगा।

पाचन दुर्वल है। महामुद्रा का प्रयोग करो, पाचन ठीक होने लगेगा।

प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए आसन और नाड़ियों का प्रयोग तथा स्वर का प्रयोग खोजा गया था। हजारो आसनो का प्रयोग होने लगा।

शारीरिक बीमारी हो तो आसनो का प्रयोग क्रिया जा सकता है और मानसिक बीमारी के लिए भी आसनो का प्रयोग किया जा सकता है।

ये सारे तथ्य स्वावलवन और आत्मानुशासन के लिए खोजे गए थे।

युवक और स्वावलम्बन

युवको की शक्ति आज एक समस्या बन रही है। वह ध्वस की ओर जा रही है। सारे देश की स्थिति को देखिए। भारत के युवको की शक्ति जितनी निर्माणात्मक कार्यो मे नही लग रही है, उससे कही अधिक हिंसात्मक कामो मे लग रही है। आए दिन समस्याओं का सामना सबको करना पड रहा है। इसका कारण यह है कि हमारी शक्ति का ठीक नियोजन नही हो रहा है। युवक को शक्ति का पर्यायवाची मान लिया है। युवक अर्थात् शक्ति और शक्ति अर्थात् युवक। युवक शक्ति का प्रतिनिधि होता है। यह प्रतिनिधित्व तो उसने स्वीकार कर लिया किन्तु उसका ठीक नियोजन नही किया। इस नियोजन की गडवडी के कारण आज देश मे वहुत सारी समस्याए पैदा हो गयी है।

आचार्य श्री तुलसी का उदाहरण युवकों के सामने होना चाहिए। जब आचार्य श्री की अवस्था मात्र बाईस वर्ष की थी, उस समय आपने एक शक्तिशाली सघ का नेतृत्व अपने कधो पर लिया और उसका विकास किया। शक्ति का उपयोग रचनात्मक कामो मे किया। आचार्यश्री का प्रारम्भिक सूत्र था—'हमे ध्वंस की ओर अपनी शक्ति नही लगानी है।' दुनिया मे सबका विरोध होता है। कोई ऐसा नही है कि जिसका विरोध नही होता। सूर्य अकारण प्रकाश देता है, पर उसकी भी आलोचना होती है। सूर्य का भी विरोध होता है। हवा अकारण हमे लाभान्वित करती है, प्राण देती है, जीवन देती है, पर उसका भी विरोध होता है। आचार्य श्री तुलसी का भी विरोध हुआ है और काफी हुआ है।

मुझे एक घटना याद आ रही है। काका कालेलकर बहुत वर्ष पहले दिल्ली मे आचार्यश्री से मिलने आए। आते ही बोले, 'मै आपसे मिल रहा हूं, उसके पीछे एक प्रेरणा है। वह यह कि मेरे पास आपके विरोध मे इतना साहित्य आया कि ढेर लग गया। मैंने वह साहित्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि जिस व्यक्ति का इतना विरोध होता है, वह निश्चित ही जीवित व्यक्ति है। मुर्दे का विरोध कोई नही करता। कहने की जरूरत भी नही होती है। विरोध उसका होता है जो जीवित है। आप मे जीवट है और उसी ने मुझे प्रेरित किया कि आपसे मिलना चाहिए और आज मै मिल रहा हू।' विरोध हुआ किन्तु उस सारे विरोध के बीच मे आचार्यश्री ने जो एक स्वर दिया, वह था—'**जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद**।' यानी विरोध को विनोद समझकर चले। यह था उनकी अपनी शक्ति का निर्माणात्मक

कार्यो मे नियोजन।

किसी समय मे आचार्य भिक्षु के विचारो की कडी आलोचनाए होती थी। आज आचार्यश्री के विचारो की कडी आलोचनाए होती है। कभी-कभी तो हम जिस मार्ग से गुजरते, उसमे डामर की सडक पर हमारे विरोध मे इतने पर्चे चिपका दिए जाते कि हमारे पैर काले होने से बच जाते। किन्तु कभी भी आचार्य श्री तुलसी की ओर से उस विरोध मे दो पक्तियां भी नही लिखी गयी। आचार्य श्री वम्बई मे थे, उस समय एक व्यक्ति ने विरोध मे काफी लिखा। आचार्यश्री ने मुझसे कहा कि इस पर हमे लिखना चाहिए, क्योकि यह जो विरोध हो रहा है, वह केवल विरोध नही है, यह वास्तविक स्तर पर आलोचना हो रही है। इस पर हमे लिखना चाहिए, उत्तर देना चाहिए। मै समझता हू कि आज से पच्चीस-तीस वर्ष पहले हमारा जो विरोध हुआ था, उसके विरोध मे हमने दो पक्तियां भी नही लिखी। जो व्यक्ति अपनी शक्ति का इतना निर्माणात्मक और रचनात्मक कार्यो मे नियोजन कर सकता है, वह सचमुच विकास कर लेता है। यदि आज यह वात हमारे अध्यापको की समझ मे आ जाए, विद्यार्थियो की समझ मे आ आए, मजदूरों की समझ मे आ जाए तो मै समझता हू कि जो रचनात्मक निष्पत्तियां हमारे सामने आनी चाहिए, किन्तु नही आ रही है, उनका एक समाधान हो सकता है।

आज देश की स्थिति क्या है? आज के युवको की स्थिति क्या है? शक्ति का नियोजन करने के लिए हमे कुछेक बातो पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक होगा। पहली बात है कर्मण्यता। शक्ति तो है किन्तु कर्मण्यता नही है। आज हिन्दुस्तान जिस बीमारी से ग्रस्त है, वह है अकर्मण्यता और मुफ्तखोरी। यह मुफ्तखोरी का पाठ उसने शताब्दियो से पढ लिया है। यह बीमारी उसकी रग-रग मे जमी हुई है। भगवान् की दया हो, कोई काम करना न पड़े, ऐसा मानस हो गया है। लेने के लिए उसका इतना मानस बन गया है कि कोई काम करना न पड़े, श्रम करना न पड़े और काम बन जाए तो भगवान् की कृपा है, धर्म की कृपा है। श्रम करना पड जाए तो हम मानते है कि भगवान् की कृपा कम है। धर्म की कृपा कम है।

पुराने जमाने की बात है। आचार्य भद्रवाहु, एक वहुत बड़े आचार्य हुए है। संघ के सामने कोई कठिनाई आने पर उन्होने एक मंत्र की रचना की। सघ का सकट दूर हो गया। एक स्त्री रसोई बना रही थी। उसका बछडा भाग गया। स्त्री ने सोचा, बछडे को पकड़कर लाऊं। फिर सोचा, क्यो जाऊं? मुझे मंत्र याद है। उसने मत्र का पाठ किया और देवी उपस्थित हो गयी। स्त्री ने कहा, 'देवी! कोई संकट तो नही है। किन्तु मेरा बछड़ा भाग गया है। तुम उसे लाकर खूटे मे बांध दो।' देवी को आश्चर्य हुआ। वह भद्रवाहु के पास जाकर बोली, 'महाराज! आपने क्या कर दिया है?

यह मंत्र आपने क्यों दे दिया ? आज तो हमे बछड़ा बांधना पड़ रहा है, कल पता नहीं क्या-क्या करना पड़ेगा ?

यह जो अकर्मण्यता की बीमारी है, अपने कर्म पर, अपने पुरुषार्थ पर विश्वास न करने की बीमारी है, हिन्दुस्तान के युवक को इस बीमारी से मुक्त होना चाहिए। अगर हमारे युवक इस बीमारी से मुक्त हो जाते हैं तो समझना चाहिए कि सबसे बड़ी समस्या का समाधान हो गया।

सत्य अनुप्रेक्षा

ध्यान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—सत्य की दिशा मे प्रस्थान, सत्य को जीने का अभ्यास। सत्य को झुठलाने का प्रयत्न नही करना ध्यान की उपलब्धि है। ध्यान के अभ्यास से गुजरने के बाद भी यदि यथार्थवादी दृष्टिकोण नही बना तो मान लेना चाहिए कि ध्यान सधा नही। ध्यान से आध्यात्मिक निष्पत्ति आनी चाहिए, अध्यात्म फलित होना चाहिए।

ध्यान की निष्पत्ति है—सचाई का जीवन जीना। जब आदमी सचाई का जीवन नही जीता है तो व्यावहारिक समस्याएं बहुत पैदा हो जाती है।

प्रेक्षा-ध्यान की उपसंपदा स्वीकार करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता है–**'सच्चव्वतं उवसपज्जामि'** सत्य का व्रत स्वीकार करता हूं। ध्यान का सारा प्रयोजन है–सत्य की खोज। जो व्यक्ति ध्यान नही करता वह सत्य की खोज की दिशा मे आगे नही बढ सकता। हमारे चारो ओर इतने सत्य हैं, इतने सूक्ष्म सत्य है, जिन्हे स्थूलदृष्टि से नही देखा जा सकता। उन्हे स्थूल मन से भी नही पकडा जा सकता। वे स्थूल चेतना के विषय नही बनते। उन्हे जानने-देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, सूक्ष्म मन की आवश्यकता है और सूक्ष्म चेतना की आवश्यकता है। ध्यान के बिना दृष्टि को सूक्ष्म नही किया जा सकता, मन को पटु और सूक्ष्म नही बनाया जा सकता। ध्यान के बिना चेतना भी सूक्ष्म नही बन सकती। चेतना पर राग-द्वेष और मल के आवरण जमे हुए है। वे जब तक नही टूटते तब तक चेतना मे सूक्ष्मता नही आ सकती। इसलिए ध्यान की साधना करने वाला सबसे पहले सत्य की खोज करता है और वह सत्य की खोज अपने से ही प्रारम्भ करता है। वह सत्य को बाहर नही खोजता, अपने मे ही खोजता है।

हमारे जानने और देखने की यात्रा का, आत्मा के शुद्ध स्वरूप की यात्रा का पहला प्रस्थान है–श्वास-दर्शन। दूसरा प्रस्थान है–शरीर-दर्शन, शरीर-प्रेक्षा।

शरीर को देखना। यह बात बडी विचित्र लगती है कि जिस शरीर मे हम जी रहे है, जो हमारा सबसे निकट का मित्र है, उसे हम क्या देखें ? उसके भीतर क्या देखे ? ये प्रश्न तभी होते है जब तक हम देखना प्रारम्भ नही करते। देखना प्रारम्भ करते ही सारे प्रश्न समाहित हो जाते है। शरीर मे बहुत कुछ है देखने को। देखते रहें। कभी पूरा नही होता। प्रतिदिन नए-

नए अनुभव होते रहेगे । फिर लगेगा कि शरीर मे इतना है देखने को कि वह कभी पूरा ही नही होता । वीमारी का पता लगाने के लिए चिकित्सक भी तो शरीर के भीतर ही देखता है । जो चिकित्सक जितनी अधिक निपुणता और सूक्ष्मता से शरीर के भीतर देख पाता है, वही वीमारी का सही निदान कर सकता है । चिकित्सक नव्ज पर अपनी अंगुलियां टिकाता है। नाडी की धडकन को वह पकड़ता है । अन्यान्य सूक्ष्म उपकरणो से वह शरीर मे होने वाली चंचलताओ को पकडता है, सूक्ष्म स्पंदनो को पकडने का प्रयत्न करता है । और फिर उन स्पदनो के आधार पर वीमारी के मूल को पकडकर निदान प्रस्तुत करता है । वह सारे शरीर को देख जाता है । उसे पता लग जाता है कि शरीर मे क्या घटित हो रहा है। केवल चिन्तन के आधार पर ऐसा नही हो सकता । चिकित्सक देखने की गहराई मे जाकर ही सूक्ष्मतम कारणो को पकड पाता है । देखने की गहराई मे, चाहे वह उपकरणो के माध्यम से ही क्यो न जाए, यह वात दूसरी है । विना गहराई मे गए, जो पाना होता है वह नही पाया जाता । ध्यान के द्वारा भी गहराई मे जाया जा सकता है और उपकरणो के माध्यम से भी गहराई मे जाया जा सकता है। ध्यान दर्शन है, देखने की प्रक्रिया है ।

हमारे सत्य की खोज के आयाम आगे से आगे वढते जाते है। वे मुख्य रूप से चार है । पहला आयाम है—श्वास । दूसरा आयाम है—शरीर । तीसरा आयाम है—मन, चित्त, वुद्धि । चौथा आयाम है—शुद्ध चैतन्य, आत्मा । ये सारे के सारे आयाम सत्य की खोज के आयाम है ।

महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम ने एक वार पूछा—

'भते ! सत्य क्या है ?'

'वह वताया नही जा सकता ।'

'तो हम उसे कैसे जाने ?'

'तुम स्वय उसे खोजो ।'

'उसकी खोज कैसे करे ?'

'कर्म को छोड दो । मन को विकल्पो मे मत भरो, मौन रहो, शरीर को स्थिर रखो ।'

'भते ! फिर जीवन कैसे चलेगा ?'

'सयत कर्म करो । वोलना आवश्यक ही हो तो सयम से वोलो। चलना आवश्यक ही हो तो सयम से चलो । खाना आवश्यक ही हो तो संयम से खाओ । सव कुछ सयम से करो ।'

'भते ! सत्य की खोज का मार्ग वताया जा सकता है, तव सत्य क्यों नही वताया जा सकता ।'

'ये सत्याश हैं। सत्याश वताया जा सकता है । मैं सत्य का सापेक्ष प्रति-

पादन करता हूं। पूर्ण सत्य नही बताया जा सकता। इसीलिए मैं कहता हूं कि सत्य नही कहा जा सकता। सत्यांश बताया जा सकता है, इसलिए मै कहता हूं कि सत्य कहा जा सकता है। सत्य अवक्तव्य और वक्तव्य है। इन दोनों का सापेक्ष बोध ही सम्यग् ज्ञान है।'

वक्तव्य सत्य

'भंते! वक्तव्य सत्य क्या है?'

'अभेद की दृष्टि मे अस्तित्व (होना मात्र) सत्य है और भेद की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय सत्य है। द्रव्य शाश्वत है। पर्याय अशाश्वत है। शाश्वत और अशाश्वत का समन्वय ही सत्य है। जब हम विश्व को ज्ञेय की दृष्टि से देखते है तब चेतन और अचेतन द्रव्य के त्रैकालिक अस्तित्व और परिवर्तन का समन्वय सत्य और उनका विभाजन असत्य है। जब हम विश्व को हेय और उपादेय की दृष्टि से देखते है तब श्रेय सत्य है और प्रेय असत्य है।'

हमारी मांग तो अनन्त को जानने की है, संपूर्ण सत्य को जानने की है, अखड सत्य को जानने की है। वह हमारी माग पूरी नही होती। हमे जानने को मिलता है थोडा-सा अंश, अनन्त का एक खंड। हम उसको पकड कर, उस खड को लेकर, अखंड के लिए लड़ने लग जाते है। यह लडाई कभी समाप्त नही होती। अच्छा तो यह होता कि कोई भी आदमी बोलता ही नही। कम-से-कम सत्य के बारे मे कभी जबान नही खोलता, केवल व्यवहार की सपूर्ति के लिए बोलता तो लडाइया नही होती। सत्य के विषय मे न बोलना ही असत्य से बचने का अच्छा उपाय है। किन्तु ऐसा हो नही सका। उन ज्ञानी पुरुषो ने भी अनुकपा की, दया की कि अज्ञानी लोग पूरा न जान सके तो कम-से-कम थोडा बहुत जान लें। यह अनुकम्पा भारी पड़ गयी। इसने विवाद का रास्ता खोल दिया। आज यह स्थिति पैदा हो गई है कि आदमी सत्य को जाने न जाने, वह उसके लिए विवाद करने को तैयार है।

नही बोलने का एक बहुत बडा मूल्य है, सत्य की सुरक्षा। नही बोलने से सत्य की पूरी सुरक्षा होती है। अवक्तव्य, अनिर्वचनीय, अव्याकृत—ये शब्द सत्य की सुरक्षा करते है। एक कहता है—अस्ति अर्थात् है। दूसरा कहता है—नास्ति अर्थात् नही है। दोनो की दो दिशाएं है। विवाद की स्थिति आ जाती है। महावीर ने कहा—जो कहता है अस्ति, वह भी सही नही है और जो कहता है नास्ति, वह भी सही नही है। दोनो सही तब हो सकते है जब दोनो अपने-अपने कथन के साथ अपेक्षा जोड देते है और कहते है कि इस दृष्टि से, इस अपेक्षा से यह है और इस अपेक्षा से यह नही है—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति। जब स्यादस्ति कहने से भी काम नही चलता और स्यान्नास्ति कहने से भी

काम नही चलता तब स्याद् अवक्तव्य कहना होता है। यह मानकर चलो कि सत्य कहा नही जा सकता, सपूर्ण सत्य कहा नही जा सकता। सत्य की प्रकृति ही ऐसी है, सत्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह कहा नही जा सकता। हम जो कहते है वह सत्य का एक अंशमात्र होता है। हम अशमात्र का कथन करके पूरे सत्य के प्रति शायद अन्याय ही करते हैं, एक दृष्टि से। इस बात को मानकर ही तुम कहो कि पूरा सत्य कहा नही जा सकता। यह गूगे का गुड है। वह स्वाद का वर्णन नही कर सकता।

मैं समझता हूं कि न बोलना, मौन रहना, सत्य की सुरक्षा का सशक्त और प्रबल साधन है।

सत्य क्या है?

दृष्टि और प्रतिपादन दो प्रकार के होते है—यथार्थ और अयथार्थ। जो तथ्य जिस रूप मे है उसे उसी रूप मे देखना और प्रतिपादन करना यथार्थ है और तथ्य के विपरीत दर्शन और प्रतिपादन अयथार्थ हो जाता है। सत्य का अर्थ है—यथार्थ का दर्शन और प्रतिपादन।

यथार्थ का दर्शन—यह दृष्टिकोण का सत्य है या सत्य का दृष्टिकोण है। यथार्थ का प्रतिपादन वाणी का सत्य है। सत्य का महाव्रत चरित्र का पक्ष है, व्यवहार का पक्ष है। सत्य का महाव्रती दूसरे को वही बात कहता है, जो यथार्थ होती है और यथार्थ ही अहिंसा धर्म के अनुकूल होती है।

सत्य का ऋजुता के साथ गहरा सम्बन्ध है। जो व्यक्ति ऋजु नही होता वह सत्य का प्रतिपालन नही कर सकता। इस सदर्भ मे सत्य का सन्दर्भ केवल वाणी से ही नही होता किन्तु अपना अभिप्राय जताने की हर चेष्टा से हो जाता है। इस आधार पर सत्य की परिभाषा यह हो जाती है—

सत्य है—काया की ऋजुता	असत्य है—काया की वक्रता
सत्य है—वाणी की ऋजुता	असत्य है—वाणी की वक्रता
सत्य है—भाव की ऋजुता	असत्य है—भाव की वक्रता
सत्य है—संवादी-प्रवृत्ति, कथनी-करनी की समानता।	असत्य है—विसवादी प्रवृत्ति, कथनी-करनी की असमानता।

इन चारो अगो का समग्रता से अनुशीलन करना ही सत्य का महाव्रत है। असत्य और मायाचार का निकट का सम्बन्ध है। जो कुशल मायावी नही होता, वह कुशल असत्यभाषी भी नही होता। सत्य मे कोई छिपाव नही होता। असत्यभाषी को बहुत छिपाना पडता है। उसे एक बड़ा-सा मायाजाल बिछाना पडता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने असत्य के लिए 'मायामृषा' शब्द का प्रयोग किया।

जिस प्रवृत्ति मे माया है, दूसरो को ठगने की मनोवृत्ति है और

असत्य है—यथार्थ को उलटने का प्रयत्न है, वहा हिंसा कैसे नही होगी ? वह समूचा प्रयत्न हिंसा का प्रयत्न है इसलिए असत्य बोलना हिंसा से भिन्न वस्तु नही है

सत्य को स्वयं खोजें

हमने सत्य की खोज प्रारम्भ की है। मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है—सत्य की खोज। प्राणी जगत् मे मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो सत्य की खोज कर सकता है। दूसरे सारे प्राणी, फिर चाहे वे पशु-पक्षी हो या देवता, कोई भी सत्य की खोज नही कर सकता। मनुष्य के पास जितना विकसित मस्तिष्क, विकसित ग्रंथिया और अतीन्द्रिय ज्ञान के केन्द्र है, उतने दूसरे किसी भी प्राणी के पास नही है। इसीलिए मनुष्य ही सत्य की खोज कर सकता है। बहुत अच्छा हुआ कि हमने इस रहस्य को समझ लिया, इस सचाई को जान लिया। हमने मनुष्य होने की सार्थकता को पहचान लिया कि मनुष्य जीवन का सार है—सत्य की खोज, सत्य की उपलब्धि।

भगवान महावीर ने कहा—'**अप्पणा सच्च मेसेज्जा**' अपने आप सत्य की खोज करो।

हम सत्य की खोज के लिए प्रस्तुत है। सत्य खोजना है और स्वय को ही खोजना है। ऐसा नही होता कि एक व्यक्ति सत्य खोजे और दूसरा उपयोग करे। वैज्ञानिक जगत् मे यह होता है कि एक व्यक्ति सत्य को खोजता है और सारा जगत् उसका उपयोग करता है। किन्तु अध्यात्म का ससार इससे भिन्न है। इस जगत् मे जो व्यक्ति सत्य को खोजता है, वही उसका उपयोग करता है। जो खोजेंगे वे पायेंगे, जो नही खोजेंगे, वे कभी नही पायेंगे। जो खोजेंगे वे ही उसका उपयोग करेंगे, जो नही खोजेंगे वे उसका उपयोग नही कर पाएंगे।

अध्यात्म के क्षेत्र मे जो खोजे हुई है, अतीन्द्रिय ज्ञानियों ने जो खोजें की है, जो देखा है, पाया है, जो अनुभव किया है, उसको उन्होने दूसरो को बतलाया। दूसरो ने सुना। लाभ उठाया। पर पूरा लाभ नही मिला। दूसरों के वह काम आया, पर पूरा काम नही आया।

उन अतीन्द्रिय साधको ने आत्मानुभूति का सत्य दूसरों के सामने प्रस्तुत किया, किन्तु उस अभिव्यक्ति के माध्यम से जो सत्य की अनुभूति होनी चाहिए थी, वह किसी को नही हुई। वचन के माध्यम से प्राप्त वह सत्य श्रुति के काम आया, सुनने के काम आया तथा मस्तिष्क और बुद्धि के काम आया, किन्तु वह अनुभूतिगम्य नही बना। वह अनुभूतिगम्य तब बना जब सुनने वाले ने स्वय खोज प्रारम्भ की, स्वय उसको उपलब्ध हुए। उससे पहले कुछ भी नही हुआ। सुनना व्यर्थ नही गया। उससे खोज की पृष्ठभूमि तैयार हुई। वह पृष्ठभूमि तब तक पृष्ठभूमि ही बनी रहती है जब तक उसको

आधार वनाकर साधक आगे वढ नही सकता । साधक जव तक अनुभव के स्तर पर उस सत्य को नही पा लेता तव तक वह यह नही कह सकता—'यह सचाई है। इसका मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है।' वह तव तक दूसरों की दुहाई देता रहता है। यह उधारी वात है। वह यह कह सकता है—यह आगमो की सचाई, गीता या वाईविल की सचाई है, ग्रंथसाहव या कुरान की सचाई है, पिटक या अन्यधार्मिक शास्त्र की सचाई है। वह कभी नही कह सकता कि यह मेरी सचाई है। यह मेरा भोगा हुआ सत्य है। जव व्यक्ति उस सत्य को उपलब्ध हो जाता है, उसे साक्षात् कर लेता है, तभी वह कह सकता है—'यह मेरा सत्य है। मैंने इसे जाना-देखा है। मैंने इसे भोगा है।'

अध्यात्म का क्षेत्र वैज्ञानिक है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमे सवको वैज्ञानिक होना पडता है। जो भी इस यात्रा-पथ पर चलना चाहता है, उसे वैज्ञानिक वनना ही पडता है। ऐसा नही होता कि आचार्य तुलसी वैज्ञानिक वन जाएं, सत्य की खोज करे और शेष सारे उनके अनुयायी वनकर उस खोजे हुए सत्य का उपयोग करते रहे। ऐसा नही हो सकता। प्रत्येक साधक को वैज्ञानिक वनना होता है, परीक्षण करना होता है और सत्य को ढूढ निकालना होता ।

'सत्य को खोजो'—इतना ही पर्याप्त नही है। भगवान् महावीर ने इसके पीछे **'अप्पणा'** शब्द लगाकर इस ओर सकेत किया कि 'सत्य को खोजो' —यह अधूरी वात है। 'स्वय सत्य को खोजो'—यह पुरी वात है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण सकेत है। यह संकेत साधक के पुरुषार्थ की गाथा गाता है।

दूसरा प्रश्न है कि हमने सत्य की खोज प्रारम्भ की है, किन्तु हमारे साथ प्रयोगशाला कहा है? कैसे करेगे सत्य की खोज? सत्य की खोज के लिए समृद्ध प्रयोगशाला चाहिए। वह यहा नही है। वात सच है, किन्तु हमने अपने शरीर को ही प्रयोगशाला वना डाला है। यह शरीर इतनी वडी प्रायोगशाला है कि विश्व के किसी भी वैज्ञानिक के पास इतनी समृद्ध और विशाल प्रयोगशाला नही है। इस शरीर मे इतनी सूक्ष्म यत्र-सरचना है जो वडे वैज्ञानिक को भी आश्चर्य मे डाल देती है। एक वैज्ञानिक की प्रयोगशाला नही, किन्तु यदि विश्व की समस्त प्रयोगशालाओ को एकत्रित कर लिया जाए, फिर भी वे इस शरीर की प्रयोगशाला के एक अरववें हिस्से मे नही समा पाती। तुलना ही नही की जा सकती।

यह हमारा शरीर साधन-सम्पन्न प्रयोगशाला है। यह हमारे सामने है। हमे सत्य की खोज करनी है। प्रयोग के साधन और उपकरण भी हमारे पास है। चैतन्य के ये सारे प्रयोग हमारी खोज के सूक्ष्मतम उपकरण है। आज सूक्ष्म तरगो वाले या सूक्ष्म शक्ति वाले या हाईफ्रीक्वेन्सी वाले जितने भी सूक्ष्म उपकरण होते है वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ मे, वे सारे-के-सारे, या उनसे

भी अधिक सूक्ष्म उपकरण, हमारे इस शरीर मे प्राप्त हैं। वे स्वतः संचालित है। किन्तु उनको काम मे न लेने के कारण उन पर जंग जम गया है, वे निष्क्रिय हो गए है। हमने यात्रा प्रारम्भ की है। हम उस जंग को हटाने का प्रयास कर रहे है। जैसे ही वह जमा हुआ मेल हटेगा, ये सारे उपकरण पूरा काम देने लग जायेगे। उन्ही उपकरणों के द्वारा हम सूक्ष्मतम सत्य को पहचान जायेगे।

समस्या है सत्य की अनभिज्ञता

इस दुनिया मे सवसे वड़ी समस्या है सत्य को जानना। हमारी सारी कठिनाइयो और समस्याओ का मूल है सत्य को न जानना। आदमी यदि सत्य को जान लेता तो कोई समस्या नही होती। दुनिया मे वस्तुत. कोई समस्या है ही नही, केवल सत्य की अनभिज्ञता ही समस्या है।

अभी रात है, किन्तु फिर भी प्रकाश देख रहा हूं। रात में भी विजली से प्रकाश जगमगा रहा है। प्रकाश और अन्धकार दोनो विरोधी युगल है किन्तु इनमे नितान्त विरोध नही है। दोनों एक साथ आ जाते है। सह-अस्तित्व और सह-अवस्थान दोनो ही जरूरी है। स्याद्वाद विरोधी तत्वो के सहावस्थान की व्याख्या करता है। दो विरोधी तत्वो, दो विरोधी वातो को एक साथ स्वीकारना ही है स्याद्वाद और अनेकान्त। अनेकान्त और स्याद्वाद का फलित है सह-अस्तित्व।

सत्य विशाल है और शव्द सीमित। सत्य की अभिव्यक्ति के लिए शव्द होते है। परन्तु वे उसको सीमित वना देते है। यही कारण है कि जो शास्त्र समाधान के लिए होते है वे स्वयं समस्या वन जाते हैं।

यदि सत्य के निकट पहुंच जाएं तो विरोधी हितो मे भी सामंजस्य हो सकता है। यदि आज समाज मे नये मूल्यो का सामंजस्य किया जा सके तो समस्याओ का समाधान किया जा सकता है। आचार्यश्री तुलसी सामजस्य की वात करते है। सवसे पहले सत्य और अध्यात्म की वात करते है।

मनुष्य मे यदि सत्य की जिज्ञासा और निष्ठा नही है तो वह अच्छा भी नही वन सकता। प्रगति और विकास का द्वार वन्द ही रहेगा। इसलिये सवसे पहले सत्य को पहचाने और फिर उसे स्वीकार करे। मन के आवरणो को हटाकर मैला, कूडा-कर्कट निकालकर स्वच्छता स्वीकार करे और दृष्टि साफ कर ज्ञान को परिष्कृत करे। ज्ञान, दर्शन और चरित्र की समन्विति तभी होगी जव हम दृष्टि साफ रखेगे। इसके लिए सत्य की प्रवल जिज्ञासा होनी चाहिए। आन्तरिक तडप और जिज्ञासा के विना मनुष्य जहा का तहा रहेगा।

सत्य की मीमांसा

सत्य क्या है ? यह प्रश्न अनादि काल से चर्चित रहा है। जो ध्रुव है, जो स्थिर है वह सत्य है पर वही सत्य नही है। परिवर्तन प्रत्यक्ष है। उसे असत्य नही कहा जा सकता। जो परिवर्तन है, वह सत्य है पर वही सत्य नहीं है। स्थिति के बिना परिवर्तन होता ही नही। जो दृश्य है वह सत्य है, पर वह भी सत्य है जो दृश्य नही है। सत्य के अनेक रूप हैं। एकरूप अनेक-रूपता का अश रहकर ही सत्य है। उनसे निरपेक्ष होकर वह सत्य नहीं है। सत्य किसी धर्म प्रवर्तक द्वारा कृत नही है। वह सहज है, अकृत है। वह धर्म प्रवर्तक के द्वारा अज्ञात से ज्ञात और अनुद्‌घाटित से उद्‌घाटित होता है। भगवान् महावीर ने कहा—'सत्य वही है, जो वीतराग के द्वारा प्ररूपित है।' सत्य एक ओर अविभाज्य है। जो सत् है, जिसका अस्तित्व है, वह सत्य है। यह परम अभेददृष्टि है। इस जगत् मे चेतन का भी अस्तित्व है और अचेतन का भी अस्तित्व है। इसलिए चेतन भी सत्य है और अचेतन भी सत्य है। मनुष्य चेतन है, स्वयं सत्य है, फिर भी उसका चेतन से सीधा सम्पर्क नही है और इसलिए नही है कि राग एवं द्वेप उसका सत्य से सीधा सम्पर्क होने मे बाधा डाले हुए हैं। राग-रंजित मनुष्य आसक्ति की दृष्टि से देखता है, इसलिए सत्य उसके सामने अनावृत नही होता। द्वेप-रंजित मनुष्य घृणा की दृष्टि से देखता है, इसलिए सत्य उससे भय खाता है। सत्य उसी के सामने अनावृत होता है, जो तटस्थ दृष्टि से देखता है। तटस्थ दृष्टि से वही देख सकता है, जिसके नेत्र आसक्ति और घृणा से रंजित नही होते।

सत्य के दो रूप : अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद

भगवान् महावीर वीतराग थे। सत्य से उनका सीधा सम्पर्क था। उन्होने जो कहा, वह सुना-सुनाया या पढ़ा-पढाया नही कहा। उन्होने जो कहा, वह सत्य से सम्पर्क स्थापित कर कहा। इसलिए उनकी वाणी यथार्थ का रहस्योद्‌घाटन और आत्मानुभूति का ऋजु उद्‌बोधन है। जो सत्य है वह अनुपयोगी नही है, पर उसके कुछ अंश विशेप उपयोगी होते है। हम परिवर्तनशील संसार मे रहने वाले है, अतः कोरे अस्तित्ववादी ही नही, किन्तु उपयोगितावादी भी हैं। हम सत्य को कोरा यथार्थवादी दृष्टिकोण ही नही मानते, किन्तु यथार्थ की उपलब्धि को भी सत्य मानते है।

आत्मा है और प्रत्येक आत्मा परमात्मा है–ये दोनो अस्तित्वादी या यथार्थवादी दृष्टिकोण है। आत्मा की परमात्मा बनने की जो साधना है, वह हमारा उपयोगितावाद है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से भगवान् ने कहा–'आत्मा भी सत्य है और अनात्मा भी सत्य है।' उपयोगितावादी दृष्टिकोण

से भगवान् ने कहा—'आत्मा ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है।' पहला द्वैतवादी दृष्टिकोण है और दूसरा अद्वैतवादी। भगवान् महावीर अखण्ड सत्य को अनन्त दृष्टिकोणों से देखने का सन्देश देते थे। अनेकान्त-दृष्टि से अद्वैत भी उनके लिए उतना ही ग्राह्य था जितना कि द्वैत और एकान्त दृष्टि मे द्वैत भी उनके लिए उतना ही अग्राह्य था जितना कि अद्वैत। वे अद्वैत और द्वैत—दोनों को एक ही सत्य के दो रूप मानते थे।

सत्य के विघ्न

सत्य आत्मा से बाहर नही है। वह हमे पाना नही है किन्तु प्राप्त है। उसके अभिव्यक्त होने मे जो विघ्न है, उन्हे दूर करना है। सत्य की दूरी विघ्न के कारण प्रतीत होती है। विघ्न नष्ट हो जाने पर सत्य मे और हम में कोई द्वैत नही रहता।

सम्यग्-दर्शन का पहला विघ्न है—आशंका। अशंकनीय तत्त्व के प्रति शंका का उत्पन्न होना सत्य के साथ आंख-मिचौनी खेलने जैसा है। बहुत सारे लोग अपने अस्तित्व के प्रति आशंकित होते है जबकि वह शंकनीय नही है। इस दुनिया मे जो पहले नहीं है और पीछे नहीं है, वह मध्य मे भी नही हो सकता—**'जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कओ सिया।'**

एक परमाणु भी जब अपना अस्तित्व नहीं खोता, तब चेतना अपना अस्तित्व कसे खोये ?

आत्मा की भांति सत्य के जितने रूप और पर्याय हैं वे सब सम्यग् दर्शन के विषय है। उनके प्रति आशंका का होना सम्यग्-दर्शन का बहुत बड़ा विघ्न है।

जिस व्यक्ति के मन मे सत्य तक पहुचने की भावना होती है, वही उस तक पहुंच पाता है। दूसरी-दूसरी आकाक्षाओ को लेकर चलने वाला सत्य तक नही पहुच सकता। आकाक्षा सत्य की दिशा मे जा ही नही सकती। उसे लेकर कोई सत्य की दिशा मे चलना चाहता है, उसके पैर भी ठिठक जाते है। यह सम्यग्-दर्शन का दूसरा विघ्न है।

सत्य एक लक्ष्य है। उस तक पहुचने के लिए अवस्थित अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। अनवस्थित अध्यवसाय वाला व्यक्ति एक दिशा मे चल नही सकता। वह दिशा को बदलता रहता है, इसलिए सत्य उसके हाथ नही लगता। चित्त की ऊर्जा एक दिशा मे प्रवाहित होती है तब वह लक्ष्य तक पहुंच जाती है। चारों दिशाओ मे छितरी हुई धारा कभी भी प्रवाह नही बन पाती और प्रवाह बने बिना कोई भी धारा कभी भी समुद्र तक नही पहुच पाती। सत्य के समुद्र तक पहुचने मे चित्त की विचिकित्सा (अनवस्थितता)

तीसरा विघ्न है।

सत्य की दिशा मे यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए यह वहुत महत्त्व का प्रश्न है कि वह किसे समर्थन दे रहा है ? सत्य की दिशा मे चलने वाला यात्री यदि असत्य की दिशा मे जाने वालो का समर्थन करता है, उनके साथ अपने सम्पर्क को पुष्ट करता है तो उसकी दिशा भी उलट जाती है, इसलिए इस विषय मे उसे वहुत सावधान रहने की आवश्यकता होती है। यह विघ्न पहले के विघ्नो से भी अधिक भयंकर है। असत्य दिशागामी व्यक्तियों का समर्थन और सम्पर्क सम्यग्-दर्शन का क्रमश. चौथा और पांचवा विघ्न है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है

'इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं' यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है। हर सम्प्रदाय यही कहता है कि हमारा मत सत्य है। अपने-अपने मत की सचाई की दुहाई देने के कारण ही असत्य को वढावा मिलता है। भगवान् महावीर ने कहा था कि अनेकान्त सत्य है, एकांत सत्य नही है। जो समग्र है, सर्वांगीण है, वह सत्य है। फिर भी सूत्रकार ने यह कैसे कहा कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है ?

असत्य का हेतु है—ग्रन्थि। जिसके मन मे कोई ग्रन्थि नही होती, उलझन नहीं होती, वह निर्ग्रन्थ होता है। असत्य का आग्रह सवसे वड़ी ग्रंथि; सवसे वडी उलझन और सवसे वडा मिथ्यात्व है। जिसके मन की यह गांठ खुल जाती है, वह सत्य की सीमा मे प्रवेश पा जाता है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन मे किसी मत का आग्रह नही है, एकांगी दृष्टि का स्वीकार या निरूपण नही है। उसमे केवल सत्यग्राही दृष्टि का प्रतिपादन है, इसलिए निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है। इसका अर्थ होता है कि अनेकान्त ही सत्य है या अनेकान्त द्वारा दृष्ट तत्त्व ही सत्य है।

निर्ग्रन्थ ऋजुता या अनाग्रह का प्रतीक है। राग, द्वेष, क्रोध, अभिमान आदि कारणो से व्यक्ति असत्य का स्वीकार या निरूपण तथा असत् का आग्रह करता है। अज्ञानी आदमी भी यह सव कुछ करता है। निर्ग्रन्थ ज्ञान और वीतरागता—दोनो की उपासना करता है। ज्ञानी और वीतराग का दृष्टिकोण सत्यग्राही होता है। इसलिए उसकी अनुभूति को—निर्ग्रन्थ प्रवचन को—सत्य मानने मे कोई कठिनाई प्रतीत नही होती।

जैन दर्शन ने सत्य को किसी व्यक्ति-विशेष या परम्परा-विशेष के साथ नही जोडा है, किन्तु उसे गुणात्मक स्थिति के साथ जोडा है। निर्ग्रन्थ कोई व्यक्ति या परम्परा नही है। वह एक गुणात्मक अवस्था या स्थिति है। इस दृष्टि से भी निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है और यह कहने मे भी कोई कठिनाई नही है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है।

सत्य का अणुव्रत

कुछ विचारको का अभिमत है कि सत्य का अणुव्रत नही हो सकता। उसे टुकडो मे वाटा नही जा सकता। हिंसा जीवन की अनिवार्यता है, इसलिए अहिंसा का अणुव्रत हो सकता है। किन्तु असत्य जीवन की अनिवार्यता नही है अत सत्य का अणुव्रत नही हो सकता।

महाव्रत और अणुव्रत का विभाग केवल अनिवार्यता के आधार पर ही नही होता, प्रमाद भी उनके विभाजन का मुख्य हेतु है। हर आदमी के लिए यह सम्भव नही कि वह सतत जागरूक रहे। जो सतत जागरूक नही रहता वह पूर्णतः सत्यवादी नही हो सकता। जहा प्रमाद आता है वहा असत्य आ ही जाता है। आदमी मजाक मे झूठ वोल लेता है। वह झूठ वोलने के उद्देश्य से झूठ नही है, फिर भी झूठ तो है ही।

असत्य बोलने का दूसरा हेतु है अशक्यता। हर व्यक्ति मे एक साथ इतनी क्षमता विकसित नही होती कि वह एक चरण मे असत्य बोलना छोड दे। जिनमे इस प्रकार की क्षमता विकसित नहीं होती, वे असत्य परिहार का क्रमिक अभ्यास करते है। पहले अमुक-अमुक प्रकार का असत्य बोलना छोडते हैं, फिर उससे सूक्ष्म असत्य बोलना छोडते है, फिर सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम। इस प्रकार अभ्यास करते-करते वे पूर्णतः सत्यवादी हो जाते है। यह क्रमिक अभ्यास की प्रक्रिया ही तो अणुव्रत है। यह प्रमाद से अप्रमाद की ओर जाने का उपक्रम है। यह अशक्यता से शक्यता को विकसित करने का उपक्रम है। वास्तव मे यह सत्य का विभाजन नही किन्तु उसका क्रमिक विकास और अभ्यास है।

सत्य का व्रत लेने वाला सम्पूर्ण सत्य का व्रत ले, यही इष्ट है। किन्तु जो ऐसा न कर सके वह कम-से-कम संकल्पपूर्वक असत्य बोलना अवश्य छोड़े। फिर धीमे-धीमे प्रमाद और अशक्यता जनित असत्य बोलना भी छोडे। इस प्रकार असत्य से सत्य की ओर गति सुलभ हो जाती है।

सत्य और ऋजुता—दोनो साथ-साथ चलते है। ऋजुता का विकास हुए विना सत्य का विकास नही हो सकता। मानसिक ऋजुता सकल्प मात्र से एक ही क्षण मे प्राप्त होने जैसी वस्तु नही है। उसकी क्रमिक साधना है और वह दीर्घकालीन है। उसकी साधना ही वास्तव मे सत्य की साधना हो इस वस्तुस्थिति को ध्यान मे रखकर ही भगवान महावीर ने सत्य के अणुव्रत का प्रतिपादन किया।

वाक्-शुद्धि का उपाय : सत्य

वाक्शुद्धि का उपाय है—सत्य का आलम्बन। उच्चारण का विवेक कर लिया, तरगो को भी समझ लिया, किन्तु उसके पीछे भावना का जो

वल है वह यदि असत् है, असत्य है तो सव कुछ विगड़ जाएगा। यदि हम आज की समस्याओं का विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि उनके मूल में असत्य का वहुत वड़ा हाथ है। इसलिए सारी समस्याएं जटिल होती जा रही हैं। आप सोचेंगे, असत्य के विना समाज का व्यवहार ही नही चल सकता। सारी राजनीति कूटनीति के आधार पर चलती है। कूटनीति का आधार है—असत्य। समाज का छोटे-से-छोटा व्यवहार और वड़े-मे-वड़ा व्यवहार असत्य के आधार पर चलता है। एक आदमी भूठ वोलता है, वच जाता है, सत्य वोलता है, मारा जाता है।

जज ने अपराधी से कहा—'तुम न्यायालय मे खड़े हो। सच-मच कहना, भूठ मत कहना। अच्छा वताओ, भूठ वोलने से कहां जाओगे और सच वोलने से कहां जाओगे ?'

'जज साहव ! जानता हूं, भूठ वोलने से नरक में जाऊंगा और सत्य वोलने से जेल में जाऊंगा।'

आज प्रत्येक आदमी के मन में यह आस्था वैठ गई है कि समाज मे सच वोलने का अर्थ है, आपदाओं को निमन्त्रण देना, कठिनाइयों में फंसना। जो भूठ वोलने में माहिर होता है वह वड़े-से वड़े अपराध करके भी वच जाता है। जो व्यक्ति वाक् चतुर होता है, भूठ को छिपाना जानता है, वह सफल हो जाता है। जो सच वोलता है वह वुद्धू होता है, पागल होता है, मूर्ख होता है—यह आज की आस्था है। इसी आस्था के कारण सारा व्यवहार गड़वड़ा गया है। हम जानते हैं कि अन्याय मिटे, अनाचार मिटे, अत्याचार मिटे, ईमानदारी और प्रामाणिकता आये, सत्य का विकास हो। पर यह कैसे हो ? मूल को ही काटा जा रहा है। मूल मे ही भूल है, फिर यह सव कैसे हो ?

भगवान् महावीर ने सत्य का सुन्दर दृष्किोण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—सत्य वही है जहां काया की सरलता है, भावों की सरलता है, वाणी की सरलता है और अविसंवादिता है। अविसंवादिता का अर्थ है—विसंगतियों से परे हो जाना। एक दिन एक वात कहना और दूसरे दिन दूसरी वात कहना—यह विसंवाद है। सत्य वह होता है जो अविसंवादी होता है। दस वर्ष पूर्व जो वात कही वही वात पचीस वर्ष वाद कहेगा। वाणी में विसवादिता नही होगी। किन्तु आज भाव भी टेढ़ा है, वचन भी टेढा है और जीवन के पग-पग पर विसंवादिता है। इस स्थिति में वाणी की शक्ति कैसे प्राप्त हो ? वाक्शुद्धि कैसे हो ? जिस व्यक्ति की वाक्-शुद्धि हो जाती है, उसके मुह से निकली हुई वात को होना ही पडता है। वह कथन अन्यथा नही होता। वचनसिद्धि का सवसे वडा साधन है—सत्य। जो सत्यवादी होता है उसके कथन को कोई वदल नही सकता। उसके कथन को कोई अन्यथा

नही कर सकता। उसकी वाणी की तरंगो में, परमाणुओ मे इतनी शक्ति आ जाती है कि प्राकृतिक घटना को वैसे ही घटना पडता है। एक व्यक्ति मे सत्य का, ब्रह्मचर्य का इतना बल होता है कि प्रकृति भी उससे प्रभावित होती है—बादल होते है तो बिखर जाते है। नही हो तो बन जाते है। ऋषिराय साधक थे। वे जब भी पदविहार करते, आकाश मे बादल मंडराने लग जाते। आतप मद हो जाता। यह होता है। और भी न जाने क्या-क्या घटित हो जाता है। सत्य की शक्ति असीम है। परन्तु आज बचपन से ही यह सीख लिया जाता है कि सच बोलोगे तो मारे जाओगे, झूठ बोलोगे तो बच जाओगे। जब जीवन को यह मत्र मिलता है तब सच को प्रतिष्ठित करने का प्रश्न ही नही उठता। बेचारा सत्य कहां और कैसे प्रतिष्ठित हो ?

वाक्शुद्धि का उपाय है—सत्यनिष्ठा। जिन लोगो ने सत्य की निष्ठा बनाए रखी, वे विलम्ब से भले ही हो, आगे बढे है। यदि सत्य के प्रति अटूट निष्ठा होती है तो उसका अच्छा परिणाम अवश्य आता है। प्रश्न है मूल निष्ठा का। वह बनती ही नही, बनने से पहले ही मर जाती है। यदि वास्तव मे सत्य का प्रयोग हो तो वाणी मे भी अपार शक्ति आ जाती है। इससे वचनसिद्धि होती है।

समन्वय अनुप्रेक्षा

मनुष्य अनेक हे । अनेकता ने स्वतन्त्रता को जन्म दिया; स्वतन्त्रता ने संघर्ष को और सघर्ष ने समन्वय को। भगवान् महावीर इस समन्वय के महान् द्रष्टा और सूत्रधार थे । इस समन्वय सूत्र ने अनेकता को समाप्त नही किया, किन्तु उसके साथ जुडी हुई एकता को प्रदर्शित कर दिया । उसका अर्थ है कि अनेकता-विहीन एकता और एकता-विहीन अनेकता कही प्राप्त नही होती । जो व्यक्ति केवल अनेकता को देखता है, वह निरपेक्ष स्वतन्त्रता को देखता है । जो निरपेक्ष स्वतन्त्रता को देखता है, वह सघर्ष का निर्माण करता है । संघर्ष मनुष्य को त्रास देता है, इसलिए मनुष्य उसे समाप्त करना चाहता है, पर उसे एकता और अनेकता के समन्वय के विना समाप्त नही किया जा सकता । महावीर ने नही कहा कि अनेकता का कोई मूल्य नही है और उन्होने नही कहा कि एकता का कोई मूल्य नही है । उन्होने कहा दोनों का मूल्य दोनो की सापेक्षता मे है, निरपेक्षता मे किसी का कोई मूल्य नही है । एकता-सापेक्ष अनेकता सघर्ष को जन्म नही देती । इसी प्रकार अनेकता-सापेक्ष एकता उपयोगिता को विनष्ट नही करती ।

मनुष्य मनुष्य के बीच संघर्ष है । जाति, भाषा, सप्रदाय, प्रादेशिकता आदि के आधार पर वह चलता है । जहा भी कोई भेद की रेखा खिचती है वहा सघर्ष का आरम्भ हो जाता है । निमित्त मिलते ही भीतर सोया हुआ राग-द्वेप का सर्प फुफकार उठता है ।

समन्वय की पृष्ठभूमि मे वीतरागता का दर्शन है । राग और द्वेष के उपशम का, चित्त की निर्मलता का तथा अहिंसा और मैत्री का मूल्य समझ लेने पर ही समन्वय का सिद्धान्त समझ मे आता है ।

जल और अग्नि मे प्राकृतिक वैर है । दोनो एक साथ नही रह सकते । अग्नि उष्ण है और जल शीत । शीत उष्ण को मिटा देता है, जल अग्नि को वुझा देता है । क्या उष्ण और शीत मे कोई सम्वन्ध नही है ? जल अग्नि को वुझा देता है, इसलिए इनमे सम्वन्ध की स्थापना कैसे की जा सकती है ? जल भी पदार्थ है और अग्नि भी पदार्थ है । पदार्थ का पदार्थ के साथ सम्वन्ध नही होने की वात कैसे कही जा सकती है ? समस्या के दोनों तटो को पार पाने के लिए समन्वय का सेतु खोजा गया । समन्वय दो सम्वन्धो के व्यवधान को जोडने वाला सूत्र है । भगवान् महावीर ने उष्ण और शीत के बीच समन्वय की स्थापना की । उस सिद्धात के अनुसार उष्ण उष्ण ही नही है, वह शीत भी

है और शीत शीत ही नही है, वह उष्ण भी है। उष्ण और शीत—दोनो सापेक्ष है। मक्खन को पिघालने वाली अग्नि की ऊष्मा मक्खन के लिए उष्ण है और लोहे के लिए उष्ण नही है। वह अग्नि की साधारण ऊष्मा से नहीं पिघलता।

विश्व के जितने तत्त्व है, वे परस्पर किसी-न-किसी सम्वन्ध-सूत्र से जुडे हुए है। कोई वस्तु दूसरी वस्तु से सर्वथा सदृश नही है और सर्वथा विसदृश भी नही है। हम कुछ वस्तुओं को सदृश मानते है और कुछ को विसदृश। इसका हेतु वस्तु की वास्तविकता नही है। यह हमारी दृष्टि का अन्तर है। हम सदृशता देखना चाहते है तव उसे भी देख लेते है और विसदृशता देखना चाहते है तव उसे भी देख लेते है। वस्तु मे दोनो है, इसलिए जिसे देखना चाहे उसका मिलना स्वाभाविक वात है।

सदृशता और विसदृशता का सिद्धात वस्तु की यथार्थता है, इसलिए कोई भी यथार्थवादी विचार एकांगी नही हो सकता, अपेक्षा से शून्य नही हो सकता।

भगवान् महावीर ने विचार और व्यवहार—दोनो क्षेत्रो मे समन्वय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसकी परम्परा ने विचार के क्षेत्र मे समन्वय के सिद्धात की सुरक्षा ही नही की है, उसे विकसित भी किया है। किन्तु व्यवहार के क्षेत्र मे उसकी विस्मृति ही नही की है, उसकी अवहेलना भी की है।

हरिभद्रसूरि ने नास्तिक को दार्शनिको के मच पर उपस्थित कर दर्शन जगत् को समन्वय की शक्ति से परिचित करा दिया। आस्तिक दर्शन नास्तिक को दर्शन की कक्षा मे सम्मिलित करने की कल्पना नही करते थे। हरिभद्र ने उसे आकार दे दिया।

उपाध्याय यशोविजयजी के सामने प्रश्न आया कि आस्तिक कौन और नास्तिक कौन ? उन्होने समन्वयदृष्टि से देखा और वे कह उठे—'पूरा नास्तिक कोई नही है और पूरा आस्तिक भी कोई नही है। चार्वाक आत्मा को नही मानता, इसीलिए नास्तिक है तो एकान्तवादी दर्शन वस्तु के अनेक धर्मो को नही मानते, फिर वे नास्तिक कैसे नही होगे ? धर्मो को स्वीकार करने वाले एकान्तवादी दर्शन, यदि आस्तिक है तो पृथ्वी आदि तत्त्वो को स्वीकार करने वाला चार्वाक आस्तिक कैसे नही है ?'

आचार्य अकलक ने कहा—'आत्मा चैतन्य धर्म की अपेक्षा से आत्मा है, शेप धर्मो की अपेक्षा से आत्मा नही है। आत्मा और अनात्मा मे समान धर्मो की कमी नही है।'

सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलक, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यो ने समन्वय की परम्परा को इतना उजागर किया कि जैन-दर्शन का सिन्धु सव

दृष्टि-सरिताओ को समाहित करने मे समर्थ हो गया।

वेदान्त का अद्वैत जैन-दर्शन का सग्रह नय है। चार्वाक का भौतिक दृष्टिकोण जैन-दर्शन का व्यवहार नय है। बौद्धो का पर्यायवाद जैन-दर्शन का ऋजुसूत्र नय है। वैयाकरणो का शब्दाद्वैत जैन-दर्शन का शब्द नय है। जैन-दर्शन ने इन सब दृष्टिकोणो की सत्यता स्वीकार की है, किन्तु एक शर्त के साथ। शर्त यह है कि इन दृष्टिकोणो के मन के समन्वय के धागे मे पिरोए हुए हो तो सब सत्य है और वे अपनी सत्यता प्रमाणित कर दूसरो के अस्तित्व पर प्रहार करते हो तो सब असत्य है। समन्वय का बोध सत्य का बोध है। समन्वय की व्याख्या सत्य की व्याख्या है। अनन्त सत्य एक दृष्टिकोण से गम्य और एक शब्द से व्याख्यात नही हो सकता।

समन्वय सिद्धान्त के प्रसंग मे एक जिज्ञासा उभरती है कि महावीर ने सब दर्शनो की दृष्टियो का समन्वय कर अपने दर्शन की स्थापना की या उनका कोई अपना मौलिक दर्शन है ?

महावीर के दो विशेपण है—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी। वे सबको जानते थे और सबको देखते थे। सर्वज्ञान और सर्वदर्शन के आधार पर उन्होने अपने दर्शन की व्याख्या की। उसका मौलिक स्वरूप यह है कि प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त धर्म है और प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्म से युक्त है। एक द्रव्य में अनन्त विरोधी युगल एक साथ रह रहे हैं। यह सिद्धान्त विभिन्न दृष्टियो के समन्वय से निष्पन्न नही हुआ है। किन्तु इस सिद्धान्त से समन्वय का दर्शन फलित हुआ है। समन्वय का सिद्धात मौलिक नही है। मौलिक है एक द्रव्य मे अनन्त विरोधी युगलों का स्वीकार और प्रतिपादन।

सामान्य और विशेष—ये दोनो द्रव्य के धर्म है। इसलिए महावीर को समझने वाला सामान्यवादी वेदान्त और विशेपवादी बौद्ध का समर्थन या विरोध नही कर सकता। वह दोनो मे समन्वय देखता है, संगति देखता है। जब हम पर्याय की ओर पीठ कर द्रव्य को देखते है तब हमे सामान्य, केवल सामान्य, अद्वैत, केवल अद्वैत दिखाई देता है और जब हम द्रव्य की ओर पीठ कर पर्याय को देखते है तब हमे विशेप, केवल विशेप, द्वैत, केवल द्वैत दिखाई देता है। किन्तु महावीर को समझने वाला इस बात को नही भूलता कि कोई भी द्रव्य पर्याय से शून्य नही है और कोई भी पर्याय द्रव्य से शून्य नही है। केवल सामान्य या केवल विशेप को देखना दृष्टि के कोण है, मर्यादाए है। वास्तविकता के सागर मे सामान्य और विशेप—दोनो एक साथ तैर रहे है।

न सर्वथा विरोध : न स र्वथा अविरोध

अनेकान्त ने दोनो के मध्य रहे हुए संबध की खोज की और तीसरा नियम दिया कि चेतन और अचेतन में न सर्वथा विरोध है और न सर्वथा अविरोध है। हम नही कह सकते कि चेतन अचेतन का सर्वथा विरोधी है और यह भी नही कह सकते कि अचेतन चेतन का सर्वथा विरोधी है। यदि वे सर्वथा विरोधी होते तो आत्मा अलग होती, शरीर अलग होता। आत्मा और शरीर-दोनो इसीलिए जुडे हुए है कि उनमें सर्वथा विरोध नही है। बहुत वार यह प्रश्न दार्शनिक जगत् मे उभरता है कि अमूर्त्त आत्मा मूर्त शरीर के साथ कैसे जुडी ? अमूर्त आत्मा मूर्त कर्म के साथ कैसे जुडी ? चेतन आत्मा अचेतन शरीर के साथ कैसे जुडी ? यदि हम दोनो को सर्वथा विरोधी मान ले तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नही दिया जा सकता। यदि हम यह माने कि ये दोनो सर्वथा विरोधी नही है तो समाधान मिल सकता है। सर्वथा विरोध हो तो जुडे नही रह सकते।

पुत्र ने कहा-पिताजी ! आज से मै आपके साथ भोजन नही करूगा। मै आपसे अलग होना चाहता हू। पिता बोला-कोई कठिनाई नही है। इतने दिन तुम मेरे साथ भोजन करते थे, आज से मै तुम्हारे साथ भोजन किया करूगा।

ऐसा ही है सम्बन्ध चेतन और अचेतन के वीच। वे कभी अलग नही होते, जुडे हुए रहते है। दोनो एक दूसरे का पूरा उपयोग करते है। चेतन अचेतन का उपयोग कर रहा है और अचेतन चेतन का उपयोग कर रहा है। चेतन अचेतन को टिकाए हुए है और अचेतन चेतन को टिकाए हुए है। नियम यही है कि दोनो मे सर्वथा विरोध नही है। दोनो मे सर्वथा विलक्षणता नही है। दोनो मे साम्य भी है। जितने भी वस्तु-धर्म है वे सव एक दूसरे की पूरकता मे चल रहे है। केवल पर्यायो का भेद है। जब हम व्यक्त पर्यायों के अधार पर देखते है तो भेद दिखाई देता है। केवल भेद, भेद और भेद। जब हम अव्यक्त पर्यायो को देखते है तब अभेद दिखाई देता है। केवल अभेद, अभेद और अभेद।

हमारा प्राणी जगत् बहुत स्पष्ट है। प्राणी जगत् मे वनस्पति, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, पशु, मनुष्य आदि भेद ही भेद दिखाई देता है, क्योंकि हम व्यक्त पर्याय को देखते है। जब हम अव्यक्त पर्याय को देखना प्रारम्भ करेगे तब सारा उलट जाएगा, मिट जाएगा,। केवल बचेगा चैतन्य। वह सब प्राणियो मे समान है। वनस्पति मे चैतन्य है। कीडो-मकोडो में चैतन्य है। पशु और आदमी मे चैतन्य है। चैतन्य, केवल चैतन्य बचेगा। सारे पर्दे हट जाएंगे। केवल एक शेष रहेगा, सब मिट जाऐगे। अभेद रहेगा

चैतन्य रहेगा । सारे भेद समाप्त हो जाएगे। भेद और अभेद, विरोध या अविरोध—यह मात्र पर्यायो का विश्लेषण है। वस्तु मे दोनो धर्म एक साथ रहते है। विरोध और अविरोध, अस्तित्व और नास्तित्व, सत्ता और असत्ता, शाश्वतता और अशाश्वतता—ये युगल एक साथ रहते है। केवल पर्याय का अन्तर है, हमारे देखने के कोण का अन्तर है। हम स्थूल पर्याय को देखते हैं और उसी के आधार पर वस्तु का विश्लेषण कर देते है। एक वात को फिर हम समझ लें कि हमारे सारे निर्णय, सारी मान्यताएं, सारी धारणाए और सिद्धान्त स्थूल नियमो के आधार पर वनते है। उनको हम शाश्वत नियम न माने, यथार्थ न माने, सूक्ष्म जगत् के नियम न माने ।

निश्चय और व्यवहार

अनेकान्त ने सूक्ष्म और स्थूल—दोनो नियमो की व्याख्या की और दो कोण हमारे सामने प्रस्तुत कर दिए। एक कोण है—निश्चय नय और दूसरा कोण है—व्यवहार नय। यदि सूक्ष्म सत्यो को जानना हो तो निश्चय नय का सहारा लो और स्थूल नियमो को जानना हो तो व्यवहार नय का सहारा लो। जब ये दोनो नय सापेक्ष होते है, समन्वित होते है, तब हम इस सचाई तक पहुंच जाते है कि भेद और अभेद भिन्न-भिन्न नही, किन्तु समन्वित रहते है। अस्तित्व और नास्तित्व भिन्न नही होते, किन्तु समन्वित रहते है। समन्वय की एक वडी धारा हमारे सामने प्रवाहित हो जाती है। इसी समन्वय की धारा के आधार पर मध्यकाल मे जैन आचार्यों ने वहुत वडा काम किया और प्रत्येक दर्शन के साथ समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया।

एक जैन आचार्य ने लिखा है कि आत्मा और पुद्गल मे कोई अन्तर नही है। केवल एक धर्म का अन्तर है। आत्मा चेतन है, पुद्गल चेतन नही है। आत्मा मे अनन्त धर्म है और पुद्गल मे भी अनन्त धर्म है। उन अनन्त धर्मो मे केवल एक धर्म—चेतन का अन्तर है और कोई अन्तर नही। वहुत ही महत्वपूर्ण कथन है। जव अनन्त धर्मो मे सव मिलते है, केवल एक नही मिलता, तो समानता है ही सवकी। वहुत सारी समानता है। अन्तर डालने वाला एक ही मुख्य गुण होता है।

समानता की अनुभूति

गुण दो प्रकार के होते है—सामान्य गुण और विशेष गुण। सामान्य गुण चेतन और अचेतन सव मे समानरूप से मिलता है। आत्मा चेतन होते हुए भी अमूर्त है और अचेतन पदार्थ भी अमूर्त होते है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय अचेतन है, पर है अमूर्त। इस दृष्टि मे चेतन आत्मा और अचेतन धर्मास्तिकाय समान है। दोनो पुद्गलातीत और अभौतिक है। धर्मास्तिकाय द्रव्य है पर भौतिक नही है, अभौतिक है। हम वहुत वार कह देते है कि

आत्मा अभौतिक है। परन्तु क्या धर्मास्तिकाय अभौतिक नही है ? है। दोनो (आत्मा और धर्मास्तिकाय) मे बहुत बडी समानता है। समानता अधिक है। असमानता कम है। जो स्थूल पर्याय को पकडता है वह असमानता को पकड लेता है, समानता को छोड देता है। इसीलिए विवाद, सम्प्रदायवाद, सघर्ष आदि होते है। स्थूल पर्यायो के आधार पर ये सब घटित होते है। बाह्य जगत् मे भिन्नता अधिक है, समानता कम और अन्तर् जगत् मे समानता अधिक है, भिन्नता कम है। हम ध्यान के इस उपक्रम के द्वारा यही करना चाहते है कि हमारी ऐसी दृष्टि विकसित हो जाए, प्रज्ञा इतनी निर्मल हो जाए कि हम असमानता के नीचे छुपी हुई समानता को देख सके।

कबीर का बेटा कमाल घास काटने जगल मे गया। साझ तक घर नही लौटा। कबीर चिन्तित हो गए। वे उसे खोजते-खोजते जगल मे पहुचे। उन्होने देखा—कमाल पागल की तरह खडा है निष्क्रिय। वह घास को देख रहा है, काट नही रहा है। कबीर ने उसे झकझोरा। पूछा—क्या कर रहे हो ? सूर्य अस्त हो चुका है। घास काटा ही नही ? कमाल बोला—किसे काटू ? क्या अपने आपको काटू ? जैसी प्राणधारा मेरे भीतर प्रवाहित हो रही है, वैसी ही प्राणधारा इस घास के भीतर प्रवाहित होते हुए देख रहा हू। अब कैसे काटू ? किसे काटू ? अब कमाल घास नही काट सकता।

इस समानता की अनुभूति को भगवान् महावीर ने इस प्रकार अभिव्यक्ति दी—'**तुमसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि**'—पुरुष ! तू जिसे मारना चाहता है, वह तू ही है। इसी सन्दर्भ मे समानता की अनुभूति के उनके ये वाक्य मननीय है—

तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।
—जिसे तू आज्ञा मे रखने योग्य मानता है, वह तू ही है।
तुमंसि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि।
—जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है।
तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि।
—जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है।
तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि।
—जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है।

यह परम सत्य की अनुभूति अनेकान्त के आधार पर हुई है। अनेकान्त को वही स्वीकार कर सकता है जो राग-द्वेष से विमुक्त है। जिस व्यक्ति मे राग-द्वेष की प्रचुरता है वह अनेकान्त को कभी स्वीकार नही कर सकता। वास्तव मे अनेकान्त ध्यान का दर्शन है, साधना का दर्शन है। जिस व्यक्ति की चेतना निर्मल होती है, राग-द्वेष से विमुक्त होती है, उसमे अनेकान्त की

दृष्टि जागती है, सत्य की प्रज्ञा जागती है, अन्यथा नही ।

सफलता का सूत्र : संभावनाओं का स्वीकार

पर्याय अनन्त है। हमारे भीतर अनन्त संभावनाएं छिपी हुई है। कोयला हीरा वन सकता है। आज तो यह निश्चित मान्यता हो गई कि कोयला ही हीरा वनता है। कोयले मे हीरा वनने की सभावना छिपी हुई है। हर पदार्थ मे सव कुछ वनने की संभावाना होती है। यह अनेकान्त की स्वीकृति है। असंभावना तो वहुत ही थोडी है। चेतन अचेतन नही वन सकता और अचेतन चेतन नही वन सकता। इसके अतिरिक्त सव कुछ वना जा सकता है। कोई भी ऐसा नियम नही है कि जो एक दूसरे मे न वदल सके या न वन सके। सव कुछ वना जा सकता है। सारी संभावनाए है। मिट्टी के एक कण मे सारे वर्ण, सारे गंध और सारे स्पर्श होते है। मिट्टी का एक कण चीनी से अनन्त गुना मीठा होता है।

आदमी इसीलिए निराश होता है कि वह अनेकान्त के नियम को नही जानता। वह इस वात को भूल जाता है कि कोई भी पर्याय शाश्वत नही होता। हर पर्याय वदलता रहता है। आज रोग का पर्याय प्रगट हुआ है, हमारा प्रयत्न चले तो नीरोगता का पर्याय प्रगट हो सकता है। आज दु:ख का पर्याय अभिव्यक्त हुआ है तो कल सुख का पर्याय अभिव्यक्त हो सकता है। जिस व्यक्ति में इस संभावना को मानने की क्षमता होती है वह कभी दु:खी नहीं होता, वह कभी रोगी नही होता। वह कभी खाट पर पड़े-पड़े जीवन नही विता सकता। वह अपनी सोयी शक्ति को जगा लेता है। सस्कृत साहित्य मे एक कथा आती है। एक विद्वान् राजा के पास जाकर वोला—'राजन् ! अभिवादन स्वीकार करे। मै आपके आतिथ्य मे आया हूं।' राजा ने कहा—'किसने निमत्रण दिया, किसने वुलाया, ऐसे फटेहाल व्यक्ति को ?' उसने कहा' महाराज ! मैं आपका भाई हू। मुझे निमंत्रण की क्या आवश्यकता है ? राजा सहम गया। पूछा—मेरे भाई कैसे ? मूर्ख हो तुम। पागल हो तुम। उसने कहा–'महाराज ! आपने मुझे पहचाना नही। मैं आपका मौसेरा भाई हूं, सगा नही।" राजा ने कहा—वात समझ मे नहीं आई। उसने कहा—

'आपदा च मम माता, तव माता च सम्पदा।
आपत्सम्पदे भगिन्यौ, तेनाहं तव बान्धवः ॥'

राजन् ! मेरी मां का नाम है आपदा और आपकी मां का नाम है सम्पदा। आपदा और सम्पदा—दोनों सगी वहिने हैं। मैं आपकी मौसी आपदा का लड़का हू। आपका मौसेरा भाई हू।

राजा उस ब्राह्मण की उक्ति पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे भरपूर पुरस्कार देकर भाई-सा वना डाला।

अनेकान्त है जीवन-दर्शन

कुछ भी अलग नही है। सब कुछ जुडा हुआ है। सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद, सर्वथा विरोध या सर्वथा अविरोध, सर्वथा अपना या सर्वथा पराया—यह केवल विपर्यय है, यथार्थ नही। यदि हमे यथार्थ के साथ रहना है तो हमे जीवन और व्यवहार मे अनेकान्तदृष्टि को विकसित करना होगा। सबसे बडी भूल यह हुई कि हमने अनेकान्त को तत्ववाद मान लिया। यही मान लिया है कि तत्व की व्याख्या मे ही अनेकान्त का उपयोग होता है। यह भूलभरी मान्यता है। जो व्याख्या जीवन के साथ नही जुडती, वह तत्त्व के साथ भी नही जुड सकती। जीवन भी तो एक तत्त्व है। वह महान् तत्त्व है। सारी व्याख्याए उसी से निकलती है। सारे सिद्धान्त, धारणाएं और वाद उसी मे से निकलते है। जीवन से अलग-थलग किसी तथ्य या तत्व की व्याख्या नही हो सकती। जिस तत्त्व का जीवन के साथ कोई स्पर्श ही नही होता, उसका किसी के साथ स्पर्श नही हो सकता। **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** जिसने यह सूत्र दिया उसने वहुत ही महत्वपूर्ण वात दी। जितना सत्य पिण्ड मे है, उतना ब्रह्माण्ड मे है। जितना ब्रह्माण्ड मे है, उतना पिण्ड मे है।

बहुत विलक्षण है हमारा जीवन और वहुत विलक्षण है हमारा शरीर। इस शरीर मे अनन्त सत्य छिपा हुआ है। स्थूलदृष्टि से लगता है—ये पैर है और ये आखे है। यथार्थ मे ये दो कहां है? यदि वास्तव मे ये दो हो तो आयुर्वेद के आचार्यो का यह कथन मिथ्या हो जाता कि यदि आंख बीमार हो तो पैर की अगुलियो पर दवा लगाओ, आख ठीक हो जाएगी। वहुत विचित्र लगता है यह कथन। किन्तु यह यथार्थ से परे नही है। मुह पर जैसे आखे है, वैसे ही पैरो मे भी है। पिच्यूटरी ग्लांड यदि भृकुटि के बीच मे है तो वह पैर के अंगूठे मे भी है। जितने ग्लांड या अन्य अवयव ऊपर है, उतने ही नीचे पैरो में है। आज वे सब विज्ञान द्वारा सम्मत है। सारा शरीर एक है, जुडा हुआ है। इसी सिद्धान्त के फलस्वरूप एक्यूपंक्चर और एक्यूप्रेसर चिकित्सा प्रणालियो का विकास हुआ है। समूचे शरीर मे सवादी अंग है। पैर का दर्द है। रीढ की हड्डी को दवाओ, वह दर्द मिट जाएगा। पैर के अंगूठे को दवाते ही सिर दर्द मिट जाता है। दवाने की विधि होती है, उसका ज्ञान आवश्यक है।

दृष्टि-परिवर्तन का हेतु

अनेकान्त जीवन की एक प्रशस्त पद्धति है। उस पद्धति का प्रारम्भ होता है दृष्टि-परिवर्तन के द्वारा। दृष्टि जव सम्यक् नही होती तब हमारी धारणाए सूक्ष्म और स्थूल दोनो जगत् के द्वारा छनकर नही आती। जब तक हमारा ज्ञान व्यक्त और अव्यक्त—दोनो पर्यायो के समन्वय से नही होता

तब तक हम सही निर्णय नही ले पाते और आपदाओं से बचना तब सम्भव नही होता। वस्तु का स्वभाव बहुत बडा सत्य है। इसकी हम अवहेलना न करे। उसे समझने का प्रयत्न करे। कोई भी व्यक्ति वस्तु-सत्यो को उलट-कर, उन नियमो के विपरीत चलकर सुखी नही बन सकता। सुखी और शांत जीवन वही जी सकता है जो वस्तु-सत्यों को मानकर चलता है, न कि अपनी धारणाओ के अनुसार सत्य को ढालने का प्रयत्न करता है। प्रायः होता यह है कि मनुष्य वैसा बनना नही चाहता किन्तु आदर्श को अपने अनुकूल ढालने का प्रयत्न करता है, उसे नीचे उतार लेना चाहता है। कोई भी व्यक्ति-भगवान् की ऊचाई तक पहुचना नही चाहता, किन्तु भगवान् को अपने धरातल पर ले आना चाहता है। यही विकृति है, यही मिथ्या-दृष्टिकोण है। यदि यह दृष्टिकोण बदल जाए और सत्य को अखड और शाश्वत नियम मानकर चले तो फिर दुखी होने का कोई रास्ता ही नही बचता।

अनेकान्त की दृष्टि का फलित समन्वय और सद्भाव है। इसके लिए समन्वय के पांच सूत्रों का अधिक-से-अधिक प्रसार किया जाए। पाच सूत्र इस प्रकार है—

१. मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरो पर मौखिक अथवा लिखित आक्षेप न किया जाए।

२. दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३. दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियो के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४. कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

५. धर्म के मौलिक तथ्यो—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

स्यात् शब्द का नया अर्थ

केवली, भगवान् या सर्वज्ञ अनन्त सत्य को जान लेते है, किन्तु उनमे भी यह क्षमता नही है कि वे अनन्त सत्य को कह सके। यह असभव है। कोई महान् व्यक्ति, ज्ञानी व्यक्ति, दस-बीस-पचास पर्यायो की अभिव्यक्ति कर सकता है। पूरे सत्य को वह कभी नही कह सकता। उसके द्वारा प्रति-पादित सत्य के कुछेक पर्यायो को पूर्ण सत्य मानकर अवशिष्ट पर्यायों को हम अस्वीकार कर देते है, नकार देते हैं, तब सत्य मे हटकर असत्य की ओर चले जाते हैं। हमारा प्रस्थान असत्य की दिशा मे हो जाता है। इसलिए अनेकान्त ने एक युक्ति प्रस्तुत की। उसने कहा—'तुम असत्य से बच सकते

हो यदि तुम 'स्यात्' शब्द का सहारा लेकर चलते हो। जो कुछ कहो; उसके साथ 'स्यात्' शब्द लगा लो। वह तुम्हें असत्य से वचा लेगा। 'स्यात्' का यहा भावार्थ होगा—'मैं पूर्ण सत्य कहने मे असमर्थ हूं। सत्य का एक पर्याय प्रस्तुत कर रहा हूं।'

प्राचीन साहित्य मे 'स्यात्' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। मैं उसे नए अर्थ मे प्रस्तुत करना चाहता हूं। 'स्यात्' शब्द का अर्थ है—अपनी अक्षमता का स्वीकार, भाषा की अक्षमता की स्वीकृति। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करने वाला व्यक्ति यह स्वीकृति पहले ही दे देता है कि मैं जो कह रहा हूं उसे पूर्ण सत्य मत मान लेना, उसे निरपेक्ष सत्य मत मान लेना, अखण्ड सत्य मत मान लेना। मै केवल सत्य के एक पर्याय का, एक अश का प्रतिपादन कर रहा हूं। तुम्हे केवल एक अंश से परिचित करा रहा हूं। साथ ही साथ मैं पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति मे अपनी असमर्थता प्रकट करता हूं कि मुझसे पूरा सत्य कहा नही जा सकता। मै तुम्हे सत्य के निकट ले जा रहा हू। यह है 'स्यात्' शब्द की सार्थकता।

सापेक्षता महान् विज्ञान है

'स्यात्' शब्द सापेक्षता का सूचक है। उसके विना सत्य को जाना नही जा सकता और उसकी व्याख्या भी नही की जा सकती। यह सचाई ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व प्रकट हो चुकी थी, किन्तु हमारे दार्शनिक इसे पकड़ नही पाए। हमे साधुवाद देना चाहिए आज के वैज्ञानिक को जिसने यह सप्रमाण प्रतिपादित किया कि सापेक्षता के विना सत्य की व्याख्या नही की जा सकती। उसने इस सचाई को इतनी प्रखरता से पकडा कि आज समूचा विज्ञान सापेक्षता के सिद्धान्त पर चल रहा है। सापेक्षता का सिद्धान्त जव तक विकसित नही हुआ था, तव तक की सारी मान्यताएं, विज्ञान की सारी धारणाएं, आज मिथ्या प्रमाणित हो रही है। आज भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे, गणित के क्षेत्र मे, साख्यीकी विज्ञान के क्षेत्र मे, अनेकान्त का खुलकर प्रयोग किया जा रहा है, सापेक्षता का उपयोग मुक्तभाव से हो रहा है। आज विज्ञान की महत्त्वपूर्ण मान्यता है कि सापेक्षता के विना किसी तत्त्व की व्याख्या नही की जा सकती। जव महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने कहा कि देश और काल सापेक्ष है, तव वैज्ञानिक जगत् मे एक भयंकर हलचल हुई थी। अनेक वैज्ञानिकों ने इसको स्वीकार नही किया। उनकी समझ मे नही आ रहा था कि देश और काल सापेक्ष कैसे हो सकते है। किन्तु धीरे-धीरे यह सापेक्षता वुद्धिगम्य होती गई, प्रमाणित होती गई और आज देश, काल की सापेक्षता का सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया। हम सारी घटना की व्याख्या देश और काल के आधार

पर करते है, किन्तु यह भुला देते है कि देश और काल सापेक्ष है। देश-काल के सापेक्ष होने की बात एक वैज्ञानिक ने कही, न कि अनेकान्त और स्याद्वाद को मानने वाले जैनो ने। उन्होने इस दिशा मे कोई महत्वपूर्ण काम नही किया। कितना अच्छा होता कि जो बात आइन्स्टीन ने कही वह बात कोई जैन दार्शनिक कहता, अनेकान्तवाद को मानने वाला प्रतिपादित करता। क्या उनके सामने ये कल्पनाए स्पष्ट नही थी ? सापेक्षता का विचार स्पष्ट नही था ? सारी कल्पनाए और विचार स्पष्ट थे, पर नये सन्दर्भ मे उसके कथन की बात नही सूझी। क्या जैन मानते है कि काल निरपेक्ष है। नही, काल सर्वथा सापेक्ष है। हमने काल को तीन भागो मे विभाजित किया—भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमानकाल। क्यो विभाजित किया ? काल कभी विभक्त होता नही, टूटता नही। काल कभी ऐसा नहीं होता कि आप उसे अतीत माने। आज का वैज्ञानिक इस ओर परीक्षण मे संलग्न है कि दो हजार, पाच हजार वर्ष पूर्व हुए महावीर, बुद्ध, कृष्ण आदि महान् व्यक्ति को साक्षात् सन्देश देते हुए आज के आदमी को दिखा दिया जाए। वर्तमान मे जीने वाला आदमी महावीर को समता और अहिंसा का प्रवचत करते हुए, बुद्ध को करुणा का सन्देश देते हुए और कृष्ण को गीता का उपदेश करते हुए साक्षात् देख ले, उसे दिखा दिया जाए। क्या ऐसा संभव हो सकता है ? साधारण व्यक्ति के लिए यह असम्भव प्रतीत हो सकता है, क्योकि जो मर चुके, समाप्त हो चुके, जिनके पार्थिव शरीर जला दिए गए, उनको कैसे दिखाया जा सकता है ? यह तो अतीत की घटना हो गई। अतीत को वर्तमान के रूप मे कैसे रूपायित किया जा सकता है ? मेरे लिए और आपके लिए यह अतीत की घटना हो सकती है, किन्तु देश और काल को सापेक्ष मानने वाले वैज्ञानिक के लिए यह अतीत की घटना नही है।

छोटा-बडा सब सापेक्ष होता है। हल्का और भारी सापेक्ष होता है। गुरुत्वाकर्षण की सीमा में हल्का भी होता है और भारी भी होता है। जहां गुरुत्वाकर्षण की सीमा समाप्त होती है वहा हल्कापन भी नही रहता और भारीपन भी नही होता। चिकना, मृदु और कठोर—तीनो सापेक्ष है। कौन चिकना ? कौन मृदु ? कौन कठोर ? सारे सापेक्ष है। सारे यौगिक है। हमारी सारी बातें सापेक्ष होती है। जब हम 'स्यात्' शब्द को अस्वीकार कर देते है, अपेक्षा को भुला देते है, वहा बडी कठिनाई पैदा हो जाती है। बतलाया गया है कि देवताओ का आयुष्य करोडो-करोडो वर्षो का होता है। यह आश्चर्यकारी कथन लगता है। परन्तु कोई आश्चर्य नही है। हम सापेक्षता को न भूले। जो अन्तरिक्ष गुरुत्वाकर्षण से परे है, वहा काल की सीमा समाप्त हो जाती है। यहा का हजारों वर्षो का काल-माप वहा एक क्षण जैसा भी नही होता। जैनागमो मे एक प्रसग आता है। कोई व्यक्ति मरा। वह स्वर्ग मे गया। उसने

सोचा–'मै फिर जाऊं मनुष्यलोक मे और अपने परिवार वालो से मिलू। मैं मेरे गुरुजनो से मिलू, मित्रो से मिलू।' मन मे वात आई और उसने तैयारी शुरू की। सव देव वोले–कहां जा रहे हो? उसने कहा–मनुष्यलोक मे जा रहा हू, अपने परिजनो से मिलने के लिए। वे वोले–अभी-अभी आए थे। दो मिनट ठहरो। यहा की रंगरेलियां देखो। वह ठहर जाता है, उसे लगता है क्षण भर हुआ है। वह वहा से चलकर मनुष्यलोक मे आता है। मा, वाप, भाई, वहिन और मित्रो को खोजता है। पूछता है लोगों से, कोई कुछ भी नही वता सकते। हजारो-लाखो वर्ष वीत चुके होते है। हजारो पीढियां वीत चुकी होती है। उसे लगता है–क्षण भर वीता है। पर यहा के हजारो-लाखों वर्ष वीत जाते है।

साधना पथ का समन्वय

सुख के प्रति सवका आकर्पण है। कष्ट कोई नही चाहता पर सुख की उपलब्धि का मार्ग कष्टो से खाली नहीं है। कृपि की निष्पत्ति का सुख उसकी उत्पत्ति के कष्टो का परिणाम है। इस संसार का निसर्ग ही ऐसा है कि श्रम के विना कुछ भी निष्पन्न नही होता।

क्या आत्मा की उपलब्धि श्रम के विना सम्भव है? यदि होती तो वह पहले ही हो जाती। फिर इस प्रश्न और उत्तर की अपेक्षा ही नही रहती।

कुछ लोगो का मत है कि भगवान् महावीर ने सावना के कष्टपूर्ण मार्ग का प्रतिपादन किया। इसे मान लेने पर भी इतना शेप रह जाता है कि भगवान् की साधना मे कष्ट साध्य भी नही है और साधन भी नही है। उनकी साधना अथ से इति तक अहिंसा का अभियान है। हिंसा पर विजय पाना कोई सरल काम नही है। अनादिकाल से मनुष्य पर उसका प्रभुत्व है। उसे निरस्त करने मे क्या कष्टो का आना सम्भव नही है?

महावीर ने कव कहा कि तुम कष्टों को निमंत्रण दो। उन्होने कहा–'तुम्हारे अभियान मे जो कष्ट आये, उनका दृढ़तापूर्वक सामना करो।'

भगवान् ने स्वय तप तपा, शरीर को कष्ट देने के लिए नही, किन्तु सचित सस्कारो को क्षीण करने के लिए। भगवान् अनेकात के प्रवक्ता थे। वे कैसे कहते कि सस्कार-विलय का तप ही एक मात्र विकल्प है। उन्होने ध्यान को तप से अधिक महत्व दिया। उनकी परम्परा का प्रसिद्ध सूत्र है–दो दिन का उपवास दो मिनट के ध्यान की तुलना नही कर सकता।

उनकी साधना मे तप वहिरंग साधन है, ध्यान अंतरंग साधन। उनका साधना-पथ न केवल तपस्या से निर्मित होता है और न केवल ध्यान से। वह दोनो के सामजस्य मे निर्मित होता है। तपस्या के स्थान पर तपस्या

और ध्यान के स्थान पर व्यान। दोनो का अपना-अपना उपयोग।

संभिन्नस्रोतोलब्धि

जैनाचार्यों ने एक यौगिक विभूति का उल्लेख किया है। उसकी संज्ञा है—'सभिन्नस्रोतोलब्धि'। यह एक ऐसी विभूति है, जिससे सारा शरीर 'करण' वन जाता है, इन्द्रिय वन जाता है। फिर यह स्थूल विभाग की वात व्यर्थ हो जाती है कि आंख ही देख सकती है, कान ही सुन सकता है आदि-आदि। इस विभूति के प्रगट होने पर शरीर का प्रत्येक अवयव पांचो इन्द्रियो का काम करने लग जाता है। समूचा शरीर देख सकता है, समूचा शरीर सुन सकता है। कुछ लडकिया हैं जो अगुलियो से पढ़ सकती है। आंख का काम अंगुलियो से करती है। यह तथ्य अनेक वैज्ञानिकों को आश्चर्य मे डाले हुए है। प्रत्यक्ष को नकार नही सकते। वे यह कह नही सकते कि अंगुलियो से नहीं पढ़ा जा सकता। किन्तु क्यो और कैसे पढा जाता है—इसकी व्याख्या नही कर सकते। यह विपय अभी विज्ञान मे परे है। वैज्ञानिक इसे समझने का प्रयास कर रहे है। किन्तु यह तथ्य हजारो वर्ष पूर्व स्वीकृत हो चुका है कि समूचा शरीर हर इन्द्रिय का काम कर सकता है। एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियो का काम लिया जा सकता है या समूचे शरीर से किसी भी इन्द्रिय का काम लिया जा सकता है। यह भी एक प्रकार का समन्वय है।

अनेकान्त की सार्थकता

यदि हम अपने भीतर छुपे हुए चोर को और अपने भीतर छुपे हुए साहूकार को पहचान सकें और उस पहचान के वाद भीतर के चोर को सुलाकर साहूकार को जगा सके तो अनेकान्त की सार्थकता हमारे व्यवहार में हो सकती है। इसीलिए ध्यान और साधना चल रही है। हम इसमे सलग्न है। ध्यान के विना अनेकान्त का मार्ग स्पष्ट और प्रशस्त नही होता। ध्यान इसलिए कर रहे हैं कि जो पर्याय अव्यक्त है, जो साहूकार सोया पडा है, उस साहूकार को जगा सके, उन पर्यायों को व्यक्त कर सकें। और जो चोर जागा हुआ है, उसे सुला सकें, मुख्य को गौण कर सके ओर गौण को मुख्य कर सकें। जो कुर्सी पर वैठा है उसे नीचे विठा सकें ओर जो नीचे वैठा है उसे कुर्सी पर विठा सके।

आज यह वहुत आवश्यक प्रतीत होता है कि शिक्षक वर्ग मे ध्यान और जीवन-विज्ञान का समन्वय हो। इसी के आधार पर वे नया चिन्तन देने में सक्षम हो सकते है। अभी-अभी राजस्थान के एजुकेशन कमीश्नर ए० के० भटनागर वेंकोक जाकर आए है। वे वता रहे थे कि वहां की सरकार अपने कर्मचारियो के लिए ध्यान की व्यापक व्यवस्था पर चिन्तन कर रही है। सभी देशो मे यही चिन्ता व्याप्त है कि आदमी के व्यवहारो को, आचरणो को कैसे

वदला जाए। आज शिक्षको को ध्यान शिविर मे भाग लेते देखकर वे वहुत प्रसन्न हुए और माना कि यह सद्यस्क अपेक्षा है। आज व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र मे जो विभिन्न प्रकार की चिन्ताए व्याप्त है उनसे मुक्त होने के लिए नए चिन्तन की जरूरत है, नए दर्शन की जरूरत है। वह नया चिन्तन और नया दर्शन ध्यान और कर्म–दोनों का समन्वय ही हो सकता है, जीवन-विज्ञान और पुस्तकीय ज्ञान–दोनो का समन्वय हो सकता है।

सम्प्रदाय निरपेक्षता अनुप्रेक्षा

भगवान महावीर ने तीर्थ की स्थापना की। साधना को सामुदायिक रूप दिया, फिर भी वे सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न-भिन्न मानते थे।

उन्होने कहा—'एक व्यक्ति सम्प्रदाय को छोड़ देता है पर धर्म को नहीं छोडता। एक व्यक्ति धर्म को छोड देता है, पर सम्प्रदाय को नही छोड़ता। एक व्यक्ति दोनों को छोड़ देता है। एक व्यक्ति दोनो को नही छोड़ता।'

सम्प्रदाय धर्म की उपलब्धि मे सहायक हो सकता है। इस दृष्टि से उन्होने संघवद्धता को महत्व दिया किन्तु धर्म को सम्प्रदाय से आवृत नहीं होने दिया। उन्होने कहा—जो दार्शनिक लोग कहते हैं कि हमारे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नही, वे भटके हुए है और वे भी भटके हुए है, जो अपने-अपने सम्प्रदाय की निन्दा करते है। धर्म की आराधना सम्प्रदायातीत होकर, सत्याभिमुख होकर ही की जा सकती है। सम्प्रदाय एक साधन है, जीवन-यापन की परस्परता या सहयोग है। वह व्यक्ति को प्रेरित कर सकता है, किन्तु वह स्वयं धर्म नही है। सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न-भिन्न मानने वाले साधक के लिए सम्प्रदाय धर्म-प्रेरक होता है, धर्म-साधक नही।

आज एक नई कठिनाई पैदा हो गई है। आज के लोग धर्म और सम्प्रदाय या मजहव को एक मान वैठे हैं। लोग कह देते हैं, धर्म के कारण कितनी लड़ाइया लडी गई ? कितना रक्त वहा ? कितने देश उजड़े ? धर्म के कारण ऐसा कभी नही हुआ और न होगा। यह सव होता है सम्प्रदाय के कारण। धर्म और सम्प्रदाय इतने घुलमिल गये कि जो सम्प्रदाय के नाम पर घटित हुआ, वह सारा धर्म पर आरोपित हो गया। इसलिए धर्म को वदनाम होना पडा। यदि कोई आदमी धर्म तक पहुच जाए तो वहा न लडाई है, न द्वेष है और न झझट है। धर्म का अर्थ है, राग-द्वेप-मुक्त जीवन जीना। जव कोई भी आदमी राग-द्वेप-मुक्त जीवन जीएगा तो लड़ाइया कहा उभरेगी ? लडाइया धर्म के कारण नही, सम्प्रदाय के कारण हुई है, होती है। सम्प्रदाय के आवरण मे वेचारा धर्म आवृत हो गया। इसीलिए आज धर्म की भापा समझ मे नही आ रही है। यह एक समस्या है।

इस समस्या को सुलझाने के लिए हमने एक प्रक्रिया प्रारभ की। उसमे धर्म शब्द का उपयोग नही किया। मैं मानता हू कि धर्म शब्द वहुत ही मूल्यवान है। उसका अर्थ गम्भीर है। किन्तु परिस्थितिवश उसका अर्थ

वदल गया। भापाशास्त्र के अनुसार शब्दों के अर्थ का उत्क्रमण और अपक्रमण होता है। अर्थ का ह्रास और विकास होता है। आज एक दृष्टि से धर्म शब्द सम्प्रदाय का द्योतक वन गया। उसका अर्थ भी कुछ वदल गया। इसीलिए नए शब्द के चुनाव की अपेक्षा हुई। हमने सोचा कि जीवन विकास के लिए कोई ऐसा शब्द चुना जाए जो धर्म की मूल भावनाओं का स्पर्श करने वाला हो। जीवन मे धर्म का विकास, अध्यात्म का विकास और नैतिकता का विकास करने वाला वह शब्द हो। ये शब्द आज विवाद का विपय वन गए है, इसलिए नए शब्द को ढूढना चाहिए जो आज के मानस का स्पर्श कर सके, पर कोई प्रतिक्रिया पैदा न करे। इन दृष्टियों से सोचने पर एक शब्द जंचा और वह है—'जीवन-विज्ञान'। इसकी प्रक्रिया का किसी धर्म-विशेप या सम्प्रदाय-विशेप से सम्वन्ध नही है। इसका सीधा सम्वन्ध है, जीवन से। प्रत्येक प्राणी को जीवन-विज्ञान का अनुभव होना चाहिए। जीवन के साथ विज्ञान शब्द इसलिए जुडता है कि जीवन के अपने नियम है। प्रत्येक वस्तु के साथ नियम जुड़े हुए हैं। कुछ हमे ज्ञात है, कुछ अज्ञात है। सारे नियम हम नही जानते। अनेक नियम अज्ञात ही रह जाते हैं। जैसे-जैसे विकास हो रहा है अज्ञात नियम ज्ञात होते जा रहे हैं। मनुष्य इन ज्ञात नियमो का उपयोग करता है। किन्तु जो ज्ञात हुआ है, वह एक विन्दु मात्र है, अज्ञात का समुद्र अभी भी अछूता ही पडा है। ज्ञात अल्प है, अज्ञात अनन्त है। हमारे जीवन के भी अनन्त नियम है। जीवन विकास के अनगिनत नियम है। हम वहुत थोडे नियमो को जानते है और जैसे-जैसे आगे वढते है, जानने की सीमा भी आगे वढती जाती है। हम जीवन के नियमों को जान सकें, उनका उपयोग कर सके और सफलता की दिशा मे जीवन को आगे वढ़ा सकें—यह है जीवन-विज्ञान का उद्देश्य।

जीवन-विज्ञान का एक अर्थ है—जीवन के नियमो की खोज। उन नियमो की खोज जिनके द्वारा दृष्टिकोण का परिष्कार किया जा सकता है, व्यवहार और आचरण का रूपान्तरण किया जा सकता है।

जीवन के तीन मुख्य पक्ष है—ज्ञानात्मक पक्ष, भावनात्मक पक्ष और क्रियात्मक पक्ष। हम जानते है, यह हमारा ज्ञानात्मक पक्ष है। हम भावना से जुडे हुए है, यह हमारा भावनात्मक पक्ष है। हम आचरण करते है, यह हमारा क्रियात्मक पक्ष है।

दर्शन वही है जो जीया जा सके

हमारा दृष्टिकोण सत्यग्राही होना चाहिए। इसी विचार से जैन आचार्यो ने नयवाद का विकास किया। कही भी आग्रह नही। नयवाद के दो आधार वनते हैं—सापेक्षता और समन्वय। व्यक्ति और समाज हमारे सामने

है। कुछ लोग एकान्तत. व्यक्तिवादी वृत्ति के होते है। वे सारा भार व्यक्ति पर डाल देते है। कुछ लोग समाज का आग्रह रखते हैं। राजनीतिक प्रणालियों मे, समाजवादी और साम्यवादी प्रणाली मे केवल समाज पर सारा भार डाल दिया जाता है। इधर व्यक्ति का विकास सव कुछ है तो उधर समाज का विकास ही सव कुछ है। किन्तु व्यक्ति और समाज के सम्वन्धों का तव तक सम्यक् निर्धारण नही किया जा सकता जव तक कि हमारा दृष्टिकोण सापेक्ष नही होता। व्यक्ति-निरपेक्ष समाज और समाज-निरपेक्ष व्यक्ति का कोई मूल्य नही होता। समाज-सापेक्ष व्यक्ति और व्यक्ति-सापेक्ष समाज का ही मूल्य हो सकता है और तभी सम्यक् विकास की प्रक्रिया को आगे वढाया जा सकता है।

सत्यग्राही दृष्टिकोण का एक सूत्र है—सापेक्षता। यह सापेक्षता प्रातिभ-ज्ञान और तार्किकज्ञान मे भी विकसित होती है। केवल तार्किकज्ञान नही, केवल अन्तर्दृष्टि का ज्ञान नही, केवल अध्यात्म नही और कोरा व्यवहार नही। कोरा व्यवहार होता है तो स्थूलता आ जाती है। इतनी स्थूलता कि सत्य कही छूट जाता है। कोरा निश्चय होता है तो अध्यात्म में कोई शक्ति नही आती। दोनो जरूरी होते हैं। यानी सम्प्रदाय भी आवश्यक है और अध्यात्म भी आवश्यक है। अगर सम्प्रदाय-शून्य अध्यात्म होता है तो वह कुछ व्यक्तियो के लिए काम का होता है, जनता के लिए कोई काम का नहीं वनता। कुछ व्यक्ति कन्दराओ मे वैठकर अध्यात्म की साधना कर ले, पर शेष लोग विलकुल वचित रह जाते है और उनके जीवन का कोई मार्ग निश्चित नही होता। जरूरी है समाज, जरूरी है सघ, जरूरी है सगठन और जरूरी है सम्प्रदाय। जो लोग संगठन का विरोध करते है, सम्प्रदाय का विरोध करते है, संघ का विरोध करते है, केवल अकेलेपन की वात करते है, वे भी सचाई को नही पकड पा रहे हैं। उनका भी आग्रह हो गया कि अकेला होना अच्छा है। एक-दो आदमी अच्छे हो गए। उससे हुआ क्या? उनका दृष्टिकोण भी रूढिवादी हो गया। एक-दो व्यक्ति अच्छे हो गए, किन्तु जिस दुनिया मे जीना है, क्या वह अकेला व्यक्ति भी रह सकेगा। पहले तो मान लिया जाता था कि हिमालय की कंदरा मे जाकर वैठ गया, अव वह शांति का जीवन जी सकता है। किन्तु एक ओर तो अणुअस्त्रों की विभीषिका, सारा वातावरण प्रदूपण से व्याप्त, इस स्थिति मे क्या हिमालय वचा रह पाएगा? कभी सम्भव नही। आज हिमालय भी प्रदूपण से वंचित नही है। दुनिया का कोई भी कोना प्रदूपण से वंचित नही है। कहां जाएगा? कौन-सी गुफा है? कौन-सी कदरा है जहां जाकर व्यक्ति अकेलेपन का अनुभव कर सके? यह संक्रमण की दुनिया है। एक विचार यहां वैठे व्यक्ति के मन मे पैदा होता है, और उस विचार के परमाणु सारे संसार मे फैल जाते है। न हिमालय

वचता है और न कोई गुफा ही वचती है। इस संक्रमण की दुनिया मे हमारे पास ऐसा कौन-सा कवच है कि हम अपने आपको सर्वथा वचा सके। इस दिशा मे वीतराग लोगो ने भी प्रयास किया कि दुनिया भी अच्छी वने, जनता भी अच्छी वने। अच्छे लोगो का सघ वने, समाज वने, समुदाय वने। यदि ऐसा नही वनता है तो विकट स्थिति पैदा हो जाती है। वीतराग को भी जीवन जीना होता है। मन पर प्रभाव चाहे न आए, किन्तु उसके शरीर पर तो प्रभाव पड़ेगा ही। वह मानसिक विचारों से वीमार नही पड़ेगा किन्तु दुनिया के वातावरण से तो वीमार वन सकता है। खान-पान से तो वीमार वन सकता है। तो जिस दुनिया के वीच मे जीना है, जिस जनता के मध्य जीना है, उसको वीतरागता की दिशा मे प्रेरित करना, यह वीतराग का भी धर्म और कर्त्तव्य होता है। इसीलिए संघ-सम्प्रदाय कोई वुरी वात नही है। वह वहुत आवश्यक है। किन्तु केवल संघ, संगठन और सम्प्रदाय मे ही हमारी दृष्टि अटक जाए, तो यह वुरी वात है। हमे संघ और सम्प्रदाय मे जो सचाई है, जो सत्य है, उसका अवतरण करना है, निश्चयदृष्टि का आलम्वन लेना है, अध्यात्म को विकसित करना है। नही तो वह थोथा हड्डियों का ढांचा भर रह जाएगा। वहा सत्य का संचार नही होगा। आदमी मर गया। उसका शरीर ताजा का ताजा है। न सिकुड़न, न कुछ और, पूरा-का-पूरा चेहरा। किन्तु केवल प्राण नही रहा। वह हड्डियो का मात्र ढांचा वचा। चैतन्य उड़ गया। तो विना सत्य के, विना निश्चय के और विना अध्यात्म के संगठन और संघ मात्र हड्डियो का ढांचा रह जाएगा। उसमें प्राण नहीं रहेगा। उसमें तेजस्विता नही रहेगी। उसमे चैतन्य नही रहेगा।

इन दोनो वृत्तियों की सापेक्षता हमारा मार्ग वन सकती है। न अकेला व्यक्ति मार्ग वन सकता है और न कोरा समाज मार्ग वन सकता है। दोनों का योग ही हमारे विकास की यात्रा का मार्ग वन सकता है। सत्यग्राही दृष्टिकोण का चरण और आगे वढ़ता है तो वहां ज्ञान और क्रिया का समन्वय होता है। किसने कहा कि दर्शन जीया नही जा सकता। मैं सोचता हूं कि जो दर्शन जीया नही जा सकता, वह हवाई उडान होता है, आकाशी कल्पना होती है, यथार्थ नही होता। वही दर्शन वास्तविक हो सकता है जो जीया जा सकता है। वह आदर्श किसी काम का नही, जो व्यवहार मे न आ सके। और वह व्यवहार किसी काम का नही, जो आदर्श तक न पहुचाया जा सके। आदर्श और व्यवहार दोनो का योग होना चाहिए।

आचार्यश्री ने तेरापंथ की सीमा को वहुत विस्तार दिया है। उन्होंने धर्म को युग की वेदी पर खड़ा कर दिया, जिससे सारे सम्प्रदाय लाभान्वित हुए हैं। आचार्यश्री जव दक्षिण यात्रा पर थे तव लोगो ने कहा—हमारे यहा अनेक आचार्य आए हैं, पर मानवता की वात करने वाले पहले आचार्य आप आए

है। सब धर्मगुरु अपने-अपने सम्प्रदाय की बात करते है, परन्तु सम्प्रदाय से दूर रहकर मानवता की बात करने वाले पहले आचार्य आप है। वहा कोई भी जैन नही था फिर भी नही लगता था कि वे जैन नहीं हैं।

धर्म के क्षेत्र मे आचार्यश्री ने क्रान्ति की है। उन्होने अपने शिष्यो मे निष्पक्षता व तटस्थता की बात जचा दी, जिससे उनमे सम्प्रदाय की बू नही आ सकती।

दर्शन के क्षेत्र मे भी नए मूल्यो को प्रस्तुत किया है। लाखो-लाखों लोगो से सम्पर्क बना है। इस दिशा मे आचार्यश्री और उनके शिष्यो ने भगीरथ प्रयत्न किया है। परिणाम यह आया कि जो नजदीक थे वे दूर हो गये और जो दूर खडे थे वे निकट आ गए। आप जानते है, महापुरुप कभी लकीर पर नही चलते। परम्परा का अनुगमन करने वाले सब होते है, परन्तु परम्परा मे अपना योग देकर उसको विकसित करने वाले विरले ही होते हैं। आचार्य भिक्षु, जयाचार्य और आचार्य तुलसी उन महापुरुषो मे है जिन्होनें अपने कर्तृत्व से परम्पराओ की नई लकीरे खीची है।

साम्प्रदायिक वैमनस्य

मनुष्य जन्मना मनुष्य का शत्रु नही है। एक ही पेड की दो शाखाएं परस्पर विरोधी कैसे हो सकती है? फिर भी यह कहा जाता है कि धर्म-सम्प्रदाय मनुष्यो मे मैत्री स्थापित करने के लिए प्रचलित हुए है। उनमे जन्मना शत्रुता नही है, फिर मैत्री स्थापित करने की क्या आवश्यकता हुई? मैं फिर इस विश्वास को दोहराना चाहता हूं कि मनुष्य मनुष्य में स्वभावतः शत्रुता नही है। वह निहित स्वार्थ वाले लोगो द्वारा उत्पन्न की जाती है। उसे मिटाने का काम धर्म-सम्प्रदायो ने प्रारम्भ किया, किन्तु आगे चलकर वे स्वयं निहित स्वार्थ वाले लोगो से घिर गए और मनुष्य को मनुष्य का शत्रु मानने के सिद्धान्त की पुष्टि मे लग गए। इस चिन्तन के आधार पर मुझे लगता है कि साम्प्रदायिक समस्या का मूल भी अह और स्वार्थ को छोडकर अन्यत्र नही खोजा जा सकता। इसलिए साम्प्रदायिक वैमनस्य की समस्या को सुलझाने के लिए भी अह और स्वार्थ का विसर्जन बहुत आवश्यक है।

साम्प्रदायिक एकता

हिन्दुस्तान सम्प्रदाय-निरपेक्ष जनतन्त्री राष्ट्र है। यह दुनिया का का सबसे बड़ा जनतन्त्र है। यहा हर व्यक्ति वाणी, लेखन, विचार-प्रकाश और धार्मिक उपासना करने मे स्वतन्त्र है। यहा विविध भाषाएं, विविध जातिया और विविध धर्म-सम्प्रदाय है। किन्तु इस विविधताओ के होने पर भी सब एक है। वे एक इस अर्थ मे है कि वे सब भारतीय है। वे भारत की पवित्र मिट्टी मे जन्मे है और उसी मे उन्हे मरना है। साम्प्रदायिक

विग्रह से वह पवित्र मिट्टी कलंकित होती है, राष्ट्र शक्तिहीन होता है और व्यक्ति का मन अपवित्र होता है, इसलिए साम्प्रदायिक एकता पर विशेष वल दिया जाए।

साधना और सम्प्रदाय का परस्पर क्या संवंध है, यह प्रश्न भी काफी जटिल है। सम्प्रदायों का जन्म तो इसलिए हुआ था कि साधना मे वे साधकों का सहयोग करे। किंतु कालातर मे साप्रदायिक अभिनिवेश वढता गया, उसमे साधना पक्ष गौण होता गया और एक-दूसरे से उत्कृष्ट दिखाने का मनोभाव मुख्य होता गया। साप्रदायिक कट्टरता ने कलह के वीज वोये और जन-जन में प्रेम की भावना भरने वाला धर्म फूट और संघर्ष का कारण वन गया। आज लोगो का मानस पुन: प्रवुद्ध हो रहा है। इस स्थिति मे यह आवश्यक है कि सप्रदाय अपने मुख्य प्रयोजन की ओर ध्यान दें। वे साधक की साधना मे सहयोगी वने, वाधक न हो। संप्रदाय को गौण स्थान देते हुए साधना को मुख्य स्थान दिया जाए। जैसे नौका मनुष्य को पार पहुंचाकर कृतकृत्य हो जाती है, वैसे ही सप्रदाय भी साधक को साधना की एक भूमिका तक पहुचाकर कृतकृत्य हो जाएं। साप्रदायिक आग्रह ने न साधना को तेजस्वी होने दिया और न साधक भी उसके अभाव मे लक्ष्य तक पहुच पाए है।

आचार्य भिक्षु की सत्य-शोध की वृत्ति वहुत प्रवल थी। वे सत्य के प्रति वहुत विनम्र थे। इसीलिए उनमे आग्रह नही पनपा। उन्होने अपनी मर्यादाओ को अंतिम नही माना। उन्हे भविष्य पर भरोसा था। इसीलिए उन्होने मर्यादाओ के परिवर्तन और संशोधन की कुजी भावी आचार्यो के हाथो मे दे दी। उनकी तप पूत चर्या, शुद्धनीति, आचार-निष्ठा, सद्भाव, संख्या की अपेक्षा गुणवत्ता को मूल्य देने की प्रवृत्ति, अनुशासन-प्रवणता आदि गुणो ने एक ऐसा वातावरण तैयार किया कि हजारो-हजारो लोगो के लिए उनकी मर्यादाएं आप्त-वचन जैसे वन गयी।

आचार्य भिक्षु ने सेवा और जीवन-निर्वाह का आश्वासन—इन दो तत्वों पर इतना वल दिया कि व्यक्ति मर्यादाओ के प्रति अपना सर्वस्व-विसर्जित करके भी कठिनाई का अनुभव नही करता।

संघ की ओर से आश्वासन तथा सघ के सदस्य की ओर से समर्पण—ये दोनो दुर्लभ वाते आज भी तेरापथ की विशेषता की प्रतीक है।

वर्तमान की चिन्तनधारा

आचार्य भिक्षु की मर्यादाएं दूसरी शताब्दी के अंतिम चरण मे है। इस लम्वी अवधि मे भारी परिवर्तन हुए है—

१. राजनीतिक स्थितियो मे आमूलचूल परिवर्तन हुआ है। राजतंत्र के स्थान पर जनतत्र प्रतिष्ठित हो गया है।

२. साम्प्रदायिक स्थितियो मे परिवर्तन हुआ है। आज हर सम्प्रदाय का युवक वर्ग कट्टरता की अपेक्षा पारस्परिक सद्भाव को अधिक महत्व देता है। चिंतनशील लोग इस प्रश्न का अभी समुचित उत्तर नही दे पा रहे कि जैन शासन इतना असगठित क्यो ?

३. वैज्ञानिक गवेषणाओ और उपलब्धियो ने रूढ़ तथा बद्धमूल धारणाओं मे भी परिवर्तन ला दिया है। अब मान्यताओ को तार्किक और वैज्ञानिक आधार दिये विना उन्हे गतिशील नही रखा जा सकता।

४. सचार-साधनो द्वारा भौगोलिक दूरी कम हो जाने के कारण वैज्ञानिक परिवर्तन भी बहुत हुआ है। पश्चिमी जगत् के उन्मुक्त विचारो ने हर व्यक्ति को मुक्त जीवन जीने के लिए प्रेरित किया है।

इन सारी परिस्थितियो और उनसे प्राप्त होने वाले प्रभावो के आलोक मे हमे अपनी मर्यादाओ पर विचार करना है, अपनी आस्था की परीक्षा करनी है, अपने आपको तोलना है।

हमारा सघ आज भी एकतत्रीय पद्धति के अनुसार एक ही अनुशास्ता के द्वारा अनुशासित है। आचार्य भिक्षु की इस व्यवस्था मे मुझे परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत नही होती। क्योकि हमारा अनुशासन अहिंसा का अनुशासन है। इसमे तत्र प्रधान नही होता, प्रधान होती है साधना, प्रेरणा, पथ-दर्शन और प्रयोग।

यह हमारा सौभाग्य है कि हम प्रारम्भ से ही साम्प्रदायिक अभिनिवेश से बचे है। आज तक तेरापथ कभी भी खडनात्मक नीति के चक्र मे नही फसा है।

'आत्मशुद्धि का जहां प्रश्न है, सम्प्रदाय का मोह न हो'—यह घोष अत प्रेरणा का प्रतिफलन है। समन्वय का प्रयत्न और साम्प्रदायिक एकता के पाच सूत्र उसी प्रेरणा के आधार पर प्रस्तुत किए गए है। अणुव्रत आदोलन, जो कि सब धर्मो का समन्वय है, उसी भावना का विराट् रूप है।

हमे जो सिद्धात प्राप्त हैं, उनके प्रति हमारा पूर्ण विश्वास है, किन्तु हमने यह कभी नही माना कि सपूर्ण सत्य हमे उपलब्ध हो गया है। आज भी नया सत्य, नया तथ्य या नया ज्ञान हमे उपलब्ध होता है, उसे स्वीकार करने का हमे साहस प्राप्त है। इसी आधार पर हम परिवर्तन मे विश्वास करते है। मेरा स्पष्ट सिद्धात है कि प्रवाहपाती होकर हमे कुछ बदलना नही चाहिए और रूढिग्रस्त होकर आवश्यक परिवर्तन से मुह नही मोडना चाहिए।

मानवीय एकता अनुप्रेक्षा

आध्यात्मिक व्यक्ति तोडता नही, जोडता है। वहां तोडने वाला कोई तत्त्व नही होता। इसी सचाई को प्रकट करने के लिए यह घोषणा की गई थी–'**एक्का मणुस्सजाई**'–मनुष्य जाति एक है। भौतिक मंच से यह शब्द कभी उच्चरित नही हो सकता। जिस मंच से यह घोषणा हुई कि 'मनुष्य जाति एक है' वह आध्यात्मिक मच था। वहा व्यक्ति मे कोई भेद का अनुभव नही किया। सभी मनुष्यो को एक ही देखा गया और एक ही जाना गया। उसके सिवाय, मनुष्य जाति के सिवाय, कोई दूसरी जाति ही नही है। आध्यात्मिक व्यक्तित्व जोडता है और भौतिक व्यक्तित्व तोडता है।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व मे पदार्थ का भोग होगा। आध्यात्मिक व्यक्ति खाएगा, पीएगा, कपडे भी पहनेगा, मकान मे भी रहेगा। यह सब कुछ करेगा, पर तोड़ेगा नही। वह यह कभी नही कहेगा मेरा कपड़ा, मेरा मकान। वह कहेगा-इस मकान मे मैं अभी रह रहा हू, यह कपडा मेरे पहनने के काम आ रहा है। इस कथन के पीछे एक सिद्धान्त है, ममत्व नही है। सचाई यह है कि मकान किसका हो सकता है? किसी का नही हो सकता। आज तक भी यह संपदा और भूमि किसी की नही बनी। इसलिए कहा जाता है, यह संपदा और भूमि शाश्वत कन्याए हैं, आज तक इनका पाणिग्रहण नही हुआ, विवाह नही हुआ। सम्पत्ति शाश्वत कुआरी रहती है। अनन्त काल बीत जाने पर भी वह वैसी ही रहती है, वैसी ही रहेगी।

पदार्थ का भोग करना और पदार्थ के साथ ममत्व को जोडना–ये दोनो भिन्न बाते हैं, ये दोनो एक नही हैं। भौतिक व्यक्तित्व में पदार्थ का उपभोग होता है, ममत्व जुडता है। आध्यात्मिक व्यक्तित्व मे पदार्थ का उपभोग अवश्य होता है, पर ममत्व नही जुडता। उसमें 'पदार्थ' और 'मेरा' अलग रहते है। जुडते नही।

जैन धर्म—विश्वधर्म

मैने एक बार पढा, जैन धर्म मे विश्व धर्म होने की क्षमता विद्यमान है। बार-बार पढा, जैन धर्म विश्वधर्म है। मैं चिन्तन की गहराई मे गया। मैंने मन-ही-मन सोचा, क्या ये विचार सत्य है? क्या जैन धर्म मे

विश्वधर्म होने की क्षमता है ? क्या वह विश्वधर्म है ? मै विश्वधर्म के मानदण्डो से जैनधर्म को मापने लगा। जिसके अनुयायियो की संख्या विशाल हो वह विश्वधर्म हो सकता है। जैन धर्म के अनुयायियो की संख्या एक करोड से अधिक नही है, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है ? जिसके अनुयायी विश्व के हर कोने मे विद्यमान हो, वह विश्वधर्म हो सकता है। जैन धर्म के अनुयायी कुछेक देशों मे विद्यमान हैं, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है ? जिसके अनुयायी सब जातियो, सब प्रकार के आवश्यक व्यवसाय करने वालो मे हों वह विश्वधर्म हो सकता है, किन्तु जैन धर्म के अधिकाश अनुयायी वैश्य है, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है ? इन मानदण्डो के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा कि जैन धर्म अपने वर्तमान स्वरूप मे विश्वधर्म नही है। मै एक चरण पीछे लौटा और मैंने यह देखने का प्रयत्न किया—क्या जैन धर्म मे विश्वधर्म होने की क्षमता है ? मैं यह देखकर स्तभित रह गया कि उसमे विश्वधर्म होने की क्षमता भी नही है। मैं कुछ हताश-सा हो गया। जिस धर्म के प्रति मेरे मन मे ममता है, श्रेष्ठता का सस्कार है, उसे परीक्षा के समय कल्पना की ऊचाई पर नही पा सका, इसलिए हताश होना अस्वाभाविक नही था। मैंने अपने चरण अतीत की अनजानी राहों मे बढ़ाए। मै खोया-खोया सा चलता चला। एक विन्दु पर मेरे पैर ठिठक गए। कोई अपरिचित चेहरा मेरे पास आकर मेरे कानो मे गुनगुनाने लगा—'मनुष्य जाति एक है।' मैंने यह स्वर पहचान लिया। वह स्वर निर्युक्तिकार भद्रबाहु का था। मैंने उनसे पूछा—

'क्या यह सत्य है कि मनुष्य जाति एक है ?'

'यह काल्पनिक नही, वास्तविक सत्य है।'

'फिर मनुष्य जाति का विभाजन किसने किया ?'

'मनुष्य ने।'

'क्या यह ईश्वरीय नही है ?'

'यह ईश्वरीय होता तो भारत मे ही क्यो होता ? क्या ईश्वर भारत की सीमा मे प्रतिबद्ध है ?'

'तो फिर इसका आधार क्या है ?'

'वैदिक ऋषियो ने सामाजिक संगठन के लिए चार वर्णो की व्यवस्था की। इसका आधार सामाजिक संगठन है।'

'क्या इस व्यवस्था का भारतीय समाज के विकास मे कोई योग नही है ?'

'नही क्यो ?' इस व्यवस्था ने शिक्षण-सस्थानो की अल्पता मे भी कला-कौशल को पैतृक परम्परा के द्वारा सुरक्षित रखा है, विकसित किया है।

'फिर महावीर ने मनुष्य जाति की एकता का उद्घोप क्यो किया ?'

'जन्मना जाति की व्यवस्था ने मनुष्यो मे ऊंच-नीच और छूआछूत की भावना पैदा की, समत्व के सिद्धान्त का विखंडन किया। इस स्थिति मे मनुष्य जाति की एकता का उद्घोप नही होता तो अहिंसा अर्थहीन हो जाती।'

मै आचार्य भद्रवाहु से अपनी जिज्ञासा का समाधान पा रहा था। इतने मे मेरे कानो से एक ध्वनि टकराई, 'मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म मे शूद्र।' मैने दो क्षण इस पर मनन किया। फिर भद्रवाहु से पूछा, 'क्या कर्मणा जाति का वाद मनुष्य जाति की एकता के सिद्धान्त का प्रतिवाद नही है ?'

उन्होने कहा, 'यह तात्विक नही है, केवल व्यवहार की उपयोगिता है। मनुष्य केवल मनुष्य है। वह विद्याजीवी होता है तव ब्राह्मण हो जाता है। वही व्यक्ति उसी जीवन मे रक्षाजीवी होकर क्षत्रिय, व्यवसायजीवी होकर वैश्य और सेवाजीवी होकर शूद्र हो सकता है। परिवर्तनशील जाति मनुष्य मनुष्य के वीच मे ऊच-नीच और छुआछूत की दीवार खड़ी नही करती।'

मैने विनम्र वंदना कर कृतज्ञता प्रकट की और मै आगे-वढ़ा। अतीत की दहलीज को पार करते-करते मै इन्द्रभूति गौतम के पास पहुंचा। ये थे भगवान् महावीर के सवसे प्रथम और ज्येष्ठ शिष्य, महावीर के सिद्धान्तों के मुख्य प्रवक्ता और सूत्रकार। सूक्ष्म लोक मे पहुचकर मैंने उनसे सम्पर्क स्थापित किया और अपनी जिज्ञासा उनके सामने प्रस्तुत की—

'भते ! आप जाति से ब्राह्मण और वेदो के पारगामी विद्वान् थे फिर आपने महावीर का शिष्यत्व क्यों स्वीकार किया ?'

'धर्म जाति से अतीत है, इसलिए मैं महावीर का शिष्य वना।'

'क्या जैन धर्म जाति नही है ?'

'नही, सर्वथा नही। जाति का आधार आजीविका है, अर्थ-व्यवस्था है। धर्म का आधार आत्मा का अनुसंधान है। इसलिए सभी जातियो और वर्गो के लोग महावीर के शिष्य वने।

मै अतीत के गर्भगृह से वर्तमान के वातायन में लौट आया। मैंने युगधारा का अवगाहन किया तो पाया कि महावीर की अमृत आत्मा युग-चेतना की पार्श्वभूमि मे आज भी विद्यमान है। उनकी वाणी की प्रतिध्वनि आज भी अनन्त के कण-कण मे हो रही है। उनके सिद्धान्त आज भी सर्व-व्यापी है।

महावीर ने सापेक्षवाद से विश्व की व्यवस्था की। उन्होने कहा, 'एकता और अनेकता की धारा एक साथ प्रवाहित है। इस सह-अस्तित्व के प्रवाह मे 'या तुम या मैं' के लिए कोई स्थान नही है। तुम्हारे विना मैं

और मेरे विना तुम नही हो सकते। तुम और मै एक साथ ही हो सकते है।' संघर्ष वास्तविक नही है। घृणा वास्तविक नही है। वास्तविक है सहयोग, वास्तविक है समन्वय—अपने अस्तित्व के साथ दूसरो के अस्तित्व की स्वीकृति, अपने व्यक्तित्व के साथ दूसरो के व्यक्तित्व की स्वीकृति।

'मानवीय एकता' की स्वीकृति के साथ मानवीय अनेकता की स्वीकृति जुड़ी हुई है। सब 'मनुष्य एक है' यह सापेक्ष सिद्धान्त है। सापेक्षता एकता-अनेकता के विना नही हो सकती। मनुष्य मनुष्य के वीच प्रकृति और व्यवस्थाकृत अनेकताएं भी है। उनके आधार पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न है। यह मानवीय एकता और अनेकता की तथ्यात्मक स्वीकृति है।

महावीर ने उक्त सिद्धान्त का धर्म के दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया। उन्होने कहा, 'मनुष्य जाति मे एकता और अनेकता—दोनो के तत्त्व विद्यमान हैं और दोनो वास्तविक है। इसलिए ये धर्म का आधार नही वन सकती। यदि एकता के आधार पर हम मनुष्य जाति से प्रेम करें तो अनेकता के आधार पर द्वेष कैसे नही करेंगे ? हम अनेकता को इसलिए द्वेष का आधार वनाते है कि एकता के आधार पर प्रेम करते है। इस द्वन्द्व के आधार पर होने वाला प्रेम धार्मिक का प्रेम नही होता। एकता और अनेकता के द्वन्द से जो द्वन्द्वातीत आत्मा की अनुभूति है वह धर्म है। इस धार्मिक दृष्टिकोण से मानवीय एकता का अर्थ होगा—मनुष्य मनुष्य के वीच घृणा और सघर्ष की समाप्ति।

महावीर ने धर्म की दृष्टि से मानवीय एकता की व्याख्या की, उसमे सम्प्रदाय को स्थान नही दिया। उनके मतानुसार कौन व्यक्ति किस सम्प्रदाय मे दीक्षित है, इसे मूल्य नही दिया जा सकता। मूल्य इसका होगा कि कौन व्यक्ति कितना ऋजु, कितना पवित्र और कितना कपायमुक्त है। जैन धर्म मे दीक्षित होने वाला मुक्त नही भी हो सकता है और अन्य धर्म मे दीक्षित होने वाला मुक्त हो सकता है—इसका प्रतिपादन कर महावीर ने धर्म का संप्रदायातीत और भेदातीत स्वरूप जनता के सामने प्रस्तुत किया।

धर्म आत्मा की आंतरिक पवित्रता है, इसलिए उसका किसी जाति, वर्ग और सप्रदाय से सम्वन्ध नही हो सकता। किन्तु धर्म का वाहरी रूप संप्रदाय मे प्रकट होता है, इसलिए वह जाति और वर्ग से भी जुड जाता है। महावीर ने अपने धर्म-शासन का द्वार सव जातियो और सव वर्गो के लिए खुला रखा था। उन्होने कल्पना ही नही की होगी की उनका धर्म-शासन किसी एक जाति या वर्ग से जुडकर दूसरो के लिए द्वार वन्द कर देगा। किन्तु काल की गति ने ऐसा घटना-चक्र प्रस्तुत किया कि महावीर का मानवीय एकता का पक्षधर धर्म-शासन मानवीय अनेकता का पक्षधर हो गया। हम महावीर के मानवीय एकता के सिद्धान्त को विश्व के सामने प्रस्तुत कर सकते है। किन्तु महावीर के आधुनिक धर्म-शासन को मानवीय एकता के पक्षधर के रूप में

प्रस्तुत नही कर सकते ।

अपरिग्रह मानवीय एकता का महान् सिद्धान्त है । इसे विश्व के सामने प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु जैन समाज को इसके उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सकता ।

अनेकान्त मानवीय एकता का महान् सिद्धान्त है। इसे जागतिक समस्याओं के समाधान के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है । किन्तु आधुनिक जैन शासन को सापेक्षता और समन्वय के महान् प्रयोगकार घटक के रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सकता ।

सिद्धान्त और व्यवहार के इस अन्तर्विरोध को देखकर प्रश्न होता है—क्या ये सिद्धान्त केवल मनोग्राही और बुद्धिग्राही है या व्यवहारिक भी है ? यदि ये व्यावहारिक नही हैं तो इनको प्रस्तुत करने से क्या लाभ ? यदि ये व्यावहारिक हैं तो जैन-शासन इनके व्यवहार से वंचित क्यों ? कालचक्र की घटनाओं ने जैन-शासन को इतना प्रभावित किया कि महावीर के मौलिक सिद्धान्तों की प्रयोगभूमि नही रह सका। आज उस जैन-शासन की अपेक्षा है जो महावीर के महान् सिद्धान्तों का प्रतिनिधि हो, जिसे महावीर के धर्म-शासन का उत्तराधिकार प्राप्त हो । इसकी अर्हता विश्व का कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है । इस दृष्टि से मैं मान सकता हूं कि जैन धर्म विश्वधर्म है ।

अध्यात्म और विज्ञान अनुप्रेक्षा

प्रयोगों में चेतना की भूमिका

धर्म और विज्ञान या अध्यात्मवाद वनाम भौतिकवाद--यह मेरे विचार से वाद-विवाद का विषय बनता ही नही है। धर्म और विज्ञान दो नही, वस्तुत. एक ही विपय है। धर्म स्वय विज्ञान है। एक वैज्ञानिक यहां हिन्दुस्तान मे बैठा हुआ किसी प्रकार का प्रयोग या अन्वेषण करता है और जो निष्कर्ष उसके प्रयोग का निकलेगा, वही निष्कर्ष अमेरिका मे बैठा हुआ एक वैज्ञानिक उसी तरह का प्रयोग करके प्राप्त करेगा। हजार वर्ष पहले किसी वैज्ञानिक ने प्रयोग करके जो परिणाम निकाला था, हजार वर्ष वाद भी वैसे प्रयोग से वही परिणाम प्राप्त होगा। अत: यह स्पष्ट है कि त्रिकालावाधित सत्य ही विज्ञान है। देश या काल के कारण इसमे कोई अन्तर नही आ सकता। यही वात धर्म के लिए भी हम कह सकते है। अत. मानना पडेगा धर्म स्वयं विज्ञान है। किसी वस्तु को जानने का जो माध्यम है, वह है विज्ञान और उस माध्यम के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, वह है धर्म। विज्ञान वस्तु को जानने की प्रक्रिया है और धर्म आत्मा को पाने की प्रक्रिया है, साधन है।

इसलिए हम जव तक मान्यताओ से ऊपर नही उठेगे तव तक यथार्थ तक नही पहुंच पाएंगे।

आज लोग विज्ञान को केवल दो शताब्दी पुराना ही मान बैठे है। इस काल मे जो अन्वेषण और प्राप्ति विज्ञान ने की है, सिर्फ वही विज्ञान है, ऐसी लोगो ने धारणा वना ली है। लेकिन जो उपलब्धिया सामने है वे विज्ञान नही है। वे तो उपलब्धिया मात्र है। यथार्थ भाव से देखना ही विज्ञान है। आत्मा से भिन्न कोई विज्ञान है ही नही।

अणुवम विज्ञान की देन है। लेकिन वह अपने आप कुछ नही कर सकता। क्योकि वह जड़ है। चेतना की शक्ति उसका उपयोग करके विनाश ढहाती है। शक्तियो का विकास कोई दोष नही है, लेकिन उसका उपयोग सही ढंग से हो। जो विज्ञान को वुरा कहते है, उन्हे यह भी मानना पडेगा कि धर्म भी वुरा है क्योकि उनको अलग करने का हमारे पास कोई साधन नही है। धर्म और विज्ञान त्रिकालावाधित सत्य है, यही निष्कर्ष है।

अध्यात्म की तरह विज्ञान का क्षेत्र भी अत्यन्त प्राचीन है। विज्ञान के लिए हजारों ने अपने आपको खपाया है। भारत मे हजारों वर्ष पहले भी

विज्ञान के क्षेत्र मे अध्यात्म की तरह अनेक अनुसंधान हुए है। आज यदि आपके सामने उनकी उपलब्धिया रखी जाए तो आप आश्चर्यचकित हो जाएगे।

इस तरह के अनुसंधान अध्यात्म के क्षेत्र मे किए गए। अनेको गूढ़ साधनाए की, तभी अध्यात्म की अनुभूतिया प्राप्त हुई। गुस्सा या आवेग जब आता है तो तत्काल दो क्षण के लिए श्वास रोक ले। गुस्सा स्वतः ठंडा पड जाएगा। इसी तरह के अनेक प्रयोग किए गये है। योग शास्त्र को जानने वाला खोज करके देखे कि प्राचीन आचार्यो ने कितने प्रयोग किए है। प्राचीन समय मे हजारो कोस दूर वैठा साधु किसी अन्य साधु को सिर्फ याद करके उसके आसन को डुला (हिला) सकता था और वह समझ जाता था कि उसे याद किया गया है। मै जो बोल रहा हूं, मेरे ये शब्द आप साक्षात् नही सुन रहे है। मेरे ये शब्द ब्रह्माण्ड से टकराकर आपके पास पहुचते है। क्या यह विज्ञान नही है?

इस दृष्टि से धर्म और विज्ञान—ये दो धाराएं या शाखाए नही हैं, एक ही चेतना-प्रवाह की दो कडिया है। मूल एक है, टहनियां दो है।

जिस तरह विज्ञान की उपलब्धियो का उपयोग विनाशकारी कार्यों मे किया गया है, जो सर्वविदित है, उसी प्रकार धर्म का उपयोग भी अनुचित ढग से किया गया है और कही-कही तो उसका अत्यधिक दुरुपयोग भी किया गया है। इस तरह हम देखते है कि विज्ञान और धर्म का क्षेत्र भिन्न-भिन्न होते हुए भी मूल एक है। यह विशाल नगरो के फ्लैट सिस्टम की तरह है, जहा एक ही मकान मे कई फ्लैट होते है, और उसमे रहने वाले वर्षो से वहा रहते हुए भी एक-दूसरे से अपरिचित से वने रहते है।

अत. आवश्यकता है कि विज्ञान के परिणामो पर अंकुश रखा जाए और वह अकुश है धर्म और अध्यात्म।

धर्म की वैज्ञानिकता

धर्म वैज्ञानिक तत्त्व है। वैज्ञानिक तत्त्व वह होता है जो देश-काल से अबाधित हो, जिसका निष्कर्ष सब देश-काल मे समान हो। अमेरिका मे प्रयोग करने से सफलता मिलती है तो भारत मे भी उसके प्रयोग से सफलता मिलेगी। सर्वत्र और सर्वदा जो प्रयोग मे एकरूप मे रहता है, वह वैज्ञानिक तत्त्व होता है। धर्म इसकी कसौटी मे परम वैज्ञानिक तत्त्व है। धर्म की आराधना लदन मे, भारत मे या अमेरिका मे कही पर भी करो, सबको आनन्द मिलेगा। आज, कल और परसो कभी उसकी आराधना करो, उसके परिणाम मे कोई अतर नही आएगा। धर्म की आराधना करने वाले मुक्त हुए है, वर्तमान मे हो रहे है और भविष्य मे होगे, इसलिए धर्म प्रायोगिक है, त्रैकालिक है और

देश-काल से अवाधित है। इसीलिए वह परम वैज्ञानिक तत्त्व है।

पाश्चात्य देशों मे नए दार्शनिक यह मानने लगे हैं कि अध्यात्म के विना शान्ति नही मिलती। जैन-आगमों मे यह उल्लेख है कि शैक्ष साधु, साधुत्व मे रमण करता हुआ, क्रमशः सुखो मे आगे वढता है। एक वर्ष की साधना मे वह भौतिक जगत् के उत्कृष्ट पौद्गलिक सुखो को लांघ जाता है।

मस्तिष्कीय तरंगे : उनके कार्य

आनन्द सवसे वडी उपलब्धि है। मैं इस आनन्द की व्याख्या वैज्ञानिक शब्दावली मे प्रस्तुत करना चाहता हूं। मेडिकल इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, मद्रास ने एक उपकरण का निर्माण किया, जिससे मनुष्य के मस्तिष्क की अल्फा तरगो को देखा जा सकता है और उन्हे संप्रेषित भी किया जा सकता है। वैज्ञानिको के अनुसार हमारे मस्तिष्क मे विभिन्न प्रकार की विद्युत् तरगे होती हैं—अल्फा, वीटा, डेटा, थेटा आदि-आदि। जव 'अल्फा' तरंगे अधिक होती हैं तव आदमी आनन्द मे भर जाता है। उसके सारे अवसाद समाप्त हो जाते हैं। कठिनाई दूर हो जाती है। जव 'वीटा' तरंगे अधिक होती है तव आदमी अवसाद से भर जाता है। उसमे उत्तेजनाएं उभरती हैं। इस प्रकार मस्तिष्कीय विद्युत् तरगों के द्वारा आदमी कभी सुख का अनुभव करता है और कभी दुःख का अनुभव करता है।

अध्यात्म की भाषा मे इसे दुःख का चक्र और विज्ञान की भाषा मे इसे तरगो का चक्र कहा जाता है। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क मे वीटा, थेटा आदि तरंगे उत्पन्न होती रहती हैं, वह चाहे अरवपति हो या सारी सुख-सुविधाओ मे पलता हो, वह दुःख ही दुःख भोगता चला जाता है। रोक फैलर का जीवन इसका स्पष्ट उदाहरण है। वह विश्व का महान् धनपति था। उसे धन से कभी भी सुख का अनुभव नही हुआ। वह अपने विशाल आर्थिक साम्राज्य को छोड एक वर्ष भर के लिए छुट्टियां मनाने अन्यत्र चला गया। वहां उसे धनहीनता मे भी जो सुख की अनुभूति हुई वह अनिर्वचनीय थी।

अध्यात्म का सूत्र है कि अल्फा तरगो को पैदा किया जाये और आनन्द को वढाया जाए। उस आनन्द की इतनी वृद्धि हो कि इन्द्रियो के सवेदनो से होने वाली क्षणिक आनन्दानुभूति उसके सामने फीकी पड जाए। जव यह घटित होता है तव व्यक्ति का वाह्य आकर्षण छूटने लगता है और आंतरिक आनन्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्न आरम्भ हो जाता है। यही दूरी को मिटाने का आदि-विन्दु है। जव तक व्यक्ति को यह लगता है कि इन्द्रिय-जन्य आनन्द को छोडना वहुत वड़े आनन्द से वंचित रहना है, तव तक व्यक्ति उसे छोड नही सकता। यह उसे तभी छोड सकता है जव वह आनन्द छोटा वन जाए, अर्थहीन वन जाए। सव यह जानते है कि अब्रह्मचर्य से शक्ति क्षीण

होती है, ऊर्जा क्षीण होती है, पर सभी ब्रह्मचारी कहां वन पाते है ? ब्रह्मचारी तव तक नही हुआ जा सकता जव तक उससे वड़ा आनन्द प्राप्त न हो जाये। अल्फा तरंगो का उत्पादन वड़े आनन्द को उपलब्ध करा सकता है। उस स्थिति मे सारे तनाव समाप्त हो जाते है। मन आनन्द, सुख और शक्ति से भर जाता है। तव ऐसा अनुभव होता है कि जो प्राप्तव्य था वह प्राप्त हो गया। अव खोज वेकार है, भटकाव व्यर्थ है। अव न सुन्दर रूप आकर्पण पैदा करता है और न मधुर सगीत ही मन को लुभा पाता है। संगीत सुनने की अपेक्षा महसूस नही होती। अपने भीतर इतना मधुर संगीत प्रारम्भ हो जाता है कि सुनते-सुनते जी नही अघाता। अपने भीतर रस का इतना वड़ा झरना वहने लग जाता है कि उसके सामने सव नीरस-सा लगता है। आनन्द की उपलब्धि किए विना, सरसता की प्राप्ति के विना, कथनी और करनी की दूरी मिट नहीं सकती। ध्यान का नशा चढे विना आनन्द उपलब्ध नही होता। मदिरापान करने वाला भी मूर्ख नही है। वह आनन्द पाने के लिए मदिरा पीता है। यह मदिरा कथनी और करनी की दूरी को वनाए रखती है। यदि इससे छुटकारा पाना है तो ध्यान की मदिरा पीनी होगी।

अल्फा तरंगों का उत्पादन कैसे ?

प्रश्न होता है कि हम आनन्द को उपलब्ध कैसे करे ? अल्फा तरंगों का उत्पादन कैसे हो सकता है ? अध्यात्म की भाषा मे आनन्द की उपलब्धि का मार्ग यह है कि पहले उपाधिया मिटे। इसका तात्पर्य है कि कषाय के सारे आवेग समाप्त हो। उपाधियो के मिटने पर आधियां—मानसिक बीमारियां विनष्ट हो जाती है। आधिया न होने पर व्याधियां—शारीरिक रोग नही रह सकते। व्याधि के मिटने पर जीवन आनन्द से भर जाता है।

आर०एन०ए० रसायन

ध्यान रूपान्तरण की प्रक्रिया है। उससे आदते वदलती है, स्वभाव वदलता है और पूरा व्यक्तित्व वदल जाता है। इस रूपान्तरण की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। आज विज्ञान भी इस वात को सावित करने लगा है कि आदमी का रूपान्तरण हो सकता है। विज्ञान के अनुसार हमारे मस्तिष्क मे आर०एन०ए० रसायन होता है, जो हमारी चेतना की परतो पर छाया रहता है। विज्ञान ने यह खोज निकाला है कि रसायन व्यक्तित्व के रूपातरण का घटक है। इसे घटाया-वढ़ाया जा सकता है। इसके आधार पर ही रूपान्तरण घटित होता है। आदतें वदलती है। पुरानी आदतो को छोड़कर नई आदते डाली जा सकती है। जीवशास्त्री जेम्स ओल्ड्स ने एक प्रयोग किया। उसने चूहो के मस्तिष्क में एक प्रकार की विद्युत् तरंगें प्रसारित की।

कुछ ही समय बाद उनके मन का भय भाग गया। वे चूहे बिल्ली के सामने नि.सकोच आने-जाने लगे। उनका भय समाप्त हो गया।

लम्बी साधना क्यों करें ?

भय को समाप्त करने के लिए साधना की कुछ प्रक्रियाएं भी है। उनके द्वारा भी अभय बना जा सकता है। वैज्ञानिक प्रयोगो से भी भय को मिटाया जा सकता है। इस प्रकार साधना से जो फलित होता है वही विज्ञान के प्रयोगों के द्वारा भी फलित हो सकता है। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि विज्ञान जिसको कुछ ही समय मे घटित कर दिखाता है, वह साधना के द्वारा लम्बे समय के बाद घटित होता है। तो फिर व्यक्ति साधना की लम्बी उपासना मे अपनी शक्ति को क्यों खर्च करे ? वह आदतो या व्यक्तित्व को बदलने के लिए विज्ञान का ही सहारा क्यो न ले ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। हम इसका समाधान ढूढें।

तरंगातीत अवस्था : विज्ञान से परे

हमारे शरीर मे तीन केन्द्र हैं। एक केन्द्र वह है जहां तरंगें पैदा होती हैं। दूसरा केन्द्र वह है जहां तरंगें गुजरती है। तीसरा केन्द्र वह है जहा तरंगें अभिव्यक्त होती हैं। हमारे शरीर मे सारी व्यवस्था है। एक केन्द्र है जहां से क्रोध की तरगें उठती हैं। वे स्नायुओ से गुजरती है और एक केन्द्र पर आकर प्रकट हो जाती हैं। एक व्यक्ति को क्रोध आता है तब यह बताने की आवश्यकता नही कि वह अब क्रोध के वशीभूत है। उसकी आंखें लाल हो जाती हैं। उसकी भृकुटि तन जाती है। होठ फड़कने लग जाते है। अपने आप ज्ञात हो जाता है कि गुस्सा उतर रहा है, आ गया है। यह अभिव्यक्ति ज्ञात हो जाती है। किन्तु क्रोध की तरगों के गुजरने का पथ ज्ञात नही होता। उसे हर व्यक्ति जान ही नही सकता। आज का विज्ञान इन सारी बातो को जानता है। प्रत्येक वृत्ति के केन्द्र को उसने खोज लिया है। इस वृत्ति की तरंगें किस पथ से गुजरती है, यह भी उसे ज्ञात है। अमुक वृत्ति के केन्द्र पर प्रहार कर उसे निष्क्रिय कर देने पर वह वृत्ति समाप्त हो जाती है। कर्मशास्त्रीय भाषा मे कहा जा सकता है कि उस कर्म के विपाक को बन्द कर दिया। विपाक का मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण वृत्ति कभी नही उभरती। एक नाडी को काट देने पर क्रोध समाप्त हो जाता है। एक नाड़ी को काट देने पर उत्ते-जनाए समाप्त हो जाती है। उन वृत्तियो की अभिव्यक्ति का केन्द्र निष्क्रिय हो जाता है। जिसमे से वे तरंगे गुजरती थी, वह रास्ता बन्द हो गया। यहा एक बात पर विशेष ध्यान देना है कि इस प्रक्रिया मे तरगो की अभिव्यक्ति समाप्त हुई किन्तु तरगो की उत्पत्ति समाप्त नही हुई है। उनके गुजरने का

रास्ता बन्द हुआ है किन्तु उनकी उत्पत्ति का स्रोत नष्ट नही हुआ है। वह वैसा ही है। उसी प्रकार सजीव है, सक्रिय है। आदमी नही बदला, मुखौटा बदल गया। बाहर से बदल गया, भीतर मे कुछ नही बदला। नीद मे सोए आदमी को आप कितनी ही गालिया दें, वह गुस्सा नही करता। क्या हम मान लें कि उसका गुस्सा समाप्त हो गया ? नीद मे वह अप्रामाणिक वर्ताव नहीं करता। नीद मे वह उत्तेजना का शिकार नही होता तो क्या हम यह मान लें कि ये सब वृत्तिया समाप्त हो गयी ? नीद की अवस्था में, सुषुप्ति की अवस्था मे अभिव्यक्ति नही होती। किन्तु इससे यह नही माना जा सकता कि व्यक्तित्व बदल गया, रूपान्तरण घटित हो गया। हम यह मानते है कि आत्मा है। वह पुनर्भवी है। वह कर्म की कर्त्ता है, वह कर्म को बाधती है। कर्म अपना फल देते है। कर्मों को भोगना ही पडता है। जब हम समग्रता की दृष्टि से इन नियमो के परिप्रेक्ष्य मे देखते है तो लगता है कि वैज्ञानिक उपचार केवल सामयिक उपचार है। किन्तु समस्या का स्थायी समाधान या अन्तिम समाधान नही है। उसका अतिम समाधान है कि व्यक्ति तरंगातीत अवस्था मे चला जाए। अध्यात्म का सिद्धान्त है—सामायिक का सिद्धान्त। अध्यात्म का सिद्धांत है—अपने आपको को देखने का सिद्धात। यही तरंगातीत चेतना की भूमिका है। जब व्यक्ति तरंगातीत अवस्था मे पहुंच जाता है, तब न राग का तरंग रहता है, न द्वेष का तरंग रहता है। न प्रियता होती है, न अप्रियता होती है, उस स्थिति मे क्रोध का तरंग जहा से उठता है उस पर ही प्रहार नही होता, किन्तु उस तरंग को उठाने का उत्तरदायी है, उस पर प्रहार होता है। वैज्ञानिक उपकरणो का, उनके द्वारा उत्पादित औषधियो का प्रभाव मस्तिष्कीय स्तरो पर स्नायु-सस्थान या नाडी-मण्डल पर होता है, किन्तु इस तरंगातीत ध्यान का, इस चैतन्य की अनुभूति का और समता का प्रभाव इस शरीर पर नही होता, किन्तु वृत्तियो की तरंगो को पैदा करने वाले पर भी होता है। यह मूल पर प्रहार करने की प्रक्रिया है, इसलिए स्थायी समाधान है। विज्ञान से आगे की प्रक्रिया है। तरगातीत अवस्था तक पहुंचने की यही एक मात्र प्रक्रिया है। इसका अवलम्बन लिए विना उसकी प्राप्ति असम्भव है।

मूल पर प्रहार

अध्यात्म की चेतना को जगाना, अपने आप पर आस्था केन्द्रित करना, अपने आप को जानना, अपनी खोज करना, खोज के सदर्भ मे आने वाले कष्टों के लिए स्वय को समर्पित करना, कष्ट सहिष्णुता का विकास करना, कष्टों को आनन्द मे वदल देना—यह सारी प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से केवल शारीरिक संस्थान ही प्रभावित नहीं होता, केवल शरीर की केमेस्ट्री ही नही बदलती, बल्कि यह प्रक्रिया सूक्ष्म जगत् तक पहुचकर हमारे सूक्ष्म

शरीर—तैजस-शरीर और कर्म-शरीर को भी प्रभावित करती है। वहां पहुंचकर विकृतियों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देती है। कर्म-शरीर सारी विकृतियों का मूल है। ध्यान की प्रक्रिया से उस पर प्रहार होता है।

ध्यान की प्रक्रिया : महानतम खोज

ध्यान प्रक्रिया की खोज विश्व की महानतम खोज है। जो व्यक्ति तरगातीत अवस्था को प्राप्त करने की दिशा मे एक चरण भी आगे रखते है, जो सत्य की दिशा मे एक चरण भी आगे वढते है, वे वास्तव मे सत्य-साक्षात्कार की दिशा मे प्रस्थित है। उनकी सख्या चाहे दो-चार ही हो या अधिक हो, सख्या गौण है। मूल है उस दिशा मे प्रस्थान।

मैने अनुभव किया है कि जव तक धर्म के साथ विज्ञान की दो महत्त्व-पूर्ण वाते—प्रयोग और परीक्षण नही जुडेगे, तव तक धर्म का भला नही होगा। हम प्रयोग करे, परीक्षण करे। देखे तो सही। आज पचास वर्ष हो गए धर्म करते-करते, क्या परिवर्तन आया जीवन मे ? क्या गुस्सा कम हुआ ? आदत वदली ? सस्कार वदला ? नशे की आदत मे कोई परिवर्तन आया ? काम-वासना मे कोई परिवर्तन आया ? कुछ कम हुआ तो वहुत अच्छी वात है। अगर नही तो फिर क्या हुआ ? मैं आप से एक प्रश्न पूछूं, क्या मन की चच-लता कम हुई ? चित्त स्थिर वना ? प्रभु का नाम लेते हैं, भजन-चिन्तन करते है, आराधना करते है, उपासना करते है। जो भी क्रिया-काण्ड करते है, क्या मन उस पर टिकता है ? एक विषय पर पाच मिनट तो टिकता होगा। अभी तक तो मुझे यही उत्तर मिलता है—पाच मिनट तो क्या पांच सैकण्ड भी नही टिकता। दुकान पर वैठते है तो मन फिर भी टिक जाता है, पर माला फेरने वैठते हैं तो मन इतना चचल हो जाता है कि जो वाते कभी याद नही आती वे याद आती हैं।

मेरा दूसरा प्रश्न होता है कि तो फिर धर्म कैसे हुआ ? जव मन ही नही टिकता, चेतना ही नही टिकती तो फिर धर्म कौन करता है, शरीर या चेतना ? ये अगुलिया धर्म करती है या चित्त ? धर्म करने वाला है हमारा चित्त, हमारी चेतना। वे जव टिकते ही नही तो धर्म कौन करता है ?

जव धार्मिक ने पहला पाठ ही नही पढा कि मन की चंचलता कैसे कम करू तो धर्म क्या हुआ ? हम लोग वहुत आगे की वात करते है—आत्मा, परमात्मा, सृष्टि, अद्वैत, स्वर्ग, नरक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, मोक्ष। किन्तु जिन चर्चाओ को समझने के लिए चित्त की स्थिरता चाहिए, वह हमे प्राप्त नही होती। कुजी तो हमे प्राप्त ही नही है, तो इतने वडे-वड़े तालो को कैसे खोलेंगे ?

आज धर्म के साथ प्रयोग की आवश्यकता है। यदि धर्म के साथ प्रयोग

नही जुडा तो धर्म निर्जीव हो जाएगा। आज धर्म का गुरु अपने शिष्य को कहता है, गुस्सा मत करो, नशा मत करो, शराब छोडो, मांस छोडो। पर अगर प्रश्न आए कि कैसे छोड़ू तो बहुत बडी समस्या हो जाती है।

तर्कशास्त्र का एक नियम है कि कारण है तो कार्य होगा। धर्म एक कारण है बुराइयो को छुडाने का, आदतो को बदलने का। जब धर्म है तो आदते निश्चित बदलेंगी। अगर बुराइया नही छूटती, आदत नही बदलती तो यह समझ लेना चाहिए कि हम धर्म के नाम पर कुछ और ही कर रहे हैं।

योगशास्त्र की प्रक्रिया के इन प्रयोगो से व्यक्तित्व को बदला जा सकता है। डॉक्टर ग्रथियो के हार्मोन्स को जानते हैं, पर उनका प्रभाव कैसे होता है? उनको कैसे बदला जाए ? कैसे नया रसायन पैदा किया जाए ? डॉक्टर नहीं जानते। पर अध्यात्म यह सब बतला सकता है। अत: अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय जरूरी है। जीवन विज्ञान के साथ १०-११ विद्या की शाखाएं जुड़ती है। प्रशिक्षणार्थी को इनका ज्ञान होना जरूरी है। वर्षों से हमारी यह परिकल्पना है कि इनकी समन्विति से एक नए दर्शन का जन्म हो और हम एक घोड़े पर चढ़ सके। केवल सैद्धान्तिक ज्ञान काम का नही, अपेक्षा है–प्रयोग द्वारा परिवर्तन लाए।

मैंने धर्म को विज्ञान के संदर्भ में इसलिए समझने का प्रयत्न किया है कि आज धर्म की जितनी अच्छी व्याख्या वैज्ञानिक दृष्टि मे प्राप्त हो सकती है उतनी केवल मान्यताओं के आधार पर नही हो सकती। हमारे शरीर मे जितनी बुराइयों की व्यवस्थाएं है, उतनी ही बुराइयो को मिटाने की व्यवस्थाएं है। इतने अपार रहस्य हैं शरीर के। मुझे आज १०-१५ वर्ष हो गए पढ़ते-पढ़ते। अभी तक मैं नही कह सकता कि मैंने शरीर के पूरे रहस्यो को जान लिया है। मैं शुरू से ही दर्शन का विद्यार्थी रहा हूं। दर्शनो को खूब पढ़ा है। सारे भारत के दर्शनो को पढ़ा। किन्तु जब से मैंने अपने दर्शन को पढ़ा मुझे बिलकुल नया आयाम मिला, नई दिशा का उद्घाटन हुआ।

मै यह मानता हूं, आज प्रत्यक्ष ज्ञान भी हो सकता है, अतीन्द्रिय ज्ञान भी हो सकता है। हमारी बहुत सारी सुप्त शक्तियो को भी हम जगा सकते है। हम दीन नही है, दरिद्र नही हैं, जो मांगतेही चलें। हम कर सकते हैं। पर संभावनाओं के द्वारो को पहले खोलने की आवश्यकता है। यह मानकर न बैठ जाएं कि आज कुछ नही हो सकता। अगर इतना आत्म-विश्वास जाग जाए तो कुछ भी असंभव नही है।

मुझे धर्म बहुत प्रिय है किन्तु साथ मे विज्ञान भी उतना ही प्रिय है। मैं धर्म को एक वैज्ञानिक दृष्टि से देखता हूं। विज्ञान की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएं है–प्रयोग और परीक्षण। धर्म एक विज्ञान है। धर्म सत्य है। व्यक्ति जब तक अपने शरीर के रहस्योको नही जानता, वह धर्म की ग्रन्थियो

को नही सुलझा सकता। एक डॉ० के लिए शरीर को समझना जितना जरूरी है, एक धार्मिक के लिए भी उतना ही जरूरी है। आज एनाटॉमी, साइकोलॉजी एव फिजियोलॉजी, जो शरीर विज्ञान की तीन शाखाएं है, उन्हे जव तक धार्मिक नही समझेगा वह सच्चा धार्मिक नही वन पाएगा।

आज धार्मिको के सामने वडी चुनौती है, वडा प्रश्न है कि धर्म से समाज को क्या मिला? क्या वदला? व्यक्ति मे क्या परिवर्तन आया? सचमुच ये ऐसे प्रश्न है जिनका हम उत्तर नही दे सकते।

धर्म के तीन रूप है—१. उपासना और भक्ति, २. नैतिकता एवं व्रत-सकल्पशक्ति, ३. अध्यात्म चेतना का जागरण। धर्म का पहला रूप है नैतिकता, ईमानदारी एव व्रत-संकल्पशक्ति। प्रामाणिक व्यक्ति अगर उपासना करता है, नाम जपता है तो बात समझ मे आती है। किन्तु नैतिकता को विलकुल तिलाजलि दे दे, अध्यात्म चेतना को छोड दे और कोरी उपासना का मार्ग पकड ले तो मुझे लगता है धर्म की हत्या हो रही है। आज धर्म तो बुराइयो को ढकने का साधन वन गया है। झूठ को पालने का साधन धर्म वन गया है। कव तक चलेगा ऐसा धर्म? बहुत खतरा है। इसीलिए हम धर्म को वैज्ञानिक दृष्टि से देखे और देखने की दृष्टि यह हो सकती है कि किस प्रकार शरीरशास्त्रीय एव मानसशास्त्रीय दृष्टि से हम परिवर्तन ला सकते है।

संख्या की परम कोटि—शीर्षप्रहेलिका

जैन आगमो की गणना की परम कोटि का उल्लेख है। उसकी संज्ञा है—शीर्षप्रहेलिका। उसके समक्ष आज की संख्या वहुत छोटी होती है। एक अक पर दो सौ चालीस शून्य लगाने से वह सख्या बनती है। वह उत्कृष्ट सख्या है। जब विज्ञान ने सूक्ष्म गणित की बाते प्रस्तुत की, तव शीर्षप्रहेलिका की सत्यता स्वयं प्रस्थापित हो गई और उसे वहुत महत्त्वपूर्ण खोज माना गया।

ध्वनि-विज्ञान की महान् उपलब्धि

जैन साहित्य मे उल्लेख है कि एक घंटा है अवस्थित। वह एक स्थान पर वजता है। उसकी ध्वनि से प्रकपित होकर दूर-दूर हजारो-लाखों घटे वज उठते है। असख्य योजन तक यह घटना घटित होती है। लोगो ने इस उल्लेख को कपोल-कल्पित वताया। किन्तु जब विज्ञान ने ध्वनि-तरगो की द्रुतगामिता के सिद्धात का प्रतिपादन किया, तव यह सत्य भी प्रमाणित हो गया। आज यह ध्वनि-विज्ञान महानतम उपलब्धि माना जाता है।

जव तक व्यक्ति सूक्ष्म पर्यायो की ओर प्रस्थान नही करता तब तक सचाई को नही पा सकता। जव तक अनेकान्त की दृष्टि का विकास नहीं होता, तब तक उस दिशा मे प्रस्थान नही हो सकता।

वैज्ञानिक उपलब्धि

मनुष्य सारी जीवन-यात्रा स्थूल शरीर की परिक्रमा करते हुए करता है। जीवन इसी स्थूल शरीर के आस-पास चलता है। इस सीमा को पार कर आगे जाने वाले कुछ ही लोग होते है। हमारे पास जानने के जितने भी साधन है, वे सब स्थूल हैं। वे सब स्थूल को पकड सकते हैं। सूक्ष्म को जानने का कोई भी साधन नही है।

इस वैज्ञानिक युग ने मनुष्य जाति का बहुत उपकार किया है। आज धर्म के प्रति जितना सम्यग् दृष्टिकोण है वह ५०-१०० वर्ष पूर्व नही हो सकता था। आज सूक्ष्म सत्य के प्रति जितनी गहरी जिज्ञासा है, उतनी पहले नही थी। कुछ समय पूर्व तक जब कभी सूक्ष्म सत्य की बात प्रस्तुत होती तो मनुष्य उसे पौराणिक या मन-गढंत मानकर टाल देता था। वह उसे अन्ध-विश्वास कहता था। एक ऐसा शब्द है अन्धविश्वास कि उसकी ओट मे सब कुछ छिपाया जा सकता है। किन्तु विज्ञान ने जैसे-जैसे सूक्ष्म सत्य की प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत की, वैसे-वैसे अन्धविश्वास कहने का साहस टूटता गया। अब यदि कोई व्यक्ति किसी बात को अन्धविश्वास कह कर टालता है तो वह साहस ही करता है। आज विज्ञान जिन सूक्ष्म सत्यो का स्पर्श कर चुका है, दो शताब्दी पूर्व उनकी कल्पना करना भी असंभव था। यह कहा जा सकता है कि विज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान की सीमा के आस-पास पहुंच रहा है। प्राचीन काल मे साधना द्वारा अतीन्द्रिय ज्ञान का विकास और सूक्ष्म सत्यो का साक्षात्कार किया जाता था। आज के आदमी ने अतीन्द्रिय ज्ञान की साधना भी खो दी और अतीन्द्रिय ज्ञान के विकास करने का अभ्यास भी खो दिया, पद्धति भी विस्मृत हो गई। अब सिवाय विज्ञान के कोई साधन नही है। वैज्ञानिको ने कोई साधना नही की, अध्यात्म का गहरा अभ्यास नही किया, अतीन्द्रिय चेतना को जगाने का प्रयत्न नही किया, किन्तु इतने सूक्ष्म उपकरणों का निर्माण किया, जिनके माध्यम से अतीन्द्रिय सत्य खोजे जा सकते है, देखें जा सकते है। वे सारे सत्य इन सूक्ष्म उपकरणो से ज्ञात हो जाते है। इसका फलित यह हुआ कि आज का विज्ञान अतीन्द्रिय तथ्यो को जानने-देखने और प्रतिपादन करने मे सक्षम है।

एस्ट्रलप्रोजेक्शन और समुद्घात

एक हब्शी महिला है। उसका नाम है—लिलियन। वह अतीन्द्रिय प्रयोगो मे दक्ष है। उससे पूछा गया—तुम अतीन्द्रिय घटनाए कैसे बतलाती हो? उसने कहा, 'मैं एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा उन घटनाओ को जान लेती हूं। प्रत्येक प्राणी मे प्राणधारा होती है। उसे एस्ट्रल बॉडी भी कहा जाता है। एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा मैं प्राण शरीर से बाहर निकल कर, जहां घटना

घटित होती है, वहां जाती हूं और सारी वाते जानकर दूसरो को वता देती हूं।'

विज्ञान द्वारा सम्मत यह एस्ट्रलप्रोजेक्शन की प्रक्रिया जैन परपरा की समुद्घात प्रक्रिया है। समुद्घात का यही तात्पर्य है कि जव विशिष्ट घटना घटित होती है तव व्यक्ति स्थूल शरीर से प्राणशरीर को वाहर निकाल कर घटने वाली घटना तक पहुचाता है और घटना का ज्ञान कर लेता है। यह प्राणशरीर वहुत दूर तक जा सकता है। इसमे अपूर्व क्षमताए है।

समुद्घात सात है—वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात, वैक्रिय समुद्घात, तैजस समुद्घात, आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात। जव व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है तव उसका प्राण शरीर वाहर निकल जाता है। यह कषाय समुद्घात है। जव आदमी के मन में अति लालच आता है तव भी प्राण-शरीर वाहर निकल जाता है। इसी प्रकार भयकर वीमारी मे, मरने की अवस्था मे भी प्राण-शरीर वाहर निकल जाता है। आज के विज्ञान के सामने ऐसी अनेक घटनाए घटित हुई है।

एक रोगी ऑपरेशन थियेटर मे टेवल पर लेटा हुआ है। उसका मेजर ऑपरेशन होना है। डाक्टर ऑपरेशन कर रहा है। उस समय उस व्यक्ति मे वेदना समुद्घात घटित हुई। उसका प्राण शरीर स्थूल शरीर से निकलकर ऊपर की छत के आसपास स्थिर हो गया। ऑपरेशन चल रहा है और वह रोगी अपने प्राण शरीर से सारा ऑपरेशन देख रहा है। ऑपरेशन करते-करते एक विन्दु पर डॉक्टर ने गलती की। तत्काल ऊपर से रोगी ने कहा, डाक्टर! यह भूल कर रहे हो। डॉक्टर को पता नही चला—कौन वोल रहा है। उसने भूल सुधारी। वेदना कम होते ही रोगी का प्राण शरीर पुनः स्थूल शरीर मे आ जाता है। प्रोजेक्शन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। होश आने पर रोगी ने डॉक्टर से कहा, छत पर लटकते हुए मैने पूरा ऑपरेशन देखा है।

शरीर प्रक्षेपण की अनेक प्रक्रियाए है। इन प्रक्रियाओ मे प्राण शरीर वाहर चला जाता है।

उस हब्शी महिला लिलियन ने कहा—'मै एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा यथार्थ वात जान लेती हू। मैं लोगो के आभामंडल मे प्रविष्ट होकर उनके चरित्र का वर्णन कर सकती हूं। किंतु शरावी आदमी के चरित्र को मैं नही जान सकती, क्योकि शरावी आदमी का आभामडल अस्त-व्यस्त हो जाता है। वह इतना धुधला हो जाता है कि उसके रगो का पता ही नही चलता।'

हमारी भावनाए, हमारे आचरण आभामंडल के निर्माता है। जव अच्छी भावनाए, और पवित्र आचरण होता है तव आभामडल वहुत सशक्त

और निर्मल होता है। जब भावधारा मलिन होती है और चरित्र भी मलिन होता है तब आभामंडल धूमिल, विकृत और दूषित हो जाता है।

सोवियत रूस के इलेक्ट्रॉनिक विशेषज्ञ सेमयोन किर्लियान तथा उनकी वैज्ञानिक पत्नी 'वेलेन्टिना' ने फोटोग्राफी की एक विशेष विधि का आविष्कार किया। उस विधि द्वारा प्राणियो और पौधो के आस-पास होने वाले सूक्ष्म विद्युतीय गतिविधियों का छायांकन किया जा सकता है। जब एक पौधे से तत्काल तोडी गयी पत्ती की सूक्ष्म गतिविधियो की फिल्म खीची गयी तो आश्चर्यकारी दृश्य सामने आये। पहले चित्र मे पत्ती के चारो ओर स्फुलिंगो, झिलमिलाहटो और स्पंदी ज्योतियों के मंडल दिखाई दिये। दस घंटे बाद लिए गए छाया-चित्रों में ये आलोक मंडल क्षीण होते दिखाई दिये। अगले दस घंटो के छाया-चित्रो मे आलोक मंडल पूरी तरह क्षीण हो चुके थे। इसका तात्पर्य है कि पत्ती की तब मौत हो चुकी थी।

किर्लियान दम्पति ने एक रुग्ण पत्ती की फिल्म उस विशेष विधि से खीची। उसमे आलोक मंडल प्रारंभ से ही कम था। वह शीघ्र ही समाप्त हो गया। किर्लियान दम्पति ने उस विशेष विधि द्वारा अत्यंत निकट मे मानव शरीर के छाया-चित्र खीचे। उन छाया-चित्रो मे गर्दन, हृदय, उदर आदि अवयवो पर विभिन्न रंगो के सूक्ष्म धब्बे दिखाई दिये। वे उन अवयवो से विसर्जित होने वाली विद्युत् ऊर्जाओं के द्योतक थे।

लेश्या वनस्पति के जीवो मे भी होती है। पशु-पक्षी तथा मनुष्य मे भी होती है। इसलिए आभामंडल भी प्राणीमात्र में होता है।

ओकल्ट साइन्स के वैज्ञानिको ने यह तथ्य प्रगट किया कि आदमी जब तक अपने शरीर के विशिष्ट केन्द्रो को चुम्बकीय क्षेत्र नही बना लेता, एलेक्ट्रोमेग्नेटिक फील्ड नही बना लेता, तब तक उसमे पारदर्शन की क्षमता नही जाग सकती। चैतन्य-केन्द्रो और चक्रो की सारी कल्पना का मूल उद्देश्य है—शरीर को चुम्बकीय क्षेत्र बना लेना। सहिष्णुता और समभाव वृद्धि के प्रयोग उपवास, आसन, प्राणायाम, आतापना, सर्दी-गर्मी को सहने का अभ्यास—इन सारी प्रक्रियाओ से शरीर के परमाणु चुम्बकीय क्षेत्र मे बदल जाते है और वह क्षेत्र इतना पारदर्शी बन जाता है कि उस क्षेत्र से भीतर की चेतना बाहर झांक सकती है।

आज के पेरासाइकोलॉजिस्ट टैलीपैथी का प्रयोग करते है। टैलीपैथी का अर्थ है—विचार-सम्प्रेषण। एक आदमी कोसों की दूरी पर है। उससे बात करनी है, कैसे हो सकती है? आज तो टेलीफोन और वायरलेस का साधन है। घर बैठा आदमी हजारो कोसों पर रहने वाले अपने व्यक्तियों से बात कर लेता है। प्राचीन काल मे ये साधन नही थे, तो वे दूर स्थित व्यक्तियों से बात कैसे करते? टैलीपैथी शब्द भी नही था। यह अंग्रेजी का शब्द है। उस

समय विचारों को हजारों कोस दूर भेजना विचार-संप्रेषण की प्रक्रिया से होता था। जैसे एक योगी है। उसका शिष्य पांच हजार मील की दूरी पर है। योगी उसे कुछ बताना चाहता है, उससे बातचीत करना चाहता है। अब वह कैसे बात करे ? आधुनिक साधन तो थे नहीं उस समय। किन्तु उस समय विचार-संप्रेषण की साधना की जाती थी जिससे विचारों का आदान-प्रदान हो जाता था।

प्रेक्षा-ध्यान पद्धति

प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति एक वैज्ञानिक पद्धति इस अर्थ में है कि केवल अंधेरी कोठरी में ढेला फेंकने की बात इसमें नहीं है। पूरे विज्ञान के साथ यह चलती है। कारण और परिणाम—दोनों का स्थान इसमें है। इस आदत का कारण क्या है और इसका परिणाम क्या है ? इसके बदलने का हेतु क्या है ? इसकी प्रक्रिया क्या है ? यह सब बहुत स्पष्ट है गणित की भांति। किसी को संदेह करने की जरूरत नहीं। शरीर-विज्ञान के साथ-साथ अध्यात्म-विज्ञान को जानने वाला, इस सचाई को बहुत जल्दी पकड लेता है। उसकी समझ में आ जाता है कि हमारे शरीर में जो विशिष्ट केन्द्र हैं चेतना के, उनका फंक्शन कैसे बदलता है और उसका परिणाम क्या होता है। यह केवल शरीर-विज्ञानी नहीं जानता। ये दोनों—शरीर-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान जुड जाएं तो सामाजिक जीवन की पद्धति बदल सकती है। अभी अधूरी-अधूरी बात चल रही है, इसलिए आज अपेक्षा है कि सामाजिक शिक्षा के साथ अध्यात्म की शिक्षा जुडे और सामाजिक जीवन प्रणाली के साथ अध्यात्म की जीवन प्रणाली जुडे। दोनों का योग हो जाए। दोनों का योग होने पर ही नई चेतना जाग सकती है, चेतना का रूपान्तरण हो सकता है। हमारा मुख्य लक्ष्य है—चेतना का रूपान्तरण। शरीर का रूपान्तरण साध्य नहीं है। इसका चिकित्सात्मक पहलू भी है। किन्तु वह मुख्य लक्ष्य नहीं है। मुख्य लक्ष्य है—चेतना का रूपान्तरण, चेतना की चिकित्सा।

मानसिक संतुलन अनुप्रेक्षा

साधना का अर्थ है—सतुलन का अभ्यास। प्रतिकूलता में पारा गर्म होना, आपे से वाहर होना, अनुकूलता में फूलकर कुप्पा वनना, दोनों ही असंतुलन के परिणाम हैं। मनुष्य को हर स्थिति मे संतुलित रहना चाहिए। अभ्यास के विना संतुलित रहना कठिन होता है। किन्तु साधना का लक्ष्य होने के वाद कठिन भी सरल हो जाता है।

मन क्यों टूटता है? मन मे वेचैनी क्यों होती है? मन मे डिप्रेसन क्यो होता है? मन क्यो सताता है? उसमे कमजोरियां क्यों आती है? उसमें भय क्यो उत्पन्न होता है? अकारण ही भय क्यों सताता है? ये प्रश्न है। मैं समझता हूं, यह इसलिए होता है कि गधे पर हाथी का भार लाद दिया गया है। इतना भार आने पर गधा टूटेगा ही, दवेगा ही।

इन सव समस्याओ से मुक्त होने के लिए हम वर्तमान को समझें, वर्तमान मे जीएं, पर अतीत से कट कर नही, अतीत का भी पूरा मूल्याकन करते हुए। क्योकि हम अतीत से वहुत प्रभावित होते हैं। इसलिए अतीत को समझना वहुत आवश्यक है। अतीत का परिष्कार करते चले, पर वर्तमान मे गधे पर इतना वोझ न लादें कि वह टूट जाए। वोझ को धीरे-धीरे कम करते जाएं। इन सारी समस्याओ से निपटने के लिए हमे मन और मन पर होने वाले प्रभावो को समझना जरूरी है।

धार्मिक व्यक्ति मे भयंकर कष्ट आते हैं। अनेक विकट समस्याओं का उसे सामना करना पड़ता है। पर वह इन सव उलझनों से घवराता नहीं, इन्हें प्रसन्नता से सह लेता है। यही धर्म की फलश्रुति है, कसौटी है।

अधार्मिक व्यक्ति में भी कष्ट आते हैं, पर वह छोटी-सी समस्या मे इतना उलझ जाता है कि वह समस्या के समक्ष घुटने टेक देता है। यही वहुत वड़ा अन्तर है।

धर्म का अर्थ है समता। धार्मिक होने का तात्पर्य है प्रत्येक समस्या के साथ समता को जोड देना। जव यह समता जुड़ती है तव न जाने कितने-कितने पुराने भावो का, समस्याओ का, परिष्कार हो जाता है।

भूमि का, क्षेत्र का प्रभाव होता है। एक क्षेत्र में जाते ही मन प्रफुल्लित हो जाता है और एक क्षेत्र मे जाते ही मन अकारण ही विषण्ण हो जाता है। यह सारा क्षेत्रगत प्रभाव है।

विकसित होता है, वह टूट जाता है। परिस्थिति आती है और आदमी अधीर हो जाता है। उसमे सहने की ताकत नही रहती।

हम जिस दुनिया मे जी रहे है, वह सयोग-वियोग की दुनिया है। न जाने प्रतिदिन कितनी करुण घटनायें घटित होती है। दुर्घटनाये होती है। अनेक व्यक्ति मर जाते है। धन चला जाता है। अनेक विकट परिस्थितिया पैदा होती है। आदमी मे उन्हे झेलने की शक्ति नही रहती। इस स्थिति मे क्या संभव है कि हमारी शिक्षा हमे कोई सहारा दे ? आज की शिक्षा के साथ यह शिक्षा अवश्य ही जोडनी होगी, और वह शिक्षा है अपने आपको देखने की शिक्षा, मनोवल को विकसित करने की शिक्षा, सहिष्णुता को वढाने की शिक्षा।

सहिष्णुता का अभाव

आज का मनुष्य इतना असहिष्णु है कि वह कुछ भी सहन नही कर सकता। आज के युग की यह भयकर वीमारी है। वह किसी भी घटना को सहन नही कर पाता। हीटर और कूलर क्यो चले ? जव मनुष्य ऋतु के प्रभाव को सहन करने मे असमर्थ हो गया तव इनका आविष्कार हुआ। ऋतु के प्रभाव को सहने की क्षमता आदमी मे कम हो गई है। आज जव कुछ समय के लिए विजली चली जाती है तव आदमी परेशान हो जाता है। गर्मी है, पखा चाहिए। सर्दी है, हीटर चाहिए। पुराने जमाने के मकान देखे। उनके दरवाजे भी छोटे होते और खिडकिया विशेप होती ही नही और यदि कोई होती तो वे भी छोटी ही होती। आज तो शायद पशु भी उन स्थानो मे नही रखे जा सकते। कुछ असर पशुओ मे भी आया है आदमियो का। वे भी खुला स्थान पसन्द करते है। उन्हे भी मुक्त स्थान चाहिए। किन्तु आश्चर्य होता है कि लोग उन मकानो मे कैसे रहते थे ?

आचार्य भिक्षु ने सिरियारी गाव मे पक्की हाट मे चातुर्मास-काल बिताया। अभी भी वह हाट प्राय: मूल की स्थिति मे मौजूद है। उस हाट मे आज कोई भी साधु चातुर्मास तो क्या एक दिन भी रहना नही चाहेगा। वह पूरा दिन नए स्थान की खोजवीन मे बिता देगा, पर हाट मे नही रह सकेगा। इसका क्या कारण है ? कारण वहुत स्पप्ट है कि उस जमाने के लोग वहुत शक्तिशाली और सहनशील थे। वे हर घटना को सह लेते थे। जैसे-जैसे सुविधाओ का विकास हुआ है, मनुष्य की सहनशक्ति कम हुई है। आज सुविधाओ के प्रचुर साधन उपलब्ध है। प्रतिदिन साधनो की नई नई खोजे हो रही है। इसे हम विकास की संज्ञा देते हैं। मैं भी अस्वीकार नही करता कि मनुष्य ने इस क्षेत्र मे विकास नही किया है। उसने विकास किया है और आज भी वह नए-नए आयाम खोज रहा है। किन्तु यह कहे विना भी नहीं

रहा जाता कि पदार्थ जगत् मे मनुष्य ने विकास किया है और आतरिक चेतना के जगत् मे, जहां सहिष्णुता का विकास था, उसे खोया है। आज कितना अधैर्य है। असहिष्णुता अधीरता को जन्म देती है। आज मानो कि मनुष्य मे धृति है ही नही, ऐसा लगता है। यदि मालिक नौकर को दो कडे शब्द कह देता है तो नौकर तत्काल कहता है—यह लो तुम्हारी नौकरी। मैं तो चला। मालिक सोचता है नौकर चला गया तो क्या होगा ? वह स्वयं नौकर से कहता है—'चलो, आगे से कुछ नही कहूंगा।' सारा चक्का उल्टा घूम गया। प्राचीन काल मे मालिक नौकर को कितना अनुशासन मे रखता था और नौकर स्वामी का कितना विनय करता था। नौकर कितना सहिष्णु होता था। आज पिता पुत्र को कुछ भी कहने से पूर्व दस वार सोचता है कि इस बात का पुत्र पर क्या असर होगा ? कही वह कुपित होकर घर से चला न जाए। आत्महत्या न कर ले। कभी-कभी वह पूरी बात कह भी नहीं पाता, अधूरी बात कहकर ही विराम कर लेता है।

आज प्रत्येक व्यक्ति अधीर है। अधीरता सीमा को लांघ चुकी है। मनुष्य ने प्रकृति की सर्दी-गर्मी को सहने की क्षमता को ही नही गंवाया है, उसने सार्वभौम सर्दी-गर्मी को सहने की क्षमता भी खोयी है।

आज असहिष्णुता चरमसीमा तक पहुंच चुकी है। दो भाई हैं। दो मित्र हैं। तव तक भाईचारा और मित्रता निभती है जब तक आपस मे कुछ कहा सुना नही जाता। मन के प्रतिकूल कहते ही भाईचारा टूट जाता है। मित्रता समाप्त हो जाती है। शिष्य गुरु के प्रति विनीत होता है, समर्पित होता है। विनय और समर्पण तब तक अखण्ड रहता है जब तक गुरु शिष्य को कुछ कठोर शब्द नही कहते और शिष्य का स्वार्थ संपादित होता रहता है। कुछ कहा, कुछ ताप दिया कि शिष्य मोम की तरह पिघलकर बिखर जाएगा, टूट जाएगा।

अनुशासन तव तक सम्भव नही है, जब तक सहिष्णुता का विकास नहीं होता। हम अनुशासन लाने का वहुत प्रयत्न करते हैं। हम चाहते हैं कि अनुशासन का विकास हो, विद्यार्थी और पुलिसकर्मी मे अनुशासन आए, मजदूर और कर्मचारी मे अनुशासन आए। हर क्षेत्र मे अनुशासन वढ़े। सब चाहते है, किन्तु वे इस आधारभूत तत्त्व को भूल जाते है कि सहिष्णुता की शक्ति का विकास हुए विना अनुशासन का विकास नही हो सकता। इसलिए हमारा सारा प्रयत्न सहिष्णुता की शक्ति को विकसित करने के लिए होना चाहिए। तव अनुशासन स्वयं फलित होगा।

सहिष्णुता का विकास शक्ति का विकास है। इस शक्ति के सहारे दूसरो की कमियो को भी सहा जा सकता है और दूसरो की विशेषताओ को भी सहा जा सकता है। आज अनुशासन की समस्या वहुत जटिल हो गई है,

क्योकि मनुष्य असहिष्णु वन गया है। सहिष्णुता के विना अनुशासन का विकास नही हो सकता। अनुशासन एक परिणाम है और सहिष्णुता की शक्ति है उसका कारण। पिता की वात पुत्र नही मानता क्योंकि उसमें सहने की क्षमता नही है। पुत्र तत्काल कह देता है—मुझे कुछ भी कहने की जरूरत नहीं है। मैं भी आदमी हू, वयस्क हूं, मैं भी सोचता हूं, आप मुझे वार-वार क्यों कहते है ?

सहिष्णुता के प्रयोग

सहिष्णुता की शक्ति का विकास करने के लिए अग्र-मस्तिष्क (फ्रटल लॉव या एमोशनल एरिया) पर विशेष ध्यान केन्द्रित करना होगा। प्रेक्षा-ध्यान की दृष्टि से इसे शांति केन्द्र, ज्योति-केन्द्र का स्थान कहा जाता है। असहिष्णुता की आंच यहा है। यहा चूल्हा जल रहा है। तापमान का नियत्रण हाइपोथेलेमस द्वारा होता है। मस्तिष्क का एमोशनल एरिया ही सारी उत्तेजनाओ, आवेगो और असहिष्णुता का जनक है। इसको वदले विना या इस पर नियंत्रण किए विना सहिष्णुता की शक्ति का विकास नही हो सकता। इसको वदलने का कारगर उपाय है—ज्योति-केन्द्र और शाति-केन्द्र पर ध्यान करना। यह एक वात है। दूसरी वात है कि इन दो केन्द्रो पर सफेद रग का ध्यान करना। ये दो प्रयोग है, दो अभ्यास-क्रम हैं। ये दोनो प्रयोग मस्तिष्क के एमोशनल एरिया पर नियत्रण करते है, उसे शात करते है। इस पर नियन्त्रण जैसे-जैसे होता जाएगा, वैसे-वैसे उत्तेजनाए और आवेग कम होते जाएंगे और सहिष्णुता की शक्ति का विकास होता जाएगा। जव सहिष्णुता का विकास होगा तव अनुशासन की शक्ति अपने आप आएगी। इस स्थिति मे आदमी किसी बात को सुनकर तत्काल उत्तेजित नही होगा, असहिष्णु नही होगा। वह सोचेगा—'कहने वाला जो बात कह रहा है, उसका तात्पर्य क्या है, प्रयोजन क्या है।' यह सोचकर वह उस वात मे से सारतत्त्व को ग्रहण कर, शेष को छोड देगा।

एक अंग्रेज ने महात्मा गाधी को पत्र लिखा। उसमे गालियो के अतिरिक्त कुछ था नही। गाधीजी ने पत्र पढा और उसे रद्दी की टोकरी मे डाल दिया। उसमे जो 'आलपिन' लगा हुआ था उसे निकालकर सुरक्षित रख लिया। वह अग्रेज गांधीजी से प्रत्यक्ष मिलने के लिए आया। आते ही उसने पूछा—'महाराज ! आपने मेरा पत्र पढा या नही ?' महात्माजी वोले—'वडे ही ध्यान से पढा है।' उसने फिर पूछा—'क्या सार निकाला आपने ?' गाधीजी ने कहा—'एक आलपिन निकाला है। वस, उस पत्र मे इतना ही सार था। जो सार था, उसे ले लिया। जो असार था, उसे फेक दिया।'

जव सहिष्णुता का विकास होता है तव आदमी सतुलित हो जाता है।

वह न प्रियता मे फूलता है और न अप्रियता मे कुम्हलाता है। कभी-कभी प्रियता भी धोखे मे डाल देती है। कभी-कभी प्रियता भी खतरनाक हो जाती है। मित्रता के बहाने जितना धोखा दिया जा सकता है, उतना धोखा शत्रुता के बहाने नही दिया जा सकता। मित्र जितना खतरनाक हो सकता है उतना शत्रु खतरनाक नही हो सकता। प्रियता के बहाने आदमी जितना धोखा खाता है, उतना धोखा अप्रियता से नही दिया जा सकता। जब सहिष्णुता का विकास होता है तब प्रियता मे भी विवेक करने की शक्ति जाग जाती है और अप्रियता मे भी विवेक करने की शक्ति जाग जाती है।

सहिष्णुता के विकास का सूत्र है–शाति-केन्द्र और ज्योति-केन्द्र पर ध्यान करना, तद्विपयक चिन्तन और विचार करना।

उपवास सहिष्णुता का बड़ा प्रयोग है। प्रतिदिन प्रात.काल भोजन की माग हो जाती है। जो उपवास करते है, उनमे सहज ही सहिष्णुता का विकास होता है और सकल्प-शक्ति का विकास होता है। भगवान् महावीर ने बहुत लम्बी-लम्बी तपस्याएं की थी और वे कोरी शरीर को सताने वाली तपस्याएं नही थी। यह तो भ्राति से लोगो ने मान लिया कि शरीर को बडा कष्ट दिया, सताया। उनके तो वे सारे प्रयोग थे। अब जब प्रयोग की बात भूल गए, तब लगा कि उन्होने शरीर को बहुत सताया। आज भी लोग बहुत कहते है कि जैन लोग शरीर को बहुत सताते है। सताने की कोई बात नही है। ये सारी प्रयोग की बाते है। जो शरीर को सताने के लिए तपस्या की जाए तो ऐसी तपस्या गलत है और ऐसी तपस्या होनी ही नही चाहिए। केवल प्रयोग होना चाहिए। आयुर्वेद का विश्वास है कि सप्ताह मे एक उपवास अवश्य होना चाहिए। आज हम उपवास के महत्त्व को भूल गये किन्तु पश्चिम के लोगो ने उपवास-चिकित्सा का प्रयोग कर रखा है, न जाने कितने वर्षो से चल रहा है। उपवास-चिकित्सा पर पश्चिम मे जितनी अच्छी पुस्तके निकली है शायद भारत मे नही निकली। उपवास प्रयोग है, अगर प्रयोग की दृष्टि से किया जाए।

सहिष्णुता के विकास के लिए कोई साधक सूर्य के आतप का प्रयोग करे तो कब, कितना और किस आसन मे करना चाहिए, यह एक प्रश्न है। प्रारम्भ करने वाले के लिये प्रातःकाल सूर्योदय से लेकर एक घण्टे तक यह प्रयोग किया जा सकता है। कायोत्सर्ग की मुद्रा (लेटे-लेटे) या पद्मासन की मुद्रा लाभप्रद्र होती है। प्रारंभ मे आतप का सेवन दस-पन्द्रह मिनट तक किया जाये और फिर धीरे-धीरे उसे बढ़ाकर एक घण्टा तक खीचा जा सकता है।

धार्मिक की कसौटी

धार्मिक की पहली कसौटी है सहिष्णुता, परिस्थिति को सहने की क्षमता। वह कभी नही कहता कि मेरे पर दुःख न आए। जो यह माग करता है, वह कर्तृत्व की हत्या करता है। क्या प्रकृति का नियम वदल जाए ? क्या कर्म का नियम वदल जाए ? धार्मिक कभी सत्य को उलटना नही चाहता।

दुनिया का नाम है द्वन्द्व। सस्कृत मे द्वन्द्व शब्द के दो अर्थ होते है—'दो' और 'लडाई'। दो का होना ही लडाई है। इस द्वन्द्वात्मक सृष्टि मे जन्म ले और सोचे—दुःख, प्रतिकूल परिस्थिति और कठिनाई न आए, यह कैसे हो सकता है ? ऐसा सोचना निरी मूर्खता है।

धार्मिक मे भी कठिनाई आए तो धर्म करने का लाभ क्या है ? यह प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर वहुत साफ है। धर्म से दुःख को सहने की शक्ति आती है। धार्मिक कष्ट मे रोता, विलपता नही, अपितु आनन्द से उसे झेल लेता है। रोग धर्म करने वालो के भी आता है और न करने वालो के भी आता है। वुढापा धर्म करने वालो के भी आता है और न करने वालो के भी आता है। विघ्न धर्म करने वालो के भी आता है और न करने वालो के भी आता है। मौत धर्म करने वालो को भी आती है और न करने वालो को भी आती है। दोनो मे फर्क यह पडता है कि अधार्मिक रोग मे विलखता है, हाय-हाय करता है, पडोसी को भी जगा देता है। दूसरी ओर स्थिति यह है कि रोग चाहे कितना ही भयकर हो, धार्मिक उसे शात भाव से सहन कर लेता है। दूसरों को पता नही चलता कि इसके कष्ट हो रहा है। मैंने देखा कुन्दनमलजी स्वामी को। उनके मस्से मे घाव हो गया। डाक्टर ने कहा—चीरना होगा। चौथमलजी स्वामी कैंची से चीरने लगे। विना सूघनी के वे मूर्ति की तरह वैठ रहे। कहने लगे—चौथमलजी ! काटना हो जितना एक साथ काट लो। शात भाव से सहने की शक्ति कहा से आती है ? जिनमे यह भेदज्ञान हो जाता है कि आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है, उनमे सहने की शक्ति वढ जाती है।

मैंने मेरी माता साध्वी वालूजी से कहा—'माला जपती हो, वह तो ठीक है। इसके साथ थोड़ा और जोड दो—आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है। इस मत्र को उन्होंने अच्छे ढंग मे पकड लिया। जव कभी मैं जाता और पूछता—कैसे हैं ? तो यही उत्तर मिलता—मेरे कोई वीमारी नही है, विलकुल ठीक है, परम शांति है। मैंने फिर कहा—वीमारी को वीमारी न कहना क्या असत्य नही है ? उन्होने उत्तर दिया—नही है। आत्मा मे शाति है, वीमारी शरीर मे है, मेरे नही।

वह साध्वियो से कहती-अब तुम्हारा-हमारा संबंध नही है, तुम तुम्हारे और मैं अपने मे ।

मनुष्य को सुखी जीवन का सूत्र देते हुए बर्टेड रसेल ने कहा-'वही मनुष्य सुखी है जो अन्य पुरुषो के साथ अपने सवंधो को न तो अचानक तोड़ देता है और न उनमे विषैलापन उत्पन्न होने देता है । जिसके व्यक्तित्व मे अन्य व्यक्तित्व के लिए स्थान है, जो समस्त मानव समाज के साथ आत्मीयता स्थापित करके आनन्द का अनुभव करता है, वह सदा सुखी है ।'

उक्त मन.स्थिति का निर्माण सहिष्णुता के धरातल पर हो सकता है । जो व्यक्ति सहना जानता है, वह क्षमा के महान् आदर्श तक पहुच सकता है । सामूहिक जीवन की सफलता और सरसता का राज है-सहिष्णुता । ईसा की सतरहवी शताब्दी मे जापान के तत्कालीन मत्री ओचीसान का परिवार अपने सौमनस्य के कारण पूरे जापान मे ख्याति प्राप्त कर रहा था । सौ व्यक्तियो का प्रवुद्ध परिवार । वर्षो से सयुक्त परिवार की परपरा । कभी किसी छोटी-मोटी बात को लेकर परस्पर वैमनस्य नही हुआ । जापान के सम्राट् यामातो के कानो तक यह वात पहुची । उनके मन मे आश्चर्य का भाव जागृत हुआ । स्थिति की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए वे मत्री के घर पहुचे । उस परिवार का दृश्य सचमुच विस्मित करने वाला था । सम्राट् ने इस असीम सौहार्द के सवध मे जिज्ञासा व्यक्त की, कारण जानना चाहा । परिवार का सबसे अधिक वुजुर्ग व्यक्ति वृद्ध हो चला था । वह वोलने मे असमर्थ था । उसने सकेत से कलम और पत्र मगवाकर कापते हाथों से उस पर लिखा-'सहनशीलता' ।

सहनशीलता क्षमा की निष्पत्ति है । इसमे वड़े और छोटे का प्रश्न नही उठता । बड़े छोटो को सहन करते है और छोटे बड़ो को सहन करते है । इस सहने मे किसी के प्रति अहसान के भाव नही, आत्मधर्म की प्रेरणा होती है । जहा सहना पड़ता है या किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए सहा जाता है, वह विवशता है ।

जो सब कुछ सह लेता है

निर्ग्रन्थ कौन होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे 'आयारो' का एक सूक्त है- **सीउसिणच्चाई से णिग्गंथे'**-निर्ग्रन्थ वह होता है जो शीत और उष्ण को सहन कर लेता है । शीत और उष्ण का अर्थ केवल सर्दी-गर्मी ही नही है । जो सव प्रकार की अनुकूलताओ और प्रतिकूलताओ को सह लेता है, वह निर्ग्रन्थ शब्द की गरिमा को धारण कर सकता है ।

सामान्यत. निर्ग्रन्थ उसे कहते है जो परिग्रह से मुक्त होता है । पर यहा परिग्रह वहुत नीचे धरातल पर रह जाता है । उससे आगे जो राग-द्वेष

की ग्रन्थियां है, कपाय का वलय है, उसे तोडने वाला साधक निर्ग्रन्थ वन सकता है। इस भूमिका तक पहुंचाने वाला कोई तत्व है तो वह है समता। समता और मैत्री एक ही सिक्के के दो पहलू है। समता एक शक्ति है। इसे क्षमता-सपन्न व्यक्ति ही सजोकर रख सकते है। अक्षम व्यक्ति समता-विहीन होते हैं। वे किसी भी परिस्थिति से प्रतिहत हो सकते हैं। उनमे सहनशीलता नही होती, इसलिए वे मैत्री के मत्र की आराधना नही कर सकते।

निर्ग्रन्थ के कई लक्षण हैं। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अचौर्य और सत्य भी उसके लक्षण है। पर इन सवका समावेश समता मे हो जाता है। जीवन में समता है तो ये सव गुण विकसित हो जाते है समता के अभाव मे इनकी अवस्थिति नही हो सकती। समता की सीमा का अतिक्रमण करते ही इन सवका लोप हो जाता है। यह निश्चय की भूमिका है।

व्यवहार की भूमिका मे समता का पर्याय है मैत्री। यह एक सापेक्ष सत्य है। किसी व्यक्ति के प्रति विरोध, अवहेलना, अनादर या आक्रोश का भाव जाग जाए, उससे क्षमा की याचना करना और अपने प्रति किसी दूसरे द्वारा किए गए व्यवहार के लिए क्षमा देना मैत्री है। यह उन लोगों के लिए है जो व्यवहार-जगत् मे जीते है। व्यवहार के धरातल से ऊपर उठे हुए व्यक्ति की मैत्री किसी के प्रति नही होती। उसका आदर्श होता है—**'मित्ती मे सव्वभूएसु'** विश्व के समस्त प्राणी, फिर वे कितने ही छोटे या वडे क्यों न हों, उनके प्रति समत्व की अनुभूति। यह एक प्रकार की आत्म-शक्ति है। इसका विकास सवमे नही हो सकता। जिन्होने मैत्री की शक्ति का पूरा विकास कर लिया उनके लिए ससार मे कोइ अमित्र हो ही नही सकता। वे ऐसे अमृत का सिञ्चन करते है, जिससे शत्रुता का विप धुल जाता है और व्यक्ति अमृत-मय वन जाता है।

आचार्य भिक्षु समता के महान् साधक थे। उनके जीवन मे मैत्री की अविरल धारा वहती रहती थी। वे किसी को उपालम्भ देते और उसमे किसी का मन आहत हो जाता तो वे मैत्री की ऐसी अमोघ धारा प्रवाहित करते कि सामने वाला व्यक्ति अभिभूत हो जाता।

मृदुता अनुप्रेक्षा

कोमलता का नाम मृदुता है। यह सामूहिक जीवन की सफलता का सूत्र है। इसके द्वारा व्यक्ति के जीवन में सरसता रहती है। मृदु स्वभाव मे लोच होती है। इस स्वभाव वाला व्यक्ति किसी भी वातावरण को अपने अनुकूल बना लेता है। बहुत बार कठोर अनुशासन से जो काम नही होता, वह मृदुता से हो जाता है। नैतिक चेतना का सूत्र है—मृदु व्यवहार। कुछ व्यक्ति क्रूर होते है। वे पशुओ के साथ तथा आदमियो के साथ ऐसा कठोर व्यवहार करते है कि उनकी क्रूरता प्रत्यक्ष हो जाती है। यहा का आदमी पशुओ के प्रति इतना क्रूर होता है कि उसमे नैतिकता का विकास कैसे हो सकता है? आदमी व्यापार मे कितना क्रूर व्यवहार करता है? दहेज की भूख क्या क्रूर व्यवहार नही है? प्रतिवर्ष सैकड़ो मासूम बच्चिया दहेज की बलिवेदी पर आहूत होती है। जब ये सारी क्रूरताएं चलती है तब लगता है कि नैतिकता की बात है कहा? हमने सबसे बडी भूल यह की है कि हमने नैतिकता को अलग मान लिया और धर्म को अलग मान लिया। परलोक को सुधारने के लिए धार्मिक होना जरूरी है, मोक्ष और स्वर्ग के लिए धार्मिक होना जरूरी है, पर नैतिक होना जरूरी नही है। आदमी नैतिक हो या न हो, धर्म करने वाला हो, पूजा-पाठ करने वाला हो, जाप करने वाला हो फिर वह दूकान और घर पर कैसा ही व्यवहार करने वाला क्यो न हो। वह मानता है कि व्यवहार कैसा भी हो, गलती होगी तो भगवान के भजन से सारा पाप धुल जाएगा। एक-दो बार भगवान की आरती करेगे और बस, पाप से छुटकारा मिल जाएगा। फिर कल से नई शुरूआत, नया चिन्तन, नई प्रवृत्ति। जहा इस प्रकार की धारणा बन जाती है कि धर्म अलग, अध्यात्म और धर्म की चेतना अलग, नैतिक चेतना अलग तो वहा नैतिक चेतना के विकास की चर्चा करने मे सकोच होता है। आज चेतना का आमूलचूल परिवर्तन करना है।

मनुष्य मे तीन दुर्बलताएं होती है—क्रूरता, विपमता और स्वय को हानि पहुचाने वाली प्रवृत्ति। इनमे क्रूरता का स्थान पहला है। मै व्यवहार मे परिष्कार चाहता हूं—इस बात का अर्थ है कि व्यवहार मे क्रूरता है वहां कोमलता, मृदुता चाहता हूं। करुणा चाहता हूं कि मेरा व्यवहार दूसरो के प्रति करुणा से भरा हुआ हो। क्रूरता का अश धुल जाए, धुलता चला

जाए। क्रूरता समाप्त हो जाए। पूरी क्रूरता समाप्त हो जाए। आज की सारी विसंगतिया, आज के सारे विरोधाभास, आज की सारी समस्याएं—चाहे आर्थिक क्षेत्र मे हैं, चाहे राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र मे हैं उनका मूल उत्स है—मनुष्य की क्रूरता। क्रूरता के कारण ही आर्थिक कठिनाइयां पैदा हो रही है। आज जो आर्थिक समस्याएं है उनके मूल मे सबसे बड़ा कारण है—मनुष्य की क्रूरता। क्या क्रूरता के बिना कोई आदमी किसी को धोखा दे सकता है? किसी को लूट सकता है? मिलावट कर सकता है? रिश्वत ले सकता है? ये सारी बाते नही हो सकती। एक क्रूरता के कारण सब बुराइया हजम हो रही है। कभी सोचने का अवसर ही नही मिलता कि ऐसा नही होना चाहिए। एक बीमार पड़ा है—मृत्यु-शय्या पर। पर जब तक अधिकारियो की पेट-पूजा नही हो जाती तब तक हॉस्पीटल मे भर्ती होना भी कठिन हो जाता है। एक आदमी को आवश्यक कार्य से कही यात्रा करनी है, पर जब तक रिश्वत का सहारा नही लेता तब तक टिकट ही नही मिलती। एक व्यवसायी गायो को, भैसो को बिना मौत मार देता है। चारे मे ऐसी मिलावट करता है कि चारा खाते ही पशु मरने लग जाते है। क्या क्रूरता के बिना ऐसा सम्भव है? क्या आटे मे मिलावट, मसालो मे मिलावट, दाल मे मिलावट, क्रूरता के बिना सम्भव है? कभी सम्भव नही है। यह सारी आर्थिक भ्रष्टाचार की कहानी क्रूरता की कहानी है।

दूसरे के प्रति हमारा व्यवहार क्रूरता से मुक्त हो। और यदि वह क्रूरता से मुक्त होता है तो अनेक समस्याए अपने आप समाहित हो जाती हैं, फिर उनके समाधान खोजने की आवश्यकता नही होती।

हमारे भीतर अनन्त चेतना का स्रोत प्रवाहित हो रहा है। अपने आपको उस स्रोत में आप्लावित रखने के लिए उस स्रोत को देखना आवश्यक है। जो उस स्रोत को देख लेता है उसके आस-पास मैत्री की धाराए फूट पडती है। मैत्रीभाव विश्व-बन्धुत्व का पहला सूत्र है। जो व्यक्ति प्रतिक्षण जागृत रहता है और द्वेषभाव से दूर रहता है, वह प्रशस्त जीवन जी सकता है। प्रशस्त जीवन का अर्थ है ऋजुता और मृदुता का विकास। ऋजु और मृदु व्यक्ति समभाव की साधना कर सकता है। जो समभाव की साधना करता है, वह आत्मभाव को प्राप्त होता है और आत्मभाव ही अनन्त चेतना का जागरण है।

अभय की अनुप्रेक्षा

जब अप्रमाद जागता है तब भय समाप्त हो जाता है। भगवान् महावीर का सूत्र है—**'सव्वओ पमत्तस्स भयं।' 'सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भयं।'** प्रमादी को भय होता है। अप्रमादी भयमुक्त होता है। जहां प्रमाद है वहां भय है। जहां अप्रमाद है वहां अभय है। मूर्च्छा टूटी, अप्रमाद आया और अभय घटित हुआ। आज का प्रत्येक आदमी भयभीत है। बडा-से-बड़ा व्यापारी भी भयमुक्त नही है। अध्यापक भी भयमुक्त नही है। वह भले ही दूसरों को भय की बात न कहे पर भीतर ही भीतर वह भयाक्रान्त है कि कब, कैसे विद्यार्थी उसकी पिटाई करदे ? कब मिनिस्टर या अन्य शिक्षाधिकारी उस पर झूठे-सच्चे आरोप लगाकर निष्कासित कर दे ? सर्वत्र भय व्याप्त है, क्योंकि सर्वत्र प्रमाद है, विस्मृतियां है, असत्य है। प्रज्ञा सोई पडी है, केवल बुद्धि का जागरण हुआ है। बुद्धि भय को नही मिटा सकती। वह भय को सूक्ष्मता से पकड लेती है। बुद्धिमान आदमी भय को दूर से पकड लेता है। आज के वैज्ञानिक भयग्रस्त है। आबादी बढ रही है। वह दिन भी आ सकता है जिस दिन आदमी को खाने के लिए अनाज नही मिल सकेगा। आबादी की यही रफ्तार रही तो वह दिन भी दूर नही है जब आदमी को चलने के लिए रास्ता नही मिल पाएगा। उसे रहने के लिए मकान और खाने को रोटी नही मिल पाएगी। वैज्ञानिक इन सारी समस्याओ से भयभीत है। सामान्य आदमी के समक्ष यह भय नही है। वह इस विषय मे जानता ही नही, सोचता ही नही, वैज्ञानिक जानता है, निष्कर्ष निकालता है। सौ वर्ष बाद कोयला और पैट्रोल समाप्त हो जाएगे, ऊर्जा के सारे स्रोत समाप्त हो जाएंगे, उस समय विश्व की क्या स्थिति होगी ? यह भय वैज्ञानिक को है, औरों को नही। वे इसकी कल्पना ही नही कर सकते। बुद्धि जितनी प्रखर, तेज होगी उतना भय बढ़ेगा। बुद्धि का काम भय को मिटाना नहीं है। उसका काम है नए-नए भयो को उत्पन्न करना। अभय आता है प्रज्ञा से। जब प्रज्ञा जागती है, तब आदमी 'तथाता' बन जाता है। 'तथाता' का अर्थ है वर्तमान मे जीना, जो प्राप्त है उसे स्वीकार कर लेना। घटना को घटना के रूप मे स्वीकार कर लेना 'तथाता' है। उसके साथ भय को जोडना आवश्यक नही है। 'तथाता' आती है प्रज्ञा से। बाह्य विस्मृति और अन्तर्जागरण यह है 'तथाता'।

अभय की मुद्रा

अभय का भाव जव-जब जागता है, तव-तव अभय की मुद्रा का निर्माण होता है। अभय की मुद्रा का वाहरी लक्ष्य है—प्रफुल्लता। चेहरा खिल जाएगा। विल्कुल प्रसन्नता। कोई समस्या नजर नही आती। कोई तनाव नही होता। भीतर मे विल्कुल शाति। जव भय की भावधारा होती है तो हमारा सिम्पेथैटिक नर्वस-सिस्टम सक्रिय होता है यानी पिगला सक्रिय हो जाती है और जव अभय की भावधारा होती है तो पैरा-सिम्पेथैटिक नर्वस-सिस्टम सक्रिय हो जाता है, इड़ा नाडी का प्रवाह सक्रिय हो जाता है। उस समय कोई उत्तेजना नही होती, शांति और सुख का अनुभव होता है। सव कुछ अच्छा लगता है।

प्रश्न है हम अधिक-से-अधिक अभय की मुद्रा मे कैसे रह सके ? अधिक-से-अधिक अभय की भावधारा को कैसे प्रवाहित कर सके ? अधिक-से-अधिक अभय को कैसे अनुभूत कर सके ? यह हमारे सामने प्रश्न है। हमने भय की भी चर्चा की और अभय की भी। भय हेय है। अभय उपादेय। हमें भय की भावधारा को त्यागना है और अभय की भावधारा को विकसित करना है। इसके लिए तीन साधन अपेक्षित है—उपाय, मार्ग और साधना। अभय का विकास उपाय के विना सभव नही, मार्ग और साधना के विना संभव नही। खोज होगी उपाय की, मार्ग की और साधना की।

एक उपाय है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा के द्वारा अभय की भावधारा को विकसित किया जा सकता है। शव्द की प्रणालिया हमारे शरीर के भीतर वनी हुई है। ये रास्ते, पगडंडियां राजपथ हमारे शरीर मे वने हुए है, जिनके माध्यम से तरंगें हमारे पूरे शरीर मे व्याप्त हो जाती हैं और वे हमें प्रभावित करती हैं। तरंग का सिद्धात वहुत व्यापक सिद्धान्त है। 'क्वान्टम थ्योरी' का विकास हुआ तवसे नही, किन्तु ढाई हजार, तीन हजार वर्ष पहले से यह प्रकम्पन का सिद्धान्त प्रस्थापित है कि ससार मे सव प्रकम्पन ही प्रकम्पन है, सव कुछ तरग ही तरंग है। भय की तरंग उठी और भय के प्रकम्पन शुरू हो गए। यदि उस समय अभय की तरग को उठा सकें, अभय के प्रकम्पनों को पैदा कर सके तो भय की तरंग वही समाप्त हो जाएगी। यह अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त प्रतिपक्ष का सिद्धान्त है कि एक-एक तरंग के द्वारा दूसरी तरग की शक्ति को निरस्त किया जा सकता है और अच्छी तरग को उठाया जा सकता है, वुरी को निरस्त किया जा सकता है। वुरी तरंग को पैदा किया जा सकता है, अच्छी तरंग को निरस्त किया जा सकता है। हमारे पुरुपार्थ पर, हमारे ग्रहण पर और हमारी दृष्टि पर यह निर्भर है कि हम किस समय क्या करते है और कैसा हमारा प्रयत्न होता है ? जिस व्यक्ति ने

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग किया है, जिसने इस सचाई को समझा है कि शुभभाव की तरंग के द्वारा अशुभ भाव की तरंगो को, विधायक तरंगो के द्वारा निषेधक तरंगो को नष्ट किया जा सकता है, वह इसके लिए बहुत जागरूक हो जाता है कि जब भी मन मे कोई बुरा विकल्प उठे, मन मे बुरा विचार आए, तत्काल शुभ भाव की तरग पैदा कर दे ।

अपराध को पकड़ने का वैज्ञानिक उपकरण

काव्य-शास्त्र मे इस भाव-धारा का बहुत विशद विवेचन हुआ है। तीन भावधाराएं है—स्थायीभाव, सात्विकभाव और संचारीभाव । किस मुद्रा मे कौन से भाव जन्म लेते है ? व्यक्ति किस रूप मे प्रकट होता है ? यह सारा ज्ञात हो जाता है। श्रृगार-रस की एक मुद्रा होती है, करुण-रस की दूसरी मुद्रा होती है, बीभत्स-रस की तीसरी मुद्रा होती है, रौद्र-रस की चौथी मुद्रा होती है, शांत-रस की पाचवी मुद्रा होती है । अलग-अलग मुद्राएं होती है । प्रत्येक भाव और प्रत्येक रस की भिन्न मुद्रा होती है । रसानुभूति, भावानुभूति और मुद्रा सब जुड़े हुए है । हमारी मुद्रा का सम्बन्ध भाव से जुडा हुआ है । भय की भावधारा होती है तो एक प्रकार की मुद्रा बनती है । डरा हुआ आदमी सिकुड जाता है । चेहरा सिकुडता भी है और फैलता भी है । हमारा शरीर सिकुडता भी है और फैलता भी है । भय से सिकुडता है और हर्ष से फैल जाता है । हर्षोत्फुल्ल मुख पुष्प की भाति खिल जाता है, भयभीत मुख बिल्कुल सिकुड जाता है । ऐसा लगता है कि बिल्कुल पतला-दुबला हो गया है । भय की मुद्रा होती है, उस समय बाहर आकृति मे जो परिवर्तन होते है वे हमारे सामने स्पष्ट होते है । अन्तर् के अवयवो मे भी परिवर्तन होते है । हृदय की धड़कन तेज हो जाती है, रक्तचाप बढ जाता है, गला सूख जाता है, लार टपकाने वाली ग्रन्थिया निष्क्रिय बन जाती है । मुख सूखने लग जाता है, आमाशय और आंते सिकुड जाती हैं, भूख भी कम हो जाती है । जो आदमी रोज डरा-डरा रहता है, उसकी भूख भी कम हो जाती है । त्वचा की संवाहिता मे अन्तर आ जाता है, त्वचा सूक्ष्मग्राही बन जाती है ।

किसी आदमी ने झूठ बोला, किसी ने अपराध किया, न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया । उसे डर है कि मेरा झूठ पकडा न जाए । अब न्याय करने वालो को कैसे पता चले कि यह झूठ बोल रहा है ? आजकल कुछ यंत्रों का विकास हुआ है । अपराधी खड़ा है और यंत्र चल रहा है, गेल्वेनोमीटर की सूई घूम रही है । यंत्र लगा दिया गया है । अब उसके मन मे है, कही पकड़ा न जाऊ । भय से उत्तेजना है । अन्तर् अवयवो मे उत्तेजना पैदा हो गयी । वह गेल्वेनोमीटर वता देगा की यह झूठ वोल रहा है । वह बता देगा कि इसने अपराध किया है । यह सारा होता है त्वचा-संवाहिता के द्वारा । त्वचा

संवाहिता का मापन होता है और इस सच्चाई का पता चल जाता है। क्रोध का संवेग, भय का संवेग या दूसरा किसी प्रकार का सवेग की अवस्था में हमारी वाहर की मुद्रा भी भिन्न वनती है और भीतर की मुद्रा भी भिन्न वन जाती है। दोनो का पता लगाया जा सकता है। एक आदमी एक दिन मे शायद सैकडो-सैकडो मुद्राएं वना लेता है। यदि कोई सूक्ष्म यत्र या ऐसा सवेदनशील कैमरा हो हाइफ्रिक्वेंसी का तो प्रत्येक मुद्रा का भेद मापा जा सकता है। पांच मिनट पहिले जो मुद्रा थी, पाच मिनट वाद रहने वाली नही है। जैसे-जैसे भीतर मे भाव वदलेगा, तत्काल मुद्रा मे परिवर्तन आ जाएगा। और इसी आधार पर मुखाकृति-विज्ञान का विकास हुआ है। आकृति-विज्ञान के आधार पर मनुष्य की सारी चेष्टाओ को वताया जा सकता है, उसके भविष्य का भी निर्धारण किया जा सकता है।

भय एक सवेग है, तीव्र सवेग है। जव भय की स्थिति होती है उस समय आदमी की मुद्रा दु खद होती है और अशाति पैदा करने वाली होती है। डरे हुए आदमी के पास कोई दूसरा जाकर बैठेगा, उसके मन मे भी अचानक वेचैनी पैदा हो जाएगी। यह क्यो हुआ ? कैसे हुआ ?

जागृति का मूल—अभय

प्रमाद भय है, अप्रमाद अभय है। भगवान् महावीर ने कहा—'**सव्वओ पमत्तस्स भयं**'—प्रमाद को चारो ओर से भय घेर लेता है। सर्वत्र भय ही भय है उसके लिए। उसका एक क्षण भी अभय की दशा मे नही वीतता। उसका क्षण-क्षण भय मे ही वीतता है। वह किसी पर विश्वास नही करता। उसे सवमे अविश्वास की गध आती है। वह अपने धन की चावी किसी को भी नही सौपता। उसके मन मे भय रहता है कि कही वह धन लेकर भाग न जाए ? आप बेटे को भी नही सौपेगे क्योकी आपको भय है कि धन की चावी मिल जाने पर वेटा फिर आपको पूछेगा नही। उसे आपकी अपेक्षा नही रहेगी। आप अपनी पत्नी को भी नही सौपेगे क्योकि आप सोचते है कि मा और वेटा–दोनो मिलकर मेरी फजीहत करेंगे। मेरी टिकट कटा देंगे। आप अन्तिम समय तक भी चावी दूसरे को देना नही चाहेगे क्योकि आप मे भय है। भय प्रमाद है।

कुछ लोग इसे जागरूकता भी कह देते है। परन्तु गहराई से सोचने पर प्रतीत होता है कि इस जागरूकता के पीछे भय काम करता है। यदि यह भय न हो कि ये वाद मे मेरे साथ क्या करेगे तो यह जागृति भी नही आती। इस जागृति का कारण भी भय है। कभी-कभी हम ऐसे कमरो मे ठहरते हैं जहा अलमारियो मे लाखो का धन पडा रहता है। न पहरेदार रहते है, न चौकीदार, केवल हम रहते है। मकान का मालिक सुख की नीद सोता है। वह

जागरण नही करता, क्योकि उसके मन में भय नही है कि मुनि उस धन को निकाल लेगे । उसके मन मे डर नही है । वह जागता नहीं, सुख से सोता है । जागना क्यो पडता है, ? जागना तव पडता है जव पीछे भय हो । जहां भय नही है, वहां निश्चितता है ।

जव भय की स्थिति आ गई हो तो उससे डरना नही चाहिए । पहले यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि कोई खतरा सहसा उत्पन्न न हो। परन्तु जव खतरा पैदा हो ही गया तो व्यक्ति की प्राण-ऊर्जा इतनी सशक्त होनी चाहिए कि वह निडर होकर उस खतरे का सामना कर सके । इस प्रकार करने से खतरा आता है और चला जाता है, व्यक्ति का कुछ भी नही बिगाड पाता । दुनिया मे सव उसे सताते है जो कमजोर होता है, सशक्त को कोई नही सताता ।

अभय की निष्पत्ति—वीतरागता

जव सहिष्णुता सधती है तव अभय घटित होता है । समूचे धर्म का रहस्य है अभय । धर्म की यात्रा का आदि-विन्दु है अभय और अन्तिम विन्दु है अभय । धर्म का अथ और इति अभय है । धर्म अभय से प्रारभ होता है और अभय को निष्पन्न कर कृतकृत्य हो जाता है । वीतरागता का आरम्भ अभय से होता है और वीतरागता की पूर्णता भी अभय मे होती है ।

जो व्यक्ति भयमुक्त नही होता वह कभी धार्मिक नही वन सकता, कायोत्सर्ग नही कर सकता ।

कायोत्सर्ग का अर्थ है—अभय ।

कायोत्सर्ग का अर्थ है—शरीर की चिन्ता से मुक्त हो जाना । अभय का यह पहला बिन्दु है ।

शरीर की चिन्ता से मुक्त हो जाना, सरल-सी बात लगती है, परन्तु यह इतनी सरल वात नही है । शरीर के प्रति वने हुए भय से छुटकारा पा लेना सरल वात नही है । **'ममेदं शरीरम्'**-यह शरीर मेरा है—जिस क्षण मे यह स्वीकृति होती है, उसी क्षण मे भय पैदा हो जाता है । यह भय की उत्पति का मूल कारण है । शरीर का ममत्व भय उत्पन्न करता है । ममत्व और भय दो नही है । जहा ममत्व है, वहां भय है, और जहा भय है, वहां ममत्व है । ममत्व को छोडना भय-मुक्त होना है और भय-मुक्त होने का अर्थ है ममत्वहीन होना ।

लक्ष्य की निश्चितता से जैसे आत्म-वल वढ़ता है, वैसे निर्भयता भी बढ़ती है । निर्भयता अहिंसा का प्राण है । भय से कायरता आती है । कायरता से मानसिक कमजोरी और उससे हिंसा की वृत्ति वढ़ती है । अहिंसा के मार्ग मे सिर्फ अंधेरे का डर ही वाधक नही वनता, और भी वाधक वनते

है। मौत का डर, कष्ट का डर, अनिष्ट का डर, अलाभ का डर, जाने-अनजाने अनेक डर सताने लग जाते है, तब अहिंसा से डिगने का रास्ता बनता है। पर निश्चित लक्ष्य वाला व्यक्ति नही डिगता। वह जानता है—ऐश्वर्य जाए तो चला जाए, मैं उसके पीछे नही हूं। वह सहज भाव से मेरे पीछे चला आ रहा है। यही बात मौत के लिए तथा औरो के लिए है। मै सच बोलूगा। अपने प्रति व औरों के प्रति भी सच बोलूगा। अपने प्रति व औरो के प्रति भी सच रहूगा। फिर चाहे कुछ भी क्यो न सहना पड़े! अहिंसक को धमकियां और बन्दर 'घुडकिया' भी सहनी पड़ती है। वह अपनी जागृत वृत्ति के द्वारा चलता है, इसलिए नही घबराता। इन सब बातो से भी एक बात और बडी है। वह है—कल्पना का भय। जब यह भावना बन जाती है—अगर मैं यो चलूगा तो अकेला रह जाऊगा, कोई भी मेरा साथ नही देगा, यह अहिंसा के मार्ग मे कांटा है। अहिंसक को अकेलेपन का डर नही होना चाहिए। उसका लक्ष्य सही है, इसलिए वह चलता चले। आखिर एक दिन दुनिया उसे अवश्य समझेगी। महात्मा ईसा का जीवन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। आचार्य भिक्षु भी इसी कोटि के महापुरुष थे। दूसरो के आक्षेप, असहयोग आदि की उपेक्षा कर निर्भीकता से चलने वाला ही अहिंसा के पथ पर आगे बढ सकता है।

भय भय को उत्पन्न करता है, अभय अभय को। सदृश की उत्पत्ति का जैविक सिद्धान्त मनुष्य की मानसिक वृत्तियो पर भी घटित होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से सवेगात्मक व्यवहार और संवेगात्मक अनुभव—ये दोनो हाइपोथैलेमस से पैदा होते है। ये दोनो इमोशनल है। हमारे शरीर मे ऐसे केन्द्र है जहां से नाना प्रकार की प्रवृत्तियो का सचालन होता है। सवेग का सचालन शरीर से होता है। सारे सवेग हाइपोथैलेमस मे पैदा होते है। भय का भी यही स्थान है।

अभय का दान वही व्यक्ति दे सकता है जिसने स्वयं अभय प्राप्त किया है और जिसमे से अभय की तरंगे निकलती हैं। वे तरगे आसपास के सारे वातावरण मे अभय का विकिरण करती हैं। वही व्यक्ति अभय हो सकता है, जो अभय का दान करता है। वही व्यक्ति अभय का दान कर सकता है, जो अभय होता है।

भय बहुत बडा सवेग है। इससे छुटकारा पाना बहुत आवश्यक है। अभय के द्वारा ही भय को समाप्त किया जा सकता है।

आत्मानुशासन अनुप्रेक्षा

'संसार में जो भी दुःख है, वह शस्त्र से जन्मा हुआ है। संसार में जो भी दुःख है, वह संग और भोग से जन्मा हुआ है। नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जो जानता है, वही अशस्त्र का मूल्य जानता है। जो अशस्त्र का मूल्य जानता है वही नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जान सकता है।'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! तू आत्मानुशासन में आ। अपने आपको जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है। कामों, इच्छाओं और वासनाओं को जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है।'

'लोक का सिद्धान्त देख—कोई जीव दुःख नहीं चाहता। तू भेद में अभेद देख। सब जीवों में समता देख, शस्त्र-प्रयोग मत कर। दुःख-मुक्ति का मार्ग यही है।'

'कषाय-विजय, काम-विजय या इन्द्रिय-विजय और साम्य-दर्शन—ये दुःख-मुक्ति के उपाय हैं। जो साम्यदर्शी होता है, वह शस्त्र का प्रयोग नहीं करता। शस्त्र-विजेता का मन स्थिर हो जाता है। स्थिर-चित्त व्यक्ति को इन्द्रियां नहीं सताती। इन्द्रिय-विजेता के कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) स्वयं स्फूर्त्त नहीं होते।'

आत्मा की अनुरक्षा के हेतु है—इन्द्रियों की और मन की चंचलता। इन्द्रियां विषय को ग्रहण करती हैं और मन को अपना संवाद पहुंचाती है। मन अनुरक्ति और विरक्ति, चाहिए और नहीं चाहिए की दौड़-धूप में व्यग्र हो उठता है। पूर्वबद्ध संस्कारों के कारण आत्मा की ध्वनि दब जाती है और मन सक्रिय हो उठता है। यह असमाधि है, दुःख है। जिस साधक ने इन्हें ठीक समझकर, जानकर और देखकर समाधिस्थ बना लिया है, जिसकी इन्द्रियां अब स्वयं के अधीन हो गई हैं, जो अपना मालिक है वह आत्मगुप्त होता है।

व्यक्ति अपने प्राप्य के प्रति प्रतिपन्न प्रयत्नशील रहे तो वह अवश्य प्राप्त होता है। गति की शिथिलता चरणों को कमजोर बना देती है। अथक प्रयत्न से कुछ भी असाध्य नहीं है। साधक आत्मोन्मुख होकर बढ़ता है। वह चाहता है, लक्ष्य को हस्तगत करना, लेकिन बाधाएं उसे प्रताड़ित करती है। बाधाएं है—मोह, ममत्व, घृणा, राग, मानसिक चपलता, विषय-प्रवृत्ति आदि-आदि। साधक इन्हें परास्त किए बिना सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में ये विघ्न डालते हैं। आत्म-साक्षात्कार की एक

छोटी-सी प्रक्रिया है। उसके सहारे हम लक्ष्य तक पहुच सकते हैं। प्रत्येक साधक मे निम्न गुण आवश्यक है—

१. लक्ष्य मे दृढ-आस्था।
२ लक्ष्य के प्रति पूर्ण समर्पण।
३. लक्ष्य-प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न और दीर्घकालीन अभ्यास।
४. आसन का अभ्यास, शरीर-स्थैर्य।
५. वाक्-सयम।
६. सत् सकल्पो से मन को भावित करना।
७. चित्त-निरोध।

आत्मा वशीकृतो येन, तेनात्मा विदितो ध्रुवम्।
अजितात्मा विदन् सर्वमपि नात्मानमृच्छति।।

जिसने आत्मा को वश मे कर लिया, उसने वास्तव मे आत्मा को जान लिया। जिसने आत्मा को नही जीता, वह सब कुछ जानता हुआ भी आत्मा को नही पा सकता।

योग का अतिम अंग समाधि है। उसका अर्थ है—आत्मनिष्ठा, बहिर्भाव मे सर्वथा विलग होना। यहा परमात्मा और स्वात्मा का पूर्ण सादृश्य प्रतीत ही नही, अनुभूत होने लगता है। आत्मा की मौन ध्वनि मुखरित हो उठती है। जो परमात्मा है वह मैं हू और जो मैं हू वह परमात्मा है—यह सत्य समाधि की नीची अवस्थाओ मे भी उसे प्रतीत होने लगता है। वस्तुत परम सत्य की दृष्टि मे आत्मा और परमात्मा का स्वरूप अभिन्न है। भिन्नता व्यवहार मे है। अभेद का उपासक भिन्नता के घेरे को लाघकर अभेद मे चला जाता है। समाधि परमात्मस्थता का सर्वोच्च सोपान है। योगी वहा बहि:स्थता को सर्वथा भूल जाता है। वह क्या है? किसका है? कैसा है? कहां है? इन विकल्पो से अतीत हो जाता है। उसे अपने शरीर का भी भान नही रहता। वह आत्म-चैतन्य और आत्मानद मे इतना खो जाता है कि बाहर उसे कुछ दिखाई नही देता।

समाधि अभेद-दृष्टि से परमात्मा के साथ एकीकरण है और भेद-दृष्टि से आत्मा का स्वयं परमात्मा होना है। अभेदद्रष्टा आत्मा का परमात्मा के साथ विलीनीकरण मे व्यग्र रहते है। आत्मा का स्वतत्र व्यक्तित्व प्रकारान्तर से वहां स्वत. प्रस्फुट हो जाता है। आत्मा के एकत्व और अनेकत्व की दो दृष्टियो का समन्वय ही हमे पूर्णता का अनुभव करा सकता है।

येनात्मा साधितस्तेन, विश्वमेतत् प्रसाधितम्।
येनात्मा नाशितस्तेन, सर्वमेव विनाशितम्।

जिसने आत्मा को साध लिया उसने विश्व को साध लिया। जिसने

आत्मा को गवा दिया, उसने सब कुछ गंवा दिया।

जैन-दर्शन का सारा चिंतन आत्मा की परिक्रमा किए चलता है।

आत्मा का ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है।

आत्मा पर आस्था ही सम्यग् दर्शन है।

आत्म-प्राप्ति की प्रवृत्ति ही सम्यग् चारित्र है।

आचाराग सूत्र मे कहा है–**'जे एगं जाणई से सव्वं जाणई'**–जो एक को (आत्मा को) जानता है, वह सबको जानता है।

आत्म-विजय ही परम विजय है। आत्मा को रखते हुए देह की रक्षा की जाए, वह देह-रक्षा भी सयम है। आत्मा को गवाकर देह की रक्षा करना साधक के लिए इष्ट नही होता। आत्मा की सुरक्षा सुख का और असुरक्षा दु:ख का हेतु है। इसलिए आत्मा को जानो, आत्मा को वश मे करो, यही धर्म का सार है। भगवान् महावीर ने कहा है–

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥

सभी इन्द्रियो को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करो। अरक्षित आत्मा जन्म-मरण को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा दु:खो से मुक्त हो जाता है।

समाज-व्यवस्था में दर्शन

स्वाधीनता दर्शन की वहुत वड़ी देन है। सव लोग विचारो की स्वतन्त्रता चाहते है, लेखन और वाणी की स्वतन्त्रता चाहते हैं। स्वतन्त्रता का घोप प्रवल है। कोई पराधीनता नही चाहता। राजा शब्द इतिहास और शब्दकोश का विपय वन गया है। वैसे ही नौकर शब्द भी अतीत की वस्तु वनता जा रहा है। इसका अर्थ है कि निरपेक्षता आ रही है। सापेक्षता की कड़ी टूटने पर कोई वड़ी हानि नही; व्यवस्था न रहे तो कोई दोप नही; शासन न रहे तो कोई आपत्ति नही; यदि स्व-शासन आ जाए। स्व-शासक न शासन से शासित होता है और न शासन से मुक्त। **'कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के'**–कुशल वह है जो न वद्ध होता है और न मुक्त। एक ही व्यक्ति जो न वन्धा हुआ हो और न मुक्त हो, यह कैसे हो सकता है? शासन छोड़ा नही जा सकता। जहा शासन नही, वहा त्राण नही। कोई भी अत्राण रहना नही चाहता। इसलिए आत्मानुशासन आता है। कुशल इसलिए है कि वह परशासन से वद्ध नही है और आत्मानुशासन से मुक्त नही है।

आत्मानुशासन के मनोभाव को विकसित करना आवश्यक है। कही भी देखा जाए, ईर्ष्या है, एक-दूसरे को नीचे गिराने का भाव है और असहन-शीलता है। समाज मे जहा सापेक्षता है, वहा ऐसा क्यो होता है, यह आज

भी एक प्रश्नचिह्न बना हुआ है।

साम्यवादी शासनमुक्त समाज की कल्पना लेकर चलते है। वहा क्या होता है ? अपनी सुरक्षा और अपने प्रतिस्पर्धी का पतन। एक ओर शासन मुक्ति की कल्पना, दूसरी ओर कल्पना स्वार्थ-सघर्ष, यह दर्शन की दूरी नही तो और क्या है ?

व्यक्ति ने मान लिया, उत्कर्ष हो तो मेरा हो। मुख्य या शक्तिशाली मै ही बनू। यह व्यक्तिवादी मनोवृत्ति ही सामाजिकता को वास्तविकता नही बनने देती, किन्तु आत्मानुशासन का विकास होने पर व्यक्ति व्यक्ति रहकर भी असामाजिक नही रहता।

व्यक्ति मे जो स्व की सीमा है, उसे न समझकर वह अपने मे पर का आरोप कर लेता है। सक्रान्ति वेला मे प्रत्येक वस्तु छोटी दीखती है। विशाल वस्तु भी दर्पण मे समा जाती है। व्यक्ति भी सोचता है, सारी सृष्टि मुझमे समाहित हो जाए, पर ऐसा सोचने वाला सत्य के निकट नही पहुच पाता।

व्यक्ति समुद्र है। राग-द्वेष की उर्मिया उसमे कल्लोले कर रही है। वहा सत्य का दर्शन नही होता। उन उर्मियो से ऊपर जाने वाले की ही दृष्टि स्पष्ट हो सकती है, भीतर रहने वाले की नही।

समाजवादी प्रणाली मे भी सत्ता कुछेक व्यक्तियो मे केन्द्रित हो गई है। जनता अपने को असहाय-सी अनुभव करती है। अपना व्रत लेकर चलने वाले कभी अत्राण नही होते।

शस्त्र शब्द मे त्राण-शक्ति की कल्पना है पर वह वास्तविक नही। भीषण आयुध रखने वाले भी सत्रस्त है।

दशार्णभद्र अपना ठाट-बाट लेकर भगवान् महावीर के दर्शन के लिए चला। इन्द्र ने सेना की रचना की। राजा पराजित हो गया, त्राण अत्राण की अनुभूति करने लगा, क्योकि वह पर की सीमा मे चला गया था। अन्त में वह भगवान् की शरण मे गया और विजयी बन गया। अब इन्द्र पैरो मे आ गिरा।

जो पर-शासन मे पराजित हो गया, वह स्व-शासन मे विजयी बन गया। समाज मे रहने वाले स्व की सीमा मे चलें। इस स्व-शासन का विकास होने पर समाज मे अव्यवस्था नही होगी, किन्तु एक विशेष व्यवस्था होगी। नियम कृत्रिम नही होगा, किन्तु सहज होगा। प्रेरणा का मूल भय नही होगा, किन्तु कर्त्तव्यनिष्ठा होगी।

प्रभु की प्रार्थना कैसे करें ?

प्रार्थना का सूत्र है—तन्मयता, प्रभुमय होने की शक्ति का जागरण। जब तक तन्मयता नही आती, तब तक प्रभु से कुछ भी प्राप्त नही हो सकता।

जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ को प्रदीप्त करता है, प्रभुमय होने की शक्ति को जगाता है, उसकी प्रार्थना सफल हो जाती है। यदि ऐसा नही होता है तो वर्षों प्रार्थना करते रहने पर भी कुछ नही होता। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

वीतराग सपर्यातः, तवाज्ञापालनं परम् ।
आज्ञासिद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥

प्रभु की पूजा और प्रार्थना से भी अच्छा है कि व्यक्ति प्रभु की आज्ञा का पालन करे। वह लडका पिता का प्रिय नही होता, जो पिता को प्रतिदिन नमस्कार करता है, किन्तु पिता की आज्ञा नही मानता। पिता को वह पुत्र अच्छा लगता है, जो आज्ञा का पालन करता है, अनुशासन मे रहता है।

जो प्रभु की अनुशासना मे चलता है, आज्ञा का पालन करता है, आज्ञा के अनुसार चलता है, वही वास्तव मे प्रभु की प्रार्थना करने का अधिकारी हो सकता है। जो प्रभु के आदेशों को नही मानता, उसके विपरीत आचरण करता है, वह प्रार्थना करने का अधिकारी नही हो सकता। प्रभु का आदेश है–पवित्र रहो, किन्तु आदमी विचारों और आचरणो से गन्दा रहता है। प्रभु का आदेश है–बुरे आचरण मत करो, ईमानदार रहो, किन्तु आदमी बुरे आचरण करता है, बेईमानी मे फंसा रहता है। वैसा आदमी प्रार्थना करने के योग्य नही है। वह प्रभु के आदेशो का उल्लंघन कर प्रभुमय बनने की अपनी योग्यता खो डालता है। वैसा व्यक्ति यदि प्रार्थना करता है तो वह विडम्बना है, आत्म-प्रवंचना है।

संसार में जितने भी विशिष्ट व्यक्ति हुए है—राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा आदि उन्होंने वह रास्ता चुना जो ऊंचाई की ओर ले जाता है, मोक्ष या निर्वाण की ओर ले जाता है। इसी रास्ते पर चलकर वे महापुरुप बने।

स्वतन्त्रता और आत्मानुशासन

जनतन्त्र का मूल आधार है–स्वतन्त्रता और उसका मूल आधार है— व्यक्ति का आत्मानुशासन। जब कोई व्यक्ति अपने आप पर अपना नियंत्रण रख सकता है, तभी वह स्वतन्त्रता की लौ प्रज्वलित कर सकता है। अधिनायकता के युग मे भय और आतंक का राज्य होता है, इसलिए व्यक्ति के आत्मानुशासन का विशेप मूल्य नही होता। जनतंत्र के युग मे अभय का राज्य होता है, इसलिए उसमें आत्मानुशासन का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

हिन्दुस्तान दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र है। उसके नागरिकों का आत्मानुशासन कैसा है, इस प्रश्न पर चाहे-अनचाहे दृष्टि जा टिकती है। इसका उत्तर जो मिलता है, वह सन्तोप नही देता। शासनतंत्र के प्रमुख लोगों

में सर्वाधिक आत्मानुशासन होना चाहिए, पर वह नही है। वे अपने पद का लाभ भी उठाते है। पक्षपात की भी उनमें कमी नही है। अपने कृपापात्रों के लिए वे कुवेर है तो अप्रियजनो के लिए अनुदार भी कम नही है। वे शासन-तंत्र संभालते है जनता की भलाई के लिए और उनका संघर्ष चलता है सदा कुर्सी की सुरक्षा के लिए। आर्थिक घोटालो के अनेक आरोप उन पर लगाए जाते है और वे प्रमाणित भी हो जाते है।

आत्मानुशासन की जन्मभूमि है शिक्षा-सस्थान। वहा राष्ट्र की नयी पौध का निर्माण होता है। उसकी स्थिति भी स्वस्थ नही है। वहा विलास, फैशन और स्वच्छन्दता का इतना प्रवल अस्तित्व है कि आत्मानुशासन की एक अस्फुट रेखा भी नही दिखाई देती।

धर्म का क्षेत्र आत्मानुशासन का मुख्य क्षेत्र है। परन्तु स्वार्थो का संघर्ष वहा भी अपनी जडें जमा चुका है। इसलिए उसकी तेजस्विता भी संदिग्ध हो चुकी है। एक व्यक्ति ने मुझे वताया कि एक साधु कहता है, मेरा नाम पहले क्यों नही आया ? उसका पहले क्यो आया ? कोई कहता है, प्रमुख मैं हूं, उसे प्रमुखता क्यों दी गई ? इस वातावरण मे आत्मानुशासन की गंध ही कहा है ?

उस स्थिति का प्रत्यक्ष दर्शन है। इसके द्रष्टा अनेक लोग हैं, हम द्रष्टा रहकर स्थिति को नही वदल सकते। उसमे अपने सयम की आहुति देकर ही वदल सकते है। आज यह वहुत अपेक्षित है कि सव लोग आत्मा-नुशासन का संकल्प लें और जन-जन को यह समझाए कि स्वतन्त्रता का अर्थ है आत्मानुशासन का विकास।

तेरापंथ और अनुशासन

भगवान् महावीर ने धर्म की आराधना की और शासन का प्रवर्त्तन किया। धर्म वैयक्तिक होता है और शासन सामुदायिक। धर्म व्यक्ति के अन्तःकरण को शासित करता है, इसलिए वह भी शासन है। अनुशासन से अनेकता एकता के रूप मे शासित होती है। इसलिए व्यवहार जगत् में अनुशासन ही शासन है। इस सामुदायिक जीवन में रहकर धर्म की आराधना शासन के माध्यम से ही की जा सकती है। धर्म जैन या अजैन नही हो सकता। वह आदि से अन्त तक धर्म ही है। शासन जैन या अजैन हो सकता है।

महावीर अनुशासन-प्रिय थे। उन्होने अनुशासन को उतना महत्व दिया, जितना किसी शिष्ट संगठन मे दिया जा सकता है। इसलिए जैन विद्वान् यह गाते रहे : **'आणा जुत्तो संघो, सेसो पुण अट्ठिसंघाओ'**—जो आज्ञा से सचालित है, वह सघ है। जहां आज्ञा की मान्यता नही है, वह प्राणहीन व्यक्तियो का ढाचा मात्र है।

निश्चय-दृष्टि से धर्म सर्वोपरि है, पर व्यवहार-दृष्टि मे शासन का स्थान कम महत्वपूर्ण नही है। आचार्य ने चेतावनी की भाषा मे लिखा है :

जइ जिणमयं पवहं, मा ववहार निच्छए मुयह।
ववहार उच्छेए, तित्थुच्छेओ हवइ वस्तं ॥

यदि जिनमत को प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को पकड़ो। व्यवहार का उच्छेद करने पर शासन का उच्छेद हो जाता है। उसका विच्छेद होने पर धर्म की वैयक्तिक आराधना का मार्ग भी विस्मृत हो जाता है।

भगवान् महावीर की अनुशासन पद्धति को आचार्य भिक्षु ने बहुत विकसित किया। उन्होने अपने सघ को कसा। उतना नही जिससे वीणा का तार ही टूट जाए पर उतना अवश्य कसा जितना कसे विना स्वर की मधुरिमा ही न फुटे। उन्होंने लिखा :

'जिण सासण में आज्ञा वड़ी, आतो बांधी हो भगवंता पाल।
सहु सज्जन भेला रहे, छांदो रूंधे हो जिणवचन संभाल ॥'

जो अपनी स्वच्छदता पर नियत्रण पा सकता है, वही आज्ञा का पालन कर सकता है, वही सामुदायिक जीवन मे सफल हो सकता है।

शिक्षा और भावात्मक परिवर्तन

साम्यवादी प्रणाली मे व्यक्तिगत नियन्त्रण पर बहुत ध्यान दिया गया। पर आदमी बदला नही। जब तक हमारा ध्यान सवेगो के नियन्त्रण और अनुशासन पर केन्द्रित नही होगा, तब तक समाज मे परिवर्तन लाने की बात नही आएगी। साम्यवादी शिक्षाप्रणाली मे यह माना गया कि ज्ञान केवल जानने के लिए, विश्व का पुनर्निर्माण करने के लिए और समाज को बदलने के लिए है। किन्तु शिक्षा के द्वारा यह नही हो रहा है। इसका तात्पर्य है कि शिक्षा मे कही न कही त्रुटि है। और वह त्रुटि यह है कि शिक्षा में भावात्मक विकास की बात छूट गई है।

आज हमे इस बात पर ध्यान केन्द्रित करना है कि शारीरिक विकास के साथ बौद्धिक विकास और भावात्मक विकास का संतुलन बने। व्यक्ति शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि के स्तर पर नही चलता। वह चलता है, भाव के स्तर पर। आदमी जो कुछ कर रहा है, उसका सचालन भीतर से हो रहा है। अर्जुन ने कृष्ण से पूछा—'भगवन्! आदमी पाप करता है उसका प्रेरक, प्रवर्त्तक कौन है?' कृष्ण ने कहा—आदमी को पाप मे प्रेरित करता है काम और क्रोध। ये निषेधात्मक भाव है।

हम बुद्धि के स्तर पर समस्या को सुलझाना चाहते है, इसमे कोई

संगति नही है। दर्शन पर यह आरोप लगाया गया कि वह जानने की प्रक्रिया है, बदलने की प्रक्रिया नही है। यह सचाई नही है। जैन साहित्य मे शिक्षा का जो प्रारूप मिलता है, उसमे दो शब्द व्यवहृत हुए हैं—ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। शिक्षा ग्रहण करो और उसका प्रयोग करो। शिक्षा के साथ अभ्यास जुडा हुआ है। आज अभ्यास छूट गया, संवेग पर नियन्त्रण की वात छूट गई और अतिरिक्त भार वौद्धिक विकास पर आ गया।

भावात्मक विकास

आज अपेक्षा है कि शिक्षा के साथ भावात्मक विकास का क्रम जुडे। इसके विना हम जिस समाज की परिकल्पना करते है, वह कभी संभव नही है। वौद्धिक और आर्थिक विकास के साथ-साथ अपराध, हिंसा, आक्रामकवृत्ति, आवेग, पारिवारिक कलह आदि वढ रहे है। ऐसा क्यो हो रहा है? शिक्षा के द्वारा इन सव वृत्तियो मे कमी आनी चाहिए। पर आज ऐसा नही हो रहा है। आज के विकसित राष्ट्रो मे अपराधो की वाढ-सी आ रही है। पागलपन वढ रहे है। जहा शत-प्रतिशत लोग शिक्षित है, वहां भी ऐसा ही हो रहा है। आश्चर्य इस वात का है कि भारत की शिक्षा-प्रणाली भी वुद्धि तक सीमित है। यह वात हमने पहले ही समझ ली थी, लेकिन हम उसको नकारते चले जा रहे है, समस्या को स्वय पैदा कर रहे है। जव तक भाव-जगत् मे शिक्षा का प्रवेश नही होगा तव तक शिक्षा के द्वारा समाज को वदलने की संभावना नही की जा सकती।

पिता पुत्र को दूध का गिलास पीने के लिए देता। गिलास तो वही, पर धीरे-धीरे दूध कम होता गया। पुत्र ने दूध घटने की वात पूछी। पिता ने कहा—'अकाल है। चरने के लिए हरा घास नही मिलती है।' लडके ने कहा—मैं उपाय करता हूं। उसने गाय की आखो पर हरे रग का चश्मा लगा दिया। अव गाय को सूखा घास भी हरा दीखने लगा। वह चरने लगी। दूध वढ गया।

गाय मे भावात्मक परिवर्तन हुआ। वह घास भी अधिक खाने लगी और दूध भी अधिक देने लगी।

हम वाह्य को जानना ज्यादा पसन्द करते है। हमे कठपुतली ही दिखाई देती है जो वोलती है, नाचती है, गाती है, खेलती है। उसको जो पर्दे के पीछे संचालित कर रहा है, उस ओर ध्यान ही नही जाता। हमारे जीवन का संचालन भाव करते है, जो पर्दे के पीछे है। उनकी ओर हमारा ध्यान नही है। जव तक शिक्षा के साथ भाव-जगत् का सम्वन्ध नही जुडेगा तव तक न उपद्रव मिटेंगे, न हडताले समाप्त होगी और न अनुशासन आएगा। हम वुद्धि के शस्त्र को तेज करते जा रहे है। उसका काम है काटना। नंगी

तलवार बहुत खतरनाक होती है। उसके लिए म्यान चाहिए। म्यान मे पड़ी तलवार खतरनाक नही होती। बुद्धि को हमने नंगी तलवार तो बना डाला, अब उस पर म्यान का खोल डालना आवश्यक है, जिसमे कि सीधा खतरा न हो। यह है भाव-जगत् की प्रक्रिया।

जीवन-विज्ञान की चर्चा चल रही है। इनका अर्थ पूरी शिक्षा-प्रणाली को बदलना नही है, बौद्धिक विकास को अवरुद्ध करना नहीं है। बौद्धिक विकास जरूरी है। उसके बिना आदमी पशुता की ओर चला जाएगा। जीवन-विज्ञान का अर्थ इतना ही है कि बौद्धिक विकास के साथ भावात्मक विकास का सन्तुलन हो। यह होने पर शिक्षा प्रणाली का कार्य पूरा होता है।

भावात्मक विकास का एक पहलू है—नैतिक विकास। इसके दो रूप है—सामाजिक नैतिकता और वैयक्तिक नैतिकता। एक समाज या संस्था कुछ नियम उप-नियम बनाती है। वह ध्यान नही रखती है कि व्यक्ति की वासना, वृत्तिया, सवेग कैसे है ? विचार किए बिना वह बना देती है। यह सामाजिक नैतिकता और अनुशासन है। साम्यवादी देश का एक नैतिक-सूत्र बन गया है कि व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। उसमें व्यक्तिगत वृत्तियों, वासनाओं और सवेगो का ध्यान नही रखा गया। आखिर व्यक्ति व्यक्ति होता है। उसमे वासना है, लोभ की वृत्ति है। उनकी उपेक्षा कर व्यक्तिगत स्वामित्व का नियन्त्रण कर दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि वह आर्थिक दौड़ में पिछड़ गया। जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थ अधिक हो जाता है तो पुरुषार्थ कम हो जाता है। फलत. आर्थिक पिछड़ापन आ जाता है।

वैयक्तिक नैतिकता का अर्थ है—व्यक्तिगत सवेगो और वृत्तियो पर नियत्रण करना।

शिक्षा के साथ दोनों प्रकार की नैतिकताओं का संबंध होता है। विद्यार्थी समाज मे जीता है। उसे सामाजिक प्राणी बनना है। उसको समाज के नियमो को मानना है, राष्ट्र के नियमो का पालन करना है, क्योकि वह राष्ट्र मे रहता है। यदि शिक्षा के द्वारा उसकी यह मानसिकता नहीं बनती है तो वह अच्छा विद्यार्थी नही बन सकता। इससे भी अधिक जरूरी है संवेगों पर नियंत्रण करना। यह नैतिकता का महत्वपूर्ण बिन्दु है। यह शिक्षा के साथ जुड़े।

शिक्षा के साथ मानसिक शक्ति के विकास की बात भी जुड़ी होनी चाहिए। इस शक्ति का विकास जिस राष्ट्र, समाज या व्यक्ति में नही होता, वह कमजोर हो जाता है। जिन व्यक्तियो मे मनोबल का विकास और भावात्मक विकास—दोनों न्यून हैं, शिक्षाशास्त्री उनके विकास के लिए नई-नई पद्धतियां प्रस्तुत कर रहे हैं। आज अपेक्षा है कि सामाजिक परिवेश बदले और

वर्ग-संघर्ष, वैमनस्य आदि समस्याएं समाहित हो। इसके लिए भावात्मक विकास अपेक्षित है।

अच्छे-बुरे का नियंत्रण कक्ष

वह साधना क्या है जिसके द्वारा कपाय को मंद नही किया जा सकता है ? यह एक प्रश्न है। इस पर हम सोचेगे तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि अध्यात्म का समूचा तंत्र, अध्यात्म का समूचा उपदेश और धर्म की सारी गाथाएं कपाय को मंद करने के लिए कही गयी है। उनका एक मात्र प्रयोजन भी यही है। अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, सतोप, दान, शील–इन सबका उपदेश इसलिए है कि कषाय मंद हो। उपदेश और उपदेश का अगला चरण है–अभ्यास। यह सबने जान लिया कि कषाय को मद करने के लिए आत्म-नियंत्रण जरूरी है, अभ्यास जरूरी है, फिर प्रश्न होता है कि अभ्यास कहां से प्रारंभ करे ? सबसे पहले क्या करे ? इस प्रश्न पर धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र मे चर्चाएं हुई है तो मनोविज्ञान ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। दोनों विचारधाराओं की चर्चा कुछ मिलती-जुलती-सी है। और अनेक दार्शनिको ने इस प्रश्न पर चिन्तन किया है। मैं वर्तमान के चिंतन को पहले प्रस्तुत कर, बाद मे अतीत के चिन्तन को प्रस्तुत करना चाहूगा।

टालस्टॉय ने इस प्रश्न का सुन्दर समाधान दिया। उन्होंने कहा–'अच्छे जीवन की पहली शर्त है–आत्म-नियत्रण और आत्म-नियंत्रण की पहली शर्त है–उपवास। हमे आत्म-नियत्रण का अभ्यास उपवास से शुरू करना चाहिए।' यह है एक महर्षि का चिंतन, जो वर्तमान युग का साधक; साधु या महर्षि कहलाता था।

अब हम प्राचीन चिन्तन को लें। भगवान् महावीर ने तपस्या के बारह प्रकार बतलाए। उन्होने कहा–'आत्म-नियंत्रण का प्रारम्भ तपस्या से करो, अनशन से शुरू करो।' प्राचीन चिन्तन और वर्तमान चिन्तन–दोनों एक बिन्दु पर मिल गए। दोनो के कथन मे पूर्ण साम्य है। यह यथार्थ है। जो भी आत्मा का अनुभव करने वाले साधक है वे दो मार्ग या दो लक्ष्य पर नही पहुचते। सप्रदायो के विचार दो दिशाओ मे पहुच सकते है, दो दिशागामी हो सकते है, किन्तु अध्यात्म के विचार दो दिशागामी नही हो सकते। अध्यात्म को बाटा नही जा सकता। अध्यात्म के मार्ग से जो पहुचेगा वह एक ही बिन्दु पर पहुचेगा।

भगवान् महावीर ने कहा–'आत्म-नियत्रण मे सबसे बड़ी बाधा है भोजन। भोजन सुस्ती लाता है।' टालस्टाय ने कहा–'जो भोजन का संयम नही करता वह सुस्ती को कैसे मिटा सकेगा ? जो आलस्य, सुस्ती और प्रमाद को नही मिटा पाता, वह आत्म-नियत्रण कैसे कर पाएगा।' उन्होंने

कहा—' मारी कुछ मौलिक इच्छाएं होती हैं। यदि हम उन इच्छाओं को समा त नहीं कर सकते तो उन इच्छाओ के आधार पर पलने वाली दूसरी जटिल इच्छाओं को कभी समाप्त नही कर सकते। जीने की कामना, भोजन की कामना, काम की कामना और लड़ने की कामना—ये मौलिक इच्छाएं हैं। सभी प्राणियों मे ये बनी रहती है। यदि इन पर नियंत्रण नही पाया गया तो इनके आधार पर पलने वाली अन्य जटिल इच्छाओं पर कभी नियंत्रण नहीं पाया जा सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि साधक सबसे पहले मौलिक इच्छाओ पर विजय प्राप्त करे, उन पर नियंत्रण करे।'

मौलिक इच्छाओं मे पहली है भोजन की इच्छा। यह बहुत ही महत्व-पूर्ण इच्छा है, क्योकि हमारे शरीर की क्रियाएं भोजन के द्वारा संचालित होती हैं। हमारी प्राण-ऊर्जा भोजन से बनती है। हम जो खाते है, उसका एक रसायन बनता है और वह रसायन हमारे जीवन की प्राण-ऊर्जा बनकर शरीर-तंत्र का सचालन करता है। हमारे शरीर मे दो महत्वपूर्ण केन्द्र हैं—तैजस-केन्द्र और शक्ति-केन्द्र। तैजस-केन्द्र वह है जो खाए हुए भोजन को प्राण-ऊर्जा मे बदल देता है। शक्ति-केन्द्र वह है जो प्राण की ऊर्जा का स्रोत है, संग्रह-स्थान है। एक ऊर्जा को पैदा करने का स्थान है और एक ऊर्जा का संग्रह-स्थान है। हम जो कुछ भोजन करते है, उसका रसायन बनता है और वह प्राण-शक्ति के रूप में बदल जाता है और उसका सहयोग करता है। जैसा खाते है वैसा रसायन बनता है। अब प्रश्न होता है कि कैसा खाए ? क्या खाएं ? कितना खाएं ? इन प्रश्नो की चर्चा मैं प्रस्तुत प्रसंग मे नही करूंगा।

इस सारे चिन्तन से एक महत्व का सूत्र उपलब्ध हुआ कि हम आत्म-नियंत्रण का अभ्यास उपवास से शुरू करे, अनशन से शुरू करे, कम खाने से करे और खाने की वृत्तियो का संक्षेप करके करे और हमारी वृत्तियो को उभारने वाले रसों के संयम के द्वारा करे। यह आत्म-नियंत्रण का पहला सूत्र है।

आत्म-नियंत्रण का दूसरा सूत्र है—शरीर। हम शरीर को साधे, यह बहुत आवश्यक है। जब तक स्नायुओ को नया अभ्यास नही दिया जाता, स्नायुओ को नई आदत के निर्माण का अभ्यास नही दिया जाता, तब तक व्यक्तित्व का निर्माण नही किया जा सकता। विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक 'दि प्रिन्सिपल ऑफ साइकोलॉजी' मे मनोवैज्ञानिक ढंग से चर्चा करते हुए लिखा है—'अच्छा जीवन जीने के लिए अच्छी आदतो को बनाना जरूरी है। और अच्छी आदतो के निर्माण के लिए अभ्यास जरूरी है। यदि हम अभ्यास किए बिना यह चाहे कि हमारी आदतें बदल जाएं तो ऐसा कभी नही होगा। असफलता ही हाथ लगेगी।' उन्होने अच्छी आदतो के निर्माण के लिए कुछ

सूत्र प्रस्तुत किए है—

१. अच्छी आदते डालनी हो तो सबसे पहले अच्छी आदतो का का चिन्तन करो, अभ्यास करो और पुरानी बुरी आदतों को रोको।

२. अच्छी आदतें डालने के लिए शरीर को एक विशेष प्रकार का अभ्यास दो, क्योकि शरीर की विशेष स्थिति का निर्माण किए विना हमारी आदते अच्छी नही हो सकती। स्नायुओं को हमने जो पहले से आदते दे रखी हैं, उनको यदि हम नही वदलते तो वे एक चक्र की भांति चलती रहती है। ठीक समय आता है और मिठाई खाने की वात याद आ जाती है, क्योकि हमने जीभ को एक आदत दे रखी है। ठीक समय आता है और स्नायु उस वक्त की मांग कर लेते है। खाने की, सोचने की, विचार करने की, कार्य करने की जैसी आदत हम स्नायुओ मे डाल देते है, वैसी आदत हो जाती है। जो लोग वहुत ऊंचे मकानो मे रहते है, वे पहली वार जव सीढियो से उतरते है तव वहुत सावधानी से उतरते है। दूसरी-तीसरी वार उतरते है तो सावधानी कम हो जाती है और जव सौवी वार उतरते है तो कोई सावधानी की जरूरत नही होती। पैर अपने आप एक-एक सीढी उतरते हुए नीचे आ जाते है। चलने के साथ मन को जोडने की वहां आवश्यकता नही होती। टाइप करने वाले प्रारंभ मे अक्षरो को देख-देख कर टाइप करना सीखते है। जव वे अभ्यस्त हो जाते है, तव उनकी अगुलिया अभीष्ट अक्षरो पर पडती हैं और जैसा चाहा वैसा टाइप हो जाता है। फिर 'की वोर्ड' को देखने की आवश्यकता नही होती, क्योकि अगुलियां अभ्यस्त हो चुकी होती है। हम स्नायुओ को जैसी आदत देते है, वे अपने आप काम करने लग जाते है। उस काम की संपूर्ति मे मन की संपृक्ति आवश्यक नही होती।

इस प्रसग मे उन्होने यह भी कहा—जव आदत डालो तो कोई अपवाद मत रखो, छूट मत रखो। पूरी आदत वना दो। आज ध्यान किया। स्नायुओं को ध्यान की आदत दी। कल छोड दिया। परसो छोड दिया। चौथे दिन फिर ध्यान मे वैठे। इस प्रकार छूट देने से वह आदत नही वनती। छूट मत दो। प्रतिदिन वह कार्य करते रहो। भगवान् महावीर ने कहा—प्रतिक्रमण करना है तो वह यथासमय करना ही है। ऐसा नही कि आज किया, कल छोडा, परसो छोड़ा और फिर चौथे दिन किया। ऐसा करने पर प्रतिक्रमण की आदत कभी नही वनेगी। आज क्षमा करे, सहिष्णुता का भाव दिखाएं और कल फिर लडाई करें, फिर क्षमा करे तो क्षमा की आदत नही वनेगी। आदत डालनी है तो कोई अपवाद मत रखो जव तक कि वह आदत न वन जाए। वह स्वभाव न वन जाए तव तक कोई अपवाद मत रखो। यह है हमारा कायक्लेश का दूसरा सूत्र। कायक्लेश का सूत्र है कि आसन, प्राणायाम, कायोत्सर्ग आदि क्रियाओ द्वारा शरीर को इतना साध लो, जिससे कि वह

वही कार्य करे जिसका तुम उसे निर्देश दो। यह है आत्म-नियंत्रण का दूसरा सूत्र—शरीर को साधना।

आत्म-नियंत्रण का तीसरा सूत्र है—प्रतिसंलीनता। इसका अर्थ है—जो कुछ हो रहा है वह न होने दे, किन्तु उसे उलट दें। दो क्रम चलते है। एक है प्राकृतिक क्रम और एक है साधना का क्रम। हमें कुछ विशेष अवयव उपलब्ध है। एक है शक्ति-केन्द्र। सारी काम की चेष्टाएं इस केन्द्र से सचालित होती है। काम की सारी वृत्तियां यहा उभरती है और मनुष्य इसके सहारे अपनी काम-वासना पूरी करता है। यह प्रकृति द्वारा प्रदत्त सस्थान है काम-वासना की पूर्ति के लिए। प्रतिसलीनता के द्वारा हम इसे वदल सकते है। यह है साधना का क्रम।

आत्म-शोधन की प्रक्रिया

आत्म-नियंत्रण से परे आत्म-शोधन की चर्चा प्राप्त होती है। आत्म शोधन हुए विना आत्म-नियंत्रण का कार्य पूरा नही होता। आत्म-नियत्रण की अपनी सीमा है। आदत को वदलने के लिए, स्वभाव को वदलने के लिए, व्यक्तित्व के पूरे रूप को वदलने के लिए आत्म-शोधन आवश्यक है। यह कोरा दिशान्तरण नही है, मार्गान्तरीकरण नही है, किन्तु सम्पूर्ण रूपान्तरीकरण है। मनोविज्ञान का मार्गान्तरीकरण एक मौलिक वृत्ति के मार्ग को वदलने की प्रक्रिया है, उसको दूसरी दिशा मे ले जाने की पद्धति है। एक व्यक्ति मे काम की मनोवृत्ति है। जव वह वृत्ति उदात्त वनती है तव कला, सौन्दर्य आदि अनेक विशिष्ट अभिव्यक्तियों मे वदल जाती है। आत्म-शोधन मे दिशान्तर नही होता, किन्तु स्वभाव मूलत. वदल जाता है। उसका सर्वथा विलय हो जाता है और वह वृत्ति वदल जाती है। उसके तीव्र विपाकों, तीव्र अनुभवों [illegible] इतना मंद कर दिया जाता है कि वह आदत या स्[illegible]भाव कोई वाधा उपस्थित न कर सके।

प्रश्न है कि आत्म-शोधन की प्रक्रिया क्या है और उसके सूत्र कौन-कौन से है? अध्यात्म के साधकों ने, आत्म-द्रष्टाओं ने इस दिशा मे वहुत ही महत्त्वपूर्ण खोजें की और सौभाग्य है कि उनकी खोजे आज भी हमारे समक्ष सुरक्षित है।

उनका पहला चरण है—कायोत्सर्ग। कायोत्सग है—शरीर का शिथिलीकरण। इससे पुरानी आदतों मे परिवर्तन आता है, उनका शोधन होता है।

कायोत्सर्ग का सकल्प सूत्र है—**'तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहिकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।'**

साधक संकल्प की भाषा मे कहता है–'जो आदत या स्वभाव प्रिय नही है, उसको उत्तर करने के लिए, उसका उदात्त रूप करने के लिए प्रायश्चित्त करने के लिए, विशोधि करने के लिए, मन को निर्मल बनाने के लिए, जो व्यसन या आदत का घाव हो गया है, उस घाव को भरने के लिए, उस शल्य को मिटाने के लिए, उन बुरी आदतो के द्वारा जो मूर्च्छा के परमाणु, कर्म के परमाणु, चारों ओर शरीर और मन पर व्याप्त हो गए हैं, उन पापकारी परमाणुओं का उन्मूलन करने के लिए, मैं कायोत्सर्ग करता हू।

कायोत्सर्ग सब दुखो से मुक्ति दिलाने वाला है, स्वभावो को बदलने वाला है। जो कायोत्सर्ग की प्रक्रिया को नही जानता, वह स्वभाव परिवर्तन नहीं कर सकता।

सेल्फ हिप्नोटिज्म के विशेषज्ञो ने चार सूत्र प्रस्तुत किए है। इस पद्धति का पहला सूत्र दिया है–'आटो रिलेक्सेशन। इसका अर्थ है— स्व-शिथिलीकरण। यह कायोत्सर्ग की ही प्रक्रिया है। कायोत्सर्ग किए बिना स्वभाव-परिवर्तन की प्रक्रिया फलित नही हो सकती। चाहे स्वभाव को बदलना हो, चाहे किसी बीमारी की चिकित्सा करनी हो तो सबसे पहले कायोत्सर्ग करना होगा। यह पहला सूत्र है।

स्वभाव परिवर्तन का दूसरा सूत्र है–सेल्फ एनेलिसिस–अनुप्रेक्षा। जिसे हम बदलना चाहते है, जिस आदत मे परिवर्तन लाना चाहते हैं, उसका विश्लेषण करना होता है। उसकी अनुप्रेक्षा करनी होती है। आत्म-निरीक्षण और आत्म-विश्लेषण करना होगा। सेल्फ एनेलिसिस हिप्नोटिज्म का दूसरा सूत्र हैं। कायोत्सर्ग की पद्धति का दूसरा सूत्र है–अनुप्रेक्षा। दोनो समानान्तर रेखाओ पर चलते है। यदि मैं क्रोध को छोडना चाहता हू तो मुझे सबसे पहले अपना आत्म-विश्लेषण करना होगा कि क्रोध क्यो बुरा है ? क्यों छोड़ना चाहता हू ? यदि वह बुरा नही है तो छोड़ने की आवश्यकता नही है। क्या क्रोध बुरा है–इसका मैं विश्लेषण करू। इसका विश्लेषण करूगा, अनुप्रेक्षा करूगा, गहरे मे उतरूंगा, अपाय विचय ध्यान कि स्थिति तक पहुच जाऊगा। वहा मुझे ज्ञात होगा कि क्रोध एक प्रकार का ज्वर है। वह जब शरीर मे उतरता है तब शरीर को तोड देता है और शक्तियो को क्षीण कर देता है। क्रोध मस्तिष्क का ज्वर है, हृदय का ज्वर है और एड्रीनल ग्रन्थि का ज्वर है। वह तीनो की शक्तियो को क्षीण करता है। व्यक्ति जब क्रोध करता है तब सबसे पहला प्रहार मस्तिष्क पर होता है। मस्तिष्क ज्वर-पीडित हो जाता है। उस समय इतनी उत्तेजना और इतनी अतिरिक्त ऊर्जा खपती है कि बडी बेचैनी छा जाती है और सारा अंग-प्रत्यंग प्रतप्त जैसा हो जाता है। क्रोध का दूसरा प्रहार होता है–हृदय पर। क्रोध आते ही हृदय की धडकन बढ जाती है। उसकी गति तेज हो जाती है

और उसे अस्वाभाविक ढंग से काम करना पडता है । क्रोध का तीसरा प्रहार होता है—एड्रीनल ग्रन्थि पर । क्रोध के आते ही एड्रीनल ग्रन्थि को अतिरिक्त स्राव करना पडता है और उसकी शक्तियां क्षीण होने लगती है । इस प्रकार मस्तिष्क की शक्ति क्षीण होती है, हृदय की शक्ति क्षीण होती है और एड्रीनल ग्रन्थि की शक्ति क्षीण होती है । ये तीनो—मस्तिष्क, हृदय और एड्रीनल ग्रन्थि जीवन के महत्वपूर्ण अग है । क्रोध के कारण इन तीनो की शक्तियां क्षीण होती है । जव मस्तिष्क की शक्तिया क्षीण होती है, तव सारा नाडी-तंत्र गडवडा जाता है । जव हृदय की शक्ति क्षीण होती है तव समूचा रक्त-संचार अस्त-व्यस्त हो जाता है । जव एड्रीनल ग्रन्थि-तत्र की शक्तियां क्षीण होती है तव व्यक्ति की कर्मजा शक्ति नष्ट हो जाती है ।

ये है क्रोध के परिणाम । यह उसका विपाक-विचय है । अनुप्रेक्षा करते-करते जव मैं इन परिणामों तक पहुंचता हूं तव मुझे लगता है कि क्रोध कम करना चाहिए, उसे छोड देना चाहिए ।

फिर एक प्रश्न होता है—क्या मै क्रोध को छोड सकता हूं ? साधक इस पर विचार करता है । उस प्रश्न पर विचार करते-करते वह इस तथ्य पर पहुचता है कि मुझमे वहुत वडी क्षमता है । मैं क्रोध को छोड़ सकता हूं । इस चिंतन से वह अनुप्रेक्षा के अगले चरण पर पहुच जाता है । वह विवेक पर पहुंच जाता है ।

कायोत्सर्ग का तीसरा सूत्र है—विवेक । साधक सोचता है कि मैं क्रोध को इसलिए छोड सकता हू कि मैं क्रोध नही हूं । क्रोध मेरा स्वभाव नही है । यदि क्रोध मेरा स्वभाव होता तो मैं क्रोध को कभी नही छोड पाता । कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव को नही छोड सकता । किन्तु क्रोध मेरा स्वभाव नही है, स्वरूप नही है । मैं क्रोध नही हूं । मैं उससे भिन्न हूं । मैं ज्ञानमय हूं । मैं दर्शनमय हूं । मैं आनन्दमय हूं । क्रोध मेरे ज्ञान को आवृत करता है । क्रोध मेरे दर्शन को आवृत करता है । क्रोध मेरे आनन्द को आवृत करता है । उसे विकृत करता है । वह मेरी शक्तियो को विनष्ट करता है । इस चिंतन से वह इस विवेक पर पहुच जाता है—मैं क्रोध नही हूं और क्रोध मेरा स्वभाव नही है ।

स्वभाव परिवर्तन के तीन सूत्र है—कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा और विवेक ।

जव साधक ने यह मान लिया कि क्रोध मेरा स्वभाव नही है, मैं क्रोध नही हूं तव वात वहुत सुलझ जाती है, ज्ञान स्पष्ट हो जाता है । जव ज्ञान स्पष्ट हो जाता है, तव चरण अपने आप आगे वढने लगते है ।

भगवान् ने कहा—'पढमं नाणं तओ दया' । पहले ज्ञान स्पष्ट होना चाहिए । आत्म-सम्मोहन का एक कथन है—ज्ञान एक शक्ति है । ज्ञान जव स्पष्ट हो जाता है, तव आचरण की सुविधा हो जाती है ।

स्वभाव परिवर्तन का चौथा सूत्र है—ध्यान । दर्शन-केन्द्र पर ध्यान

केन्द्रित करे। दोनो भृकुटियो के वीच का स्थान है—दर्शन-केन्द्र। यह हमारे अन्तर्-ज्ञान का केन्द्र है। यह अन्तर्दृष्टि और सम्यग्-दृष्टि का केन्द्र है। जितना आन्तरिकज्ञान प्रकट होता है, वह इसी केन्द्र से प्रकट होता है। जव ध्यान दर्शन-केन्द्र पर स्थापित होता है, तव अपनी वात को भीतर तक पहुचाने मे वडी सुविधा हो जाती है। मनोविज्ञान मानता है कि जो वात हमारे स्थूल मन तक पहुचती है, वह कार्यकर नहीं होती। उससे व्यक्तित्व का परिवर्तन नही हो सकता। जव हम दर्शन-केन्द्र पर ध्यान करते है तव हमारा विचार, हमारा सकल्प, अन्तर्मन तक पहुच जाता है। वह संकल्प लेश्या-तन्त्र और अध्यवसाय-तन्त्र तक पहुच जाता है। परिवर्तन घटित होने लगता है। दर्शन-केन्द्र पर ध्यान करना चौथा चरण है।

स्वभाव-परिवर्तन का पाचवा सूत्र है—शरण। हमे शरण मे जाना होगा। आत्म-सम्मोहन के वर्तमान सिद्धान्त मे शरण की वात नही मिलती। वहा आत्म-शिथिलीकरण, आत्म-विश्लेपण और आटो-सजेशन की वात मिलती है, स्वत सूचना की वात मिलती है। किन्तु शरण की वात नहीं मिलती।

शरण मे जाना—वहुत महत्व का सूत्र है। प्रश्न है—किसकी शरण में जाना? और किसी दूसरे की शरण मे जाने की जरूरत नही है, अपनी ही शक्ति की शरण मे जाना है या हमे उसकी शरण मे जाना है जो अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-आनन्द और अनन्त-शक्ति का धनी है। जिससे ये चारों अनन्त प्रस्फुटित हो चुके है, उसकी शरण मे जाना है, जिसमे ये वीज अकुरित हो चुके है, पल्लवित, पुष्पित और फलित हो चुके है, उसकी शरण मे जाना है। किसी व्यक्ति-विशेष की शरण में नही जाना है। इस अनन्त-चतुष्टयी की शरण मे जाना है। जव यह शरण उपलब्ध हो जाती है तव तैजस शक्ति का विकास होता है। उस समय विद्युत् की इतनी तीव्र तरगे उपलब्ध होती है कि रूपान्तरण का क्रम प्रारंभ हो जाता है।

संवेग-नियंत्रण की पद्धति

जिस व्यक्ति का अपनी सवेदनाओ पर नियत्रण होता है वह वहुत आगे वढ जाता है। जिसमे नियत्रण की पूरी क्षमता नही होती है, एक सीमा तक होती है, वह मूल स्थिति मे कायम रह जाता है। जो संवेदनाओ का दास वन जाता है, वह अपने जीवन की दुर्गति कर वैठता है। उसका अध पतन होता है। हम इस सचाई का अनुभव करे कि सवेदनाओ पर नियत्रण किए विना जीवन मे विकास नही किया जा सकता। यदि इस स्थिति का साक्षात्कार करना हो तो पश्चिमी जगत् की यात्रा करे। वहा एक नया दर्शन मिलेगा। वहां इतना वौद्धिक विकास, वैज्ञानिक दृष्टि का विकास और धन

तथा सुख सुविधा की सामग्री होने पर भी, इन्द्रियो की उच्छृंखलता के कारण वहां की स्थिति अत्यन्त दु.खद और पीडाकारक है। अमेरिका जैसे राष्ट्र मे अनेक नगरो की यह स्थिति है कि नागरिक घर से निकलता है और साय यदि सकुशल लौट जाता है तो वह उस दिन को लाख-लाख धन्यवाद देता है। पता नही, कब उसे गोली लग जाए। यह आवश्यक नही है कि झगडा होने पर ही गोली चले। कोई झगडा नही, कोई द्वेष नही, अकारण ही गोली चली और आदमी मर गया। ऐसा पागलपन आज छा गया है कि कोई भी, कभी भी, किसी की हत्या कर डालता है। यह पागलपन आता है सवेदनाओ के अनियत्रण से।

प्रश्न होता है कि सवेदनाओ पर नियंत्रण कैसे करे? आदमी सवेदनाओ के साथ चलता है, जीता है। ऐसी स्थिति मे सवेदनाओ पर नियत्रण करना सरल बात नही है। इन्द्रिय-संवेदनाओ से परे होकर जीना साधु-सन्यासियो के लिए तो शक्य हो जाता है, पर विद्यार्थी ऐसा कर सके, बहुत कठिन बात है। आज का बच्चा प्रारभ से ही इन्द्रिय-सवेदनाओ के साथ जीता है। विद्यार्थी स्कूल से निकलता है तो सीधा ध्यान जाता है सिनेमा घरो पर। घर पर आता है तो ध्यान जाता है टी. वी. पर। कभी क्रिकेट की कोमेन्ट्री सुनता है और कभी फिल्मी गाने। उसका पूरा दिन इन्द्रियो की सवेदनाओ के सहारे बीतता है। धीरे-धीरे वह उसकी प्रकृति बन जाती है। वह परिणाम को नही जानता, विपाक को नही जानता। किंपाक का फल दीखने मे सुन्दर होता है। उसका रग-रूप मनोहारी होता है। पर उसका खाने का परिणाम होता है मृत्यु। इन्द्रिय-संवेदनाओं की भी यही स्थिति है। ये सवेदनाए प्रवृत्तिकाल मे सुखद लगती है, पर उनका परिणाम कटु होता है। कुछ कार्य ऐसे होते है जो प्रवृत्ति-काल मे अच्छे लगते हैं, पर उनका परिणाम-काल दु खद होता है। कुछ कार्य प्रवृत्ति-काल मे बुरे होते है पर उनका परिणाम सुखद होता है। भारतीय दर्शन में वही प्रवृत्ति अच्छी मानी जाती है जिसका परिणाम कल्याणकारी होता है।

इन्द्रिय सवेदनाओ का परिणाम कभी अच्छा नही होता। बच्चा इस तथ्य को नही जानता, अत. माता-पिता और शिक्षक को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे यह भान हो सके कि इन्द्रिय-संयम जीवन-विकास के लिए आवश्यक है। बालक की अवस्था परानुशासन की अवस्था है, आत्मानुशासन की अवस्था नही है। बालक जब किशोर बन जाए तब उसे परिणाम बोध देना अत्यन्त जरूरी है। संवेदनाओ पर नियत्रण पाने का उपाय है परिणाम-बोध। यानी बच्चो को विपाक का बोध कराना, प्रवृत्ति का परिणाम क्या होगा इसकी अवगति देना, बहुत जरूरी है। यह पहला उपाय है—सवेदन-नियत्रण का।

संवेदन-नियंत्रण का दूसरा उपाय है—श्वास-नियंत्रण। यही दीर्घश्वास की प्रक्रिया है। श्वास-नियंत्रण का अर्थ है—पूरा गहरा श्वास दीर्घश्वास। यह एक विद्यार्थी के लिए बहुत जरूरी है, क्योकि उसके मस्तिष्क के लिए ऑक्सीजन की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। शिक्षा का सम्बन्ध है मस्तिष्क के साथ। पूरे शरीर को जितना ऑक्सीजन चाहिये उससे तिगुना ऑक्सीजन मस्तिष्क को चाहिये। उसकी पूर्ति दीर्घश्वास के द्वारा होती है। उस स्थिति मे मस्तिष्क काफी सक्रिय हो जाएगा। वह तीव्र विकास कर पाएगा। उसकी क्षमता का विकास होगा। यदि ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में नही मिलेगा तो मस्तिष्क सुचारूरूप से काम नही कर पाएगा। विद्यार्थी मे आलस्य और प्रमाद बढेगा, उसका मन पढाई मे नही लगेगा। वह एकाग्र नही हो पाएगा। सारी गडबडिया पैदा होने लगेगी। ज्ञान-ग्रहण की शक्ति क्षीण होने लगेगी। इसलिए विद्यार्थी के लिए दीर्घश्वास का प्रयोग बहुत लाभप्रद है। दीर्घ-श्वास भी लयबद्ध होना चाहिए। लयबद्ध श्वास को दो भाषाओ मे समझाया गया है—

१ जितना समय श्वास लेने मे लगे, उतना ही समय श्वास छोड़ने मे लगे। प्रत्येक बार यही क्रम चले।

२. श्वास लेने मे कम समय और श्वास छोड़ने में अधिक समय लगे। जैसे श्वास लेने मे आठ मात्रा का समय लगता है तो छोड़ने मे उससे डेढा—बारह मात्रा का समय लगना चाहिए, जिससे कि कार्बन पूरी मात्रा मे निकल जाए। जब कार्बन पूरी मात्रा मे निकल जाता है, तब न बैचेनी सताती है और न जम्हाई।

इस प्रकार लयबद्ध श्वास मे दो बातें समान रूप से होंगी, चाहे तो श्वास लेने, निकालने मे बराबर समय लगे या निकालने मे ज्यादा समय लगे। इसका लाभ जान लेना भी आवश्यक है।

बच्चा जब १३-१४ वर्ष की अवस्था का होता है तब उसकी थाइमस और पिनियल—ये दोनो ग्रन्थियां निष्क्रिय हो जाती हैं। थाइमस ग्रन्थि के निष्क्रिय होने का परिणाम है कि उसमे सहनशक्ति, चुस्ती, प्रसन्नता, आनन्द आदि का अभाव हो जाता है। पिनियल ग्रंथि जब निष्क्रिय हो जाती है तब नियंत्रण की शक्ति कम हो जाती है। दीर्घश्वास के प्रयोग से बालक अनेक चीजो से बच जाता है। १३-१४ वर्ष की अवस्था मे यौन सक्रियता बढ़नी शुरू हो जाती है और यदि पिनियल निष्क्रिय होती है तो उनकी नियत्रण की शक्ति कम होती है और तब बालक अनेक बुराइयो का शिकार हो जाता है। यह वैज्ञानिक दृष्टि की बात है। अब हम इस पर योगदृष्टि से विचार करे। कामवृत्ति का केन्द्र है—नाभि से गुदा तक का स्थान, उपस्थ

का स्थान। यह अपान का स्थान है। जब अपान पर प्राण का नियंत्रण रहता है तब वृत्तिया शान्त रहती है। जब अपान पर प्राण का नियन्त्रण कम हो जाता है तब अधोगामी वृत्तिया सक्रिय होने लगती है।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विज्ञान की भी वही निष्पत्ति है और योग की भी वही निष्पत्ति है। दोनो की निष्पत्ति एक है।

दीर्घश्वास से अपान पर नियन्त्रण साधा जाता है। यदि विद्यार्थी को इसका ठीक अभ्यास करा दिया जाता है तो वह प्रारम्भ से ही बुरी आदतो मे नही फंसेगा। वह बुराइयो से बच जाएगा।

अनेक व्यक्ति पूछते है कि बुरे विचार बहुत आते हैं, उन्हें रोकने का क्या उपाय है ?

हम सीधा-सा उपाय बताते है कि दस मिनट तक दीर्घश्वास का प्रयोग करे। एक मिनट मे दो श्वास लें। समस्या हल हो जाएगी। केवल विद्यार्थी ही नही, कोई भी इस प्रयोग से लाभ उठा सकता है। जब-जब बुरे विचार, निम्न-वृत्तिया, वासनाए आक्रमण करती है तब दीर्घ-श्वास का प्रयोग करने से, इनको रोका जा सकता है। दीर्घश्वास इनका प्रतिरोधक है।

संवेदन-नियन्त्रण के लिए भी दीर्घश्वास बहुत आवश्यक है। आप यह न सोचे कि सवेदन-नियन्त्रण से आपकी गृहस्थी मे अन्तर आ जाएगा। आप चिन्ता न करे, बाधा नही आएगी। किन्तु इन्द्रियो की उच्छृखलता के कारण जो समस्याएं आती है, उनसे बचा जा सकता है।

सवेदन-नियन्त्रण का एक उपाय है—प्राणकेन्द्र पर ध्यान करना, यानी नासाग्र पर ध्यान करना। नाक का वासनाओं के साथ गहरा संबन्ध है। कान का और नाक का विकारो के साथ सम्बन्ध है। मस्तिष्क का एक भाग है—एनिमल ब्रेन। इसी के कारण मनुष्य में पाशविक वृत्तियां उभरती हैं। उसका संबन्ध नाक और इन्द्रियो के साथ है। प्राचीन आचार्यों ने इसका अनुभव किया और इस पर विजय पाने के लिए उन्होंने नासाग्र पर ध्यान करने की बात कही। भगवान् महावीर की ध्यानमुद्रा मे दोनो आंखें नाक पर टिकी देखी जाती है।

हम किसी भी दृष्टि से सोचें—चाहे बौद्धिक विकास के लिए, चाहे भावनात्मक विकास के लिए, चाहे जीविका की सफलता के लिए या सह-अस्तित्व की सफलता के लिए, हमे संवेदो पर नियन्त्रण करना होगा। यह एक उपाय है। अनुपाय कुछ भी नही है। जिसके पास उपाय नही है, वह हजार प्रयत्न करने पर भी सफल नही हो सकता। जिसके पास उपाय है, वह थोड़े समय मे ही सफलता की मंजिल तक पहुच जाता है। इसलिए उपाय को खोजे,

अपनाएं और मंजिल तक पहुंचें। संवेदो पर नियन्त्रण पाने का मार्ग सबके लिए कल्याणकारी है। यदि प्रारम्भ से ही विद्यार्थी को उपाय और परिणाम-बोध से परिचित करा दिया जाए तो न केवल विद्यार्थी जीवन अच्छा होगा, परन्तु उसका पूरा सामाजिक जीवन भी अच्छा होगा। इस प्रकार हम नई समाज-व्यवस्था मे विद्यार्थी को एक घटक के रूप मे प्रस्तुत कर सकते हैं, नया मार्ग और नई दिशा उसके सामने रख सकते हैं।

अनुप्रेक्षा : प्रयोग और पद्धति

अनुप्रेक्षा : प्रयोग और पद्धति

अनासक्ति की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि — २ मिनट

२. कायोत्सर्ग — ५ मिनट

३. नीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें। श्वास के साथ नीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे है। — ३ मिनट

४. विशुद्धि-केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान करें — ३ मिनट

५. शान्ति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें—

'अनासक्ति का विकास हो रहा है। पदार्थ के प्रति मूर्च्छा का भाव क्षीण हो रहा है'—इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करे फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। — ५ मिनट

अनुचिन्तन करें :—मैं पदार्थ की प्रकृति को जानता हूं। वह मेरे लिए उपयोगी है। उससे मुझे सुविधा मिलती है। किंतु सुख और शान्ति नही। ये मेरे आन्तरिक गुण है। मैं संकल्प करता हूं कि मैं पदार्थ के प्रति मूर्च्छित नही बनूगा। सदा अपने प्रति जागरूक रहूंगा। — १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न करें। — २ मिनट

सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि — २ मिनट

२. कायोत्सर्ग — ५ मिनट

३. नीले रग का श्वास लें। अनुभव करे—श्वास के साथ नीले रग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे है। — ३ मिनट

४. विशुद्धि-केन्द्र पर नीले रग का ध्यान करे। — ३ मिनट

५. ज्योति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें—

'सहिष्णुता का भाव पुष्ट हो रहा है। मानसिक संतुलन बढ़ रहा है'—इस शब्दावलि का नौ बार उच्चारण करें। फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। — ५ मिनट

अनुचिन्तन करें—

शारीरिक संवेदन

ऋतु जनित संवेदन

रोग जनित संवेदन

मानसिक संवेदन

सुख-दुःख

अनुकूलता-प्रतिकूलता

भावात्मक संवेदन :—

विरोधी विचार

विरोधी स्वभाव

विरोधी रुचि

ये संवेदन मुझे प्रभावित करते हैं, किन्तु इनके प्रभाव को कम करना है। यदि इनका प्रभाव बढ़ा तो शक्तियां क्षीण होंगी। जितना इनसे कम प्रभावित होऊंगा, उतनी ही मेरी शक्तियां बढ़ेंगी। इसलिए सहिष्णुता का विकास मेरे जीवन की सफलता का महामंत्र है। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करें। २ मिनट

मृदुता की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. हरे रंग का श्वास लें। अनुभव करें—श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। ३ मिनट

४. दर्शन-केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. शान्ति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें—

'मृदुता का भाव पुष्ट हो रहा है। अहं का भाव क्षीण हो रहा है'— इस शब्दावलि का नौ बार उच्चारण करें फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिन्तन करें—

१. व्यक्ति और वस्तु के प्रति मेरा व्यवहार विनम्र होना चाहिए।

२. सत्य के प्रति विनम्र भाव, जो मैं कहता हूं वही सत्य है, इस आग्रह से बचने का मनोभाव।

३. मुझे अपने अहं का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।

४. कृतज्ञता के लिए साधुवाद, धन्यवाद देना, सत्य प्रकृति का अनुमोदन करना जीवन की सफलता का एक आवश्यक तत्त्व है।

५. अपनी भूल के लिए खेद प्रकट करना, अप्रिय व्यवहार हो जाने

पर क्षमायाचना करना अपने आपको बड़ा बनाने का उपाय है। इन सबके प्रति मैं जागरूक बना रहूंगा। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करें। २ मिनट

अभय की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. गुलाबी रंग का श्वास लें। अनुभव करें :—
श्वास के साथ गुलाबी रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। ३ मिनट

४. आनन्द-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें 'अभय का भाव पुष्ट हो रहा है। भय का भाव क्षीण हो रहा है,'—इस शब्दावलि का नौ बार उच्चारण करें। फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिन्तन करें—

भय से विकसित शक्तियां कुण्ठित हो जाती हैं। नई शक्तियां विकसित नही हो पाती। इसलिये मुझे अभय होने का अभ्यास करना चाहिए। जो डरता है उसे सभी डराते हैं। भय आदमी को कमजोर बनाता है। कमजोर आदमी का कोई सहयोग नही करता। शक्ति के विकास के लिए अभय की साधना करूं यह मेरा दृढ़ निश्चय है। मैं निश्चित ही भय से छुटकारा पा लूगा। ५ मिनट

५. आनन्द-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर गुलाबी रंग का ध्यान करे। ३ मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

आत्मानुशासन की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. पीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें—श्वास के साथ पीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। ३ मिनट

४. शांति-केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. शांति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें—

'नियंत्रण की क्षमता बढ़ रही है। मन की चंचलता कम हो रही है'—इस शब्दावलि को नौ बार उच्चारण करें, फिर नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिन्तन करें—

अनुशासन या नियंत्रण के विना समाज नहीं चल सकता। जव आत्म-नियंत्रण सशक्त होता है तव वाहरी नियंत्रण की अपेक्षा कम होती है। आत्म-नियंत्रण की शिथिलता होने पर वाहरी नियंत्रण की मात्रा वढ़ जाती है। मैं नही चाहता कि वाहरी नियंत्रण के द्वारा मेरी स्वतंत्रता पर अकुश लगे।

'अपने पर अपना अनुशासन अणुव्रत की परिभाषा'—इस सत्य को मैने समझा है। इसलिए मै संकल्प करता हूं कि मैं आत्मानुशासन का विकास करूगा। १० मिनट

मुक्ति की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. नीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
श्वास के साथ नीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे है। ३ मिनट

४. विशुद्धि-केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. ब्रह्म-केन्द्र (जीभ) पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें—
'इच्छा का परिष्कार हो रहा है। स्वार्थभाव क्षीण हो रहा है'—इस शब्दावलि का नौ वार उच्चारण करें, फिर इसका नौ वार मानसिक जप करे। ५ मिनट

अनुचिन्तन करे—

जीवन यात्रा के संचालन का केन्द्र-विंदु लोभ है। उससे इच्छा और स्वार्थ की भावना पैदा होती है। उसकी प्रेरणा से मनुष्य सुख-सुविधा चाहता है और उसकी साधन-सामग्री का संचय करता है।

स्वार्थ सफलता की वहुत वडी प्रेरणा है, उसे सामाजिक प्राणी सर्वथा रोक नही सकता। दूसरे के स्वार्थ को हानि पहुंचाए विना अपना स्वार्थ साधने को अमान्य नही किया जा सकता है।

स्वार्थ की अति होने पर दूसरो के हितों को हानि पहुंचा कर अपना हित साधने के लिए क्रूर आचरण और व्यवहार किये जाते हैं। उस स्थिति में स्वार्थ समाज के लिए खतरा वन जाता है। असीम स्वार्थ की अवस्था में क्रोध, चौर्य-वृत्ति, स्वादलोलुपता, असत्य, इन्द्रियलोलुपता, कामलोलुपता, अपराधी मनोवृत्ति, सामाजिक कर्त्तव्य की उपेक्षा, हित-शिक्षा के प्रति प्रतिकूल भाव, कटु वचन का प्रयोग, इस प्रकार की प्रवृत्तियां जन्म लेती है। इसलिये मुझे अति स्वार्थ से वचने का अभ्यास करना चाहिए।

स्वार्थी मनोवृत्ति से अल्पकालीन लाभ होते हैं, दीर्घकालीन नही। स्व को व्यापक बनाकर तथा स्वार्थ त्याग करने वाली महान् आत्माओं का जीवन-वृत्त पढ़कर उन्हे आदर्श मानकर स्वार्थ की संकुचित सीमाओं को तोड़ा जा सकता है। १० मिनट

६. महाप्राण की ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

ऋजुता की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. अरुण रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
श्वास के साथ अरुण रग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे है। ३ मिनट

४. दर्शन-केन्द्र पर अरुण रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. दर्शन-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें—
'ऋजुता का भाव पुष्ट हो रहा है। वक्रता का भाव क्षीण हो रहा है'—इस शब्दावलि का नौ वार उच्चारण करें, फिर इसका नौ वार मानसिक जाप करे। ५ मिनट

अनुचिन्तन करे—

ऋजुता और सत्य—दोनो परस्पर जुड़े हुए है। जहां ऋजुता है वहां सत्य है और जहां सत्य है वहां ऋजुता है। ऋजुता को छोड कर सत्य की कल्पना नही की जा सकती।

ऋजु व्यक्ति ही अपने भावो को दूसरो तक सम्यग् प्रकार से पहुंचा सकते है और दूसरों के भावो को सम्यग् ग्रहण कर सकते है। ऋजु व्यक्ति ही कथनी और करनी की दूरी को कम कर सकते हैं। ऋजुता एक वहुत वड़ा मानवीय गुण है। मेरा संकल्प है कि मैं इसे अपने मे विकसित करूं। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

मैत्री की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. सफेद रंग का श्वास ले। अनुभव करें—
श्वास के साथ सफेद रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे है। ३ मिनट

४. पूरे ललाट पर सफेद रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. पूरे ललाट पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें—

'सब मेरे मित्र हैं। मैं सबके प्रति मैत्री का प्रयोग करूंगा'—इस शब्दावलि का नौ बार उच्चारण करें फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ५ मिनट

अनुचिन्तन करें—

शत्रुता का भाव भय पैदा करता है और भय शरीर एवं मन को दुर्बल बनाता है, इसलिये मुझे मैत्रीभाव का विकास करना चाहिए।

जैसे ही शत्रुता का भाव आता है प्रसन्नता गायब हो जाती है। अपनी प्रसन्नता को सुरक्षित रखने के लिए मैत्रीभाव का विकास करना चाहिए। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

धैर्य की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. पीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
श्वास के साथ पीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे है। ३ मिनट

४. प्राण-केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. प्राण-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें—
'मैं परिस्थिति को झेलने की क्षमता को विकसित करूंगा। उससे पराजित नही होऊंगा'—इस शब्दावलि का नौ बार उच्चारण करें फिर इसका नौ बार मानसिक जप करें। ३ मिनट

अनुचिन्तन करें—

जिसमें उतावलापन होता है, जो उचित समय की प्रतीक्षा करना नही जानता उसका मन अधिक चंचल हो जाता है। अधिक चंचलता मन को अस्त-व्यस्त बना देती है। इससे स्मृति और एकाग्रता की शक्ति कम होती है। इसलिये धैर्य रखना बहुत जरूरी है। मैं धैर्य रखने का अभ्यास करूंगा। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

मानसिक संतुलन की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट

२. कायोत्सर्ग ५ मिनट

३. हरे रंग का श्वास लें। अनुभव करें—
श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे है। ३ मिनट

४. दर्शन केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान करें। ३ मिनट

५. दर्शन केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करे—
'आवेश अनुशासित हो रहे है। मानसिक संतुलन बढ रहा है'—
इस शब्दावलि का नौ वार उच्चारण करें, फिर इसका नौ
वार मानसिक जप करे। ५ मिनट

अनुचिंतन करें—

अस्वस्थ मन शरीर को अस्वस्थ वनाता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मानसिक स्वास्थ्य वहुत जरूरी है। अस्वाभाविक आकांक्षा, असहिष्णुता, अवांछनीय घटना मन को असंतुलित वना देती हैं। मानसिक असंतुलन सफलता की वहुत वड़ी वाधा है। समस्या का सामना करना और मानसिक संतुलन खोना एक वात नही है। मैं समस्या से जूझते हुए भी अपना मानसिक संतुलन वनाए रखूगा। मेरा विश्वास है कि प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास के द्वारा मैं अपने मन को इतना साध लूगा कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी संतुलित रह सके।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करे। २ मिनट

स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. लयवद्ध दीर्घश्वास ५ ,,
३. भस्त्रिका ५ ,,
४. कायोत्सर्ग ५ ,,
५. संकल्प—

'मैं स्वावलम्वी रहूंगा। मैं अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करूंगा।'

अभ्यास पद्धति—शान्ति-केन्द्र पर चित्त केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए—५ मिनट उच्चारण पूर्वक, ५ मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और ५ मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप मे।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करें। २ मिनट

कर्त्तव्यनिष्ठा की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. लयवद्ध दीर्घश्वास ५ ,,
३. भस्त्रिका ५ ,,
४. कायोत्सर्ग ५ ,,
५. संकल्प—

'मैं अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहूंगा। कर्त्तव्य के वाधक तत्त्वों—

क्रोध, लोभ, भय आदि को अनुशासित रखने का अभ्यास करूंगा।'

अभ्यास पद्धति—शान्ति-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए, ५ मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और पांच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप में।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करे। २ मिनट

राष्ट्रीय दायित्व की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. लयवद्ध दीर्घश्वास ५ ,,
३. भस्त्रिका ५ ,,
४. कायोत्सर्ग ५ ,,
५. संकल्प—

'मैं अपने राष्ट्रीय दायित्व के प्रति सचेत रहूंगा। मैं वैसा कोई काम नही करूंगा जिससे राष्ट्र का अहित हो, उसकी प्रतिष्ठा कम हो।'

अभ्यास पद्धति—दर्शन-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करे। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए—पांच मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और पांच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप में।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करे। २ मिनट

सत्य की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. लयवद्ध दीर्घश्वास ५ ,,
३. भस्त्रिका ५ ,,
४. कायोत्सर्ग ५ ,,
५. संकल्प—

'मै सत्य के प्रति आस्थावान् रहूंगा। मैं असत्य नही बोलूगा, पूर्वाग्रह से बचूंगा।'

अभ्यास पद्धति—शांति-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए—पांच मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मद उच्चारण पूर्वक, पाच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप मे।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करें। २ मिनट

समन्वय की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. लयवद्ध-दीर्घश्वास ५ ,,

३. भस्त्रिका ५ ,,
४. कायोत्सर्ग ५ मिनट
५. सकल्प—

'मै विरोधी बातो और घटनाओं मे संबंध खोजने का प्रयत्न करूगा। मै सर्वांगीण दृष्टिकोण का विकास करूगा।'

अभ्यास पद्धति—दर्शन-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करे। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए—पाच मिनट उच्चारण पूर्वक, पाच मिनट मद उच्चारण पूर्वक और पांच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप मे।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करे। २ मिनट

सम्प्रदाय निरपेक्षता की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. लयबद्ध दीर्घश्वास ५ ,,
३. भस्त्रिका ५ ,,
४. कायोत्सर्ग ५ ,,
५. संकल्प—

'मैं साम्प्रदायिक कट्टरता से बचूगा। मै विभिन्न मान्यताओ और संप्रदायों के प्रति सद्‌भावना का विकास करूंगा।

अभ्यास पद्धति—आनन्द-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करे। फिर इस सकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए—पांच मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और पाच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप मे।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करे। २ मिनट

मानवीय एकता की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. लयबद्ध दीर्घश्वास ५ ,,
३. भस्त्रिका ५ ,,
४. कायोत्सर्ग ५ ,,
५. सकल्प—

'मैं मानवीय एकता मे विश्वास करूगा। मै जाति, रग आदि के आधार पर किसी को ऊंच-नीच नही मानूगा।

अभ्यास पद्धति—विशुद्धि-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करे। फिर इस सकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए—पाच मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और पांच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप मे।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सम्पन्न करे। २ मिनट

सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. लयवद्ध दीर्घश्वास ५ ,,
३. भस्त्रिका ५ ,,
४. कायोत्सर्ग ५ ,,
५. संकल्प—

'मैं शांतिपूर्ण सहवास का अभ्यास करूंगा। मैं विध्वंसात्मक और आक्रामक प्रवृत्ति का समर्थन नही करूंगा।

अभ्यास पद्धति—आनन्द-केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करें। फिर इस संकल्प की १५ मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए—पांच मिनट उच्चारण पूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारण पूर्वक और पांच मिनट मानसिक अनुचितन के रूप मे।

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सपन्न करें। २ मिनट

करुणा की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. कायोत्सर्ग ५ ,,
३. गुलावी रग का श्वास लें। अनुभव करें : श्वास के साथ गुलावी रग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे है। ३ ,,
४. आनन्द-केन्द्र पर गुलावी रंग का ध्यान करें ३ ,,
५. आनन्द-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें— 'सम्यग् दृष्टिकोण का विकास हो रहा है। करुणा का भाव पुष्ट हो रहा है।' इस शव्दावलि का नौ वार उच्चारण करें। फिर इसका नौ वार मानसिक जप करें। ५ ,,

अनुचिंतन करे—

क्रोध, अहंकार और लोभ के आवेग मनुष्य को क्रूर वनाते है। क्रूर मनुष्य दूसरों को सताता है, ठगता है, अप्रिय व्यवहार करता है। कोई नही चाहता मेरे साथ अप्रिय व्यवहार हो तो फिर मुझे दूसरों के प्रति अप्रिय व्यवहार क्यो करना चाहिए ? मुझे अच्छा जीवन जीने के लिए, सामुदायिक जीवन को शांतिमय वनाने के लिए, करुणा का विकास करना है। मैं संकल्प करता हूं कि मेरे करुणा का भाव पुष्ट होगा। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान सपन्न करे। २ मिनट

प्रामाणिकता की अनुप्रेक्षा

१. महाप्राण ध्वनि २ मिनट
२. कायोत्सर्ग ५ ,,
३. सफेद रंग का श्वास लें, अनुभव करें : श्वास के साथ सफेद रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं। ३ ,,
४. ज्योति-केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान करें। ३ ,,
५. ज्योति-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर अनुप्रेक्षा करें :
'मेरी संकल्प शक्ति का विकास हो रहा है। प्रमाणिकता का भाव पुष्ट हो रहा है। इस शब्दावली का नौ वार उच्चारण करें। फिर इसका नौ वार मानसिक जप करें। ५ मिनट
अनुचिंतन करें—

अप्रामाणिकता एक असाधारण आवेग है। यह बहुत बड़ी बुराई है। जो भावना से अपरिपक्व होता है वही अप्रामाणिक व्यवहार करता है। मैं अप्रामाणिकता की वृत्ति पर विजय पा सकता हूं। जिस क्षण अप्रामाणिक व्यवहार करने की बात मन मे आएगी उसी समय बदल दूगा। मैं अपने आपको भावित करता रहूंगा। कोई भी परिस्थिति मुझे अप्रामाणिक नही बना सकती। मेरे अपने विवेक को काम मे लूगा। आवेगो के आधार पर काम नही करूगा। मेरा दृढ़ निश्चय है कि मैं निरन्तर प्रामाणिकता का विकास करूंगा। १० मिनट

६. महाप्राण ध्वनि के साथ ध्यान संपन्न करे। २ मिनट